ॐ

धर्मसंग्रह श्रावकाचार

यत्र श्रुते त्वधीते च नराणां धर्मसङ्ग्रहः ।
जायते कविना तेन कृतोऽयं धर्मसङ्ग्रहः ॥

(मेधावी)
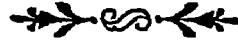
अनुवादक—
श्रीउदयलाल जैन काशलीवाल
बड़नगर निवासी.

प्रकाशक—
जैन सिद्धान्त प्रचारक मण्डली

Printed by Gauri Shanker Lal Manager, at
Chandraprabha Press, Benares
Published by Babu Soorajbhan Vakil.

धर्मसंग्रहश्रावकाचार

(भाषानुवाद)

बड़नगर निवासी

श्री उदयलाल काशलीवालके द्वारा

अनुवादित

प्रकाशक—

बाबू सूरजभानु वकील

देवबन्द (सहारनपुर)

काशी

चन्द्रप्रभा यन्त्रालय में मेनेजर गौरीशङ्कर लाल के प्रबन्ध से छपा, बाबू सूरजभानु वकील ने छपवाया।

सन् १९१०

प्रथम संस्करण १००० | वीर निर्वाण २४३६ | न्योछावर २) रु.

प्रस्तावना ।

पाठक महोदय! आज आप महानुभावों की सेवा में एक अद्वितीय ग्रन्थरत्न सभाषानुवाद समर्पित करता हूं। इस ग्रन्थरत्न का "धर्म-संग्रह श्रावकाचार" अभिधान है। इस रत्न के रचयिता श्रीयुत्पण्डित कुलतिलक—मेधावी हैं। मुझे आप के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहना नहीं है। क्योंकि—ग्रन्थावसान में आप स्वयं अपने परिचय से परिचित करागये हैं। और न मेरे पास कुछ सामग्री ही है जिस से आप के समयादि का विशेष परिचय मिलसके। इसलिये इस विषय में विश्राम लेकर अनुवाद सम्बन्ध में जो कुछ दो चार बातें कहना है उन्हें ही लिखे देता हूँ।

"न सर्वजनः सर्वज्ञो भवति"

इस नीति के अनुसार भूल होना मनुष्यों के लिये साधारण बात है। इस पर यह अभिमान किसी को नहीं हो सकता कि—हमारा लिखा हुआ सर्वथा विगतदोष ठहरैगा। इसलिये सब से पहले मुझे यह कहना है कि–इस ग्रन्थ का जो मैंने अनुवाद किया है वह मुझ सरीखे मतिविहीन बालक के लिये बहुत ही गुरु कार्य्य था। परन्तु जब किसी तरह इस कार्य्यारंभ में हाथ डाल ही दिया तो उसकी समाप्ति होना भी जरुरी है। मैंने जिस उत्साह से इस ग्रन्थ का अनुवाद लिखना प्रारंभ किया था अपनी समझ के अनुसार उसी उत्साह से मैं उसे पूर्ण नहीं कर सका। इसका पहला कारण इसी बीच में मेरी शारीरिक व्यवस्था का अत्यन्त बिगड़ जाना है। दूसरे प्रकाशक महोदय की कुछ त्वरा, इतः पर भी प्रधान हेतु प्रयत्न करने पर भी ग्रन्थ की दूसरी प्रतिकी उपलब्धि न होना! मुझे यह लिखते हुवे बहुत खेद होता है कि—जिन महापुरुषों के पास इस ग्रन्थ की दूसरी प्रति है उनसे भी प्रार्थना की तौभी ग्रन्थ का भेजना तो दूर रहै उत्तर तक के भी दर्शन उपलब्ध नहीं हुवे। हा! दौर्भाग्य!! तेरे रहते हुवे शुभ कहां? मैं नहीं कह सकता—जैनजातिका इस अविश्वास रूप अगाध पङ्क से कब निर्गम होगा? यदि यह बात भिन्नधर्मी के लिये

होती तो मुझे इतना खेद नहीं होता जितना खास अपने भाई के साथ प्रतारणा करने से हुवा। यही सव कारण मेरे अनुत्साह होने में सहायक थे। जब कहीं २ अशुद्धि, अपरिचित शब्द तथा अमिष्ट शब्द आजाते उस समय मैं नहीं कह सकता कि मेरे आत्मा में किस २ प्रकार की दु:ख लहरें लहराने लगती! परन्तु उनके शान्त करने का मेरे पास उपाय ही क्या था? जिससे उन्हें मैं अपने आत्म रत्नाकर में न उठने देता। इसी से इस संस्करण में कितनी अशुद्धियें ठीक करने से रह गई हैं तथा कितनेही ऐसे शब्द रह गये हैं जो ठीक २ मेरी समझ मे नहीं आये। इसी से उनका अर्थ भी नहीं करसका। परन्तु ऐसे स्थल वहुत थोड़े हैं। यदि आप लोगों की कृपाबुद्धि से द्वितीय संस्करण का सुसमय मिला तो इसे सर्वाङ्ग सुन्दर वनाने का प्रयत्न किया जायगा।

दूसरी वात हमें अपनी आधुनिक भाषा के सम्वन्ध में लिखना है वह यह है—यह ग्रन्थरत्न जितना सनातन देवभाषा (संस्कृत) मे हृदयहारी अवभासित होता है भाषा मे तो उसका सहस्रांश भी नहीं हो सकता। यह अनुभव उनलोगों को अच्छी रीति से है जो लोग संस्कृत भाषा के विज्ञ हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि देश भाषा अनुपयोगी है। नही! मेरा तो सिद्धान्त है कि—इस समय मे जितना देशभाषा से जीवों का हितसाधन हो सकता है उतना और भाषा से शायद ही हो! इसलिये जिनलोगोंका विचार प्राचीन ग्रन्थो के देशभाषा मे अनुवादित होने की ओर खिंचा है उसे मे वहुतही उत्तम समझता हूं। प्रत्येक पुरुष को सुशिक्षित वनाने में यही एक श्रेयस्कर और उत्तम उपाय है। अस्तु। प्रकृत विषय पर आइये—कितने महापुरुषो की तो देशभाषा भी ऐसी होती है जो लोगों के मनको सहसा अपनी ओर झुका लेती है। परन्तु वह वात हमारी भाषा में आना कोसों दूर है। इसलिये इस ग्रन्थकी भाषा कहां तक रुचिकर होगी यह मुझे आशा नहीं होती! और न मैं हिन्दी जानता ही हूं जो आपके सन्तोष लायक लिखकर अपने आत्मा में भी सन्तोष मानलूं। अस्तु रहे! जो कुछ मुझे छोटे मोटे वाक्य इधर उधर जोड़ना आते हैं उन्हें ही लिखकर आप के सामने उपस्थित किये है। ये बुरे हैं? या अच्छे? इनका भार पाठक लोगो के ऊपर है वेही निश्चय करें।

थोड़ी देर के लिये यदि मैं अपने आत्मा में यह विश्वास भी करलूं कि—मुझे हिन्दीभाषा का लिखना ही नही आता तो क्या मुझे इसका परिशीलन छोड़ देना चाहिये ? नही ! मैं जहां तक विचार करता हूं मुझे यही प्रतीति होता है कि—ये सब बातें परिशीलन (अभ्यास) के आधीन हैं। जब इसीतरह परिशीलन होता रहेगा तो क्यों न मैं अपने मनोभिलषित को प्राप्त होऊंगा ? किन्तु अवश्य होऊंगा !

क्योंकि—

तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः साध्यते हि समीहितम् ।

इसलिये मैं अपने आत्मा को ऊपर के मिथ्या विश्वास रूप गर्त्त में डालना पसन्द नहीं करता किन्तु—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः

इस नीति के अनुसार प्रत्येक मनुष्यों को अपने मनोभिलषित की पूर्ति के लिये हर वक्त प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

तीसरे—कितने श्लोक ऐसे आजाते हैं जो बुद्धि में आजाने पर भी उनका विभक्त्यर्थ लिखना दुष्वार हो जाता है। इसी से इस ग्रन्थ के अनुवाद में विभक्त्यर्थ पर विशेषतया लक्ष्य न देकर भावार्थ मात्र लिखा गया है। प्रकाशक महाशय का भी कहना था कि भावार्थ मात्र आना चाहिये—जिससे भाषा सर्व साधारण समझ सकै। मैंने अपने से जहांतक होसका प्रचलित शब्दों को ही उपयोग में लिये हैं। संस्कृत शब्दों का विशेष आडम्बर नहीं होने दिया है तौभी यह नही कहसकता कि—यह भाषा सर्व प्रीतिकर होगी। अनुवाद सम्बन्ध में मै ऊपर ही प्रार्थना करचुका हूं कि—इस अनुवाद में प्रधानता से भावार्थ मात्रका आश्रय लिया गया है इसलिये कोई यह आक्षेप न करैं कि—ऐसा क्यों हुआ ?

इसका हेतु भी ऊपर बता चुका हूं । इतःपर भी जिन्हें यह अनुवाद अनुराग जनक न हो उनसे मेरी सविनय विज्ञप्ति है कि-वे महाशय प्राइवेट रीति से मुझे अपनी करुणा बुद्धिका भाजन बनावैं—जिससे मुझे आगामी पूर्ण खयाल रहै।

श्रावकाचारसम्बन्धी कितने ग्रन्थ हिन्दी भाषा में मुद्रित होकर

प्रकाशित भी हो चुके हैं। परन्तु मैं जहांतक समझता हूं इतना सुविस्तर ग्रन्थ अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। ग्रन्थकार ने प्राचीन महर्षियों के ग्रन्थों से सार खींच २ कर इसे बहुत ही सुबोध और सुविस्तर बनाया है। इस ग्रन्थको श्रावकाचारों में सुमहत्समझकर इसका देशभाषा मे अनुवाद होना आवश्यक समझा गया। इसी से प्रकाशक महोदय ने यह भार मेरे सुपर्द किया। यद्यपि ऐसे महान ग्रन्थरत्नका अनुवाद करना मुझ सरीखे स्तोकबुद्धि वालों के लिये अत्यन्त सुदुष्कर था परन्तु उस सर्व शक्तिशाली जिनराज के अङ्घ्रिपङ्कज की भक्ति वशसे किसी तरह पूर्ण हुआ ही। मैं यह नहीं कहताकि—अब इसमें किसी प्रकार की त्रुटि न रही होगी किन्तु अवश्य रही है। इसलिये पाठक महानुभावों से सविनय विज्ञप्ति की जाती है—उन्हें जहां कहीं किसी प्रकारकी अशुद्धि अथवा अर्थ विपर्यास दृष्टिगत हो पड़े तो मुझे अनुग्रह पूर्वक सूचित करें। मैं उनका बहुतही आभार मानूंगा !

इसग्रन्थ के प्रूफ देखने के समय मेरी असावधानता से " ब और व " की, कहीं २ संस्कृत श्लोकों के पदच्छेदों की ठीक २ भिन्नता न होना, तथा अनुस्वार पर सवर्ण का न होना आदि कितनी अशुद्धियें रह गई हैं परन्तु उन्हें विशेष बाधक न समझकर शुद्धिपत्र मे नहीं सुधारी हैं। पाठक क्षमा करें।

क्योंकि—

सन्तः पारार्थ्यतत्पराः

अलमिति पल्लवितेन

भवदीय—

उदयलाल जैन

काशलीवाल

बनारस सिटी
१। २। १९१०।

❀ श्रीवीतरागाय नमः ❀

श्रीधर्मसंग्रह श्रावकाचार

(भाषानुवाद)

मङ्गलाचरण

(१)

इस अपार जगजलधि में निरखि मग्न भविवृन्द ।
दयाधीर ! शयपद्म ग्रह करहु पार जिनचन्द ॥

(२)

कलिलतपनके तापसे निरखि तप्त जगवृन्द ।
निज पद सुरतरु छाय से शीतल करहु जिनन्द ॥

(३)

तिमिरअशुचिसे लिप्त इह है जग श्री जिनराज ।
गुणरत्नाकरनीरसे करहु विमल मुनिराज ॥

(४)

मिथ्यादर्शननृपतिवश जिन ! जन को अवलोकि ।
निजदर्शन शासित करहु दें हम तुव पद धोकि ॥

(५)

पावन परम दयाल जिन ! वस मम हृदय सदैव ।
तुव प्रभाव सब पूर्ण है शुभ अभिलषित सदैव ॥

ग्रन्थकार का

मङ्गल

श्रियं दद्यात्स वो देवो नित्यानन्दपदप्रदाम् ।
यस्यानन्तानि दृग्ज्ञानवीर्यसौख्यान्यनन्तवत् ॥

अर्थात्—क्षुधा पिपासा रोग शोक चिन्ता आदि अठारह प्रकार के दोषों से रहित श्री जिन भगवान् अविनाशीक आनन्द स्थान को देने वाली लक्ष्मी को तुम भव्य लोगों के लिये प्रदान करें। जिस जिनवर के दर्शन, ज्ञान, वीर्य, और सुख ये चारों आकाश के समान अनन्त है। भावार्थ—जिस तरह आकाश का कभी न अन्त हुआ न होगा उसी तरह यह अनन्त चतुष्टय जिनदेव में सदैव रहैगा। जैसा अग्नि का उष्ण धर्म के साथ में सम्वन्ध है वैसाही आत्मा में अनन्त ज्ञानादिकों का सम्वन्ध समझना चाहिये। विशेष इतना है कि संसारी आत्मा को कर्मों के सम्वन्ध से ढके रहने से ये व्यक्त नहीं होते और जिनदेव कर्मों का आवरण दूर कर देते हैं इसलिये उनमें इनका प्रादुर्भाव हो जाता है। परन्तु भस्म से ढकी हुई अग्नि के समान सत्ता की अपेक्षा संसारी आत्मा में भी ये विद्यमान हैं। इस विशेषण से जो श्वेताम्बरी केवली भगवान् को कवलाहार की कल्पना करते हैं उनका निराकरण सूचित होता है क्योंकि केवली भगवान् को आहार की कल्पना करने से उनके अनन्त शक्तित्वपने का व्याघात होता है। आहार की अभिलाषा उसी समय जाग्रत होगी जिस समय शरीर की शक्ति में न्यूनता होगी। यह विषय संसारी लोगों के उदाहरण से स्पष्ट मालूम पड़ता है।

दूसरे इसी श्लोक में लक्ष्मी के विशेषण में नित्य पद पड़ा हुआ है। उससे ग्रन्थकार का यह अभिप्राय लक्षित होता है कि जो लोग मुक्ति के स्वरूप की कल्पना ऐसी करते हैं कि मुक्ति में गया हुआ जीव संसार में वापिस फिर भी चला आता है उनके निराकरण के लिये है। और इससे जिन शासनका सिद्धान्त भी मालूम पड़ जाता है कि जिनदेव ने मुक्ति अवस्था को नित्य मानी है। मुक्ति मे गया हुआ जीव संसार मे फिर नहीं आता। मुक्ति शब्द का अर्थ ही यह है कि

संसार के भ्रमण से जीवों को छुटाकर सदा के लिये अपने वास्तविक स्वभाव में स्थिर करदे। यदि यह अर्थ ठीक न माना जावे तो फिर उसे मुक्ति क्या कहना चाहिये उसे तो एक तरह जीवों का साधारण निवास कहना चाहिये जो मन में आया जब चले गये और दिल में आया तबही लौट आये। ऐसा जिन लोगों का सिद्धान्त है वह सर्वथा असंगत है। इसीलिये महर्षि लोग मुक्ति का स्वरूप यों कहते हैं कि—

निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरमोक्ष इति।

उक्त दोनों विषयों में जिन लोगों को विशेष जानने की इच्छा हो उन्हें जैन शास्त्रों का शरण लेना चाहिये।

अङ्गरूपाप्यनङ्गा या सारदापि विशारदा।
अर्हद्वक्त्राब्जसंभूता सा गीस्तान्मे सदात्मनि॥

अर्थात्—शरीर के धारण करनेवाली होकर भी शरीर से रहित, और सार के देनेवाली होकर भी सार के नही देने वाली, ऐसी जिन देव के मुख कमल से उत्पन्न हुई भारती (जिनवाणी) निरन्तर मेरे हृदय में निवास करो।

भावार्थ—इस श्लोक का पूर्वार्द्ध विरोधाभास नामक अलङ्कार का अनुकरण करता है। साहित्य शास्त्र में विरोधाभास नामक एक अलङ्कार होता है। विरोधाभास उसे कहते हैं जो वास्तव मे विरोध हो नहीं और विरोध के समान मालूम पड़ता हो। जैसे जीवन्धर चम्पू में किसी स्थल पर आया है कि "सुरेशवन्द्योप्यसुरेशवन्द्यः" अर्थात्-जिन भगवान् इन्द्र से नमस्कार करने के योग्य होने पर भी असुरेशवन्द्य हैं। अर्थात् इन्द्र करके वन्द्य नही हैं। परन्तु यह अर्थ सम्भव नहीं होता क्योंकि जिनदेव तो वन्दनीय ही हैं। वे अवन्द्यनीय नही हो सकते इसलिये असुरेशवन्द्य इस पद का असुर जाती के देवताओं के इन्द्र से वन्द्यनीय है ऐसा अर्थ करना चाहिये। इसी तरह ऊपर के श्लोक को समझना चाहिये। अर्थात्—जो जिनवाणी शरीर सहित होगी वह शरीर रहित तो नहीं हो सकती यह विरोध आता

है इसलिये विरोध के दूर करने के लिये यह अर्थ करना चाहिये कि एकादश अङ्गात्मक होने पर भी मूर्त्तिमान शरीर के धारण करने-वाली नहीं है। इसी तरह "सारदापि विशारदा" इस वाक्य का भी उत्तम २ पदार्थों के ज्ञान कराने वाली होने पर भी विशारदा (विच-क्षणा) है यही अर्चनीय भारती हमारे हृदय में निवास करे।

षट्त्रिंशद्गुणरत्नानि दधते ये मुनीश्वराः ।
समुद्रा इव गम्भीरास्ते सन्तु मम सिद्धिदाः ॥

अर्थात्—ग्यारा अङ्ग चतुर्दश पूर्व प्रभृत्ति छत्तीस प्रकार के गुणों के धारण करनेवाले और समुद्र के समान गम्भीर—भावार्थ जिस तरह समुद्र की गहराई जानने में नहीं आती उसी तरह जिन के गुण अथाह हैं। उनका परिमाण ध्यान में आना मुश्किल ही नही किन्तु नितान्त असम्भव है। अथवा जैसे समुद्र गम्भीरभाव को धारण किये हुए हैवैसेही गम्भीर हैं। कितने उपसर्गादिकों के आने पर भी सुमेरु के समान निश्चल रहते हैं। वे मुनिराज मुझ वराक जन्तु केलिये मुक्ति के देने वाले हों। अथवा यह अभिप्राय भी निकलता है कि सिद्धि (आरम्भ किये हुवे इस ग्रन्थ की निर्विघ्न परि समाप्ति) के देने वाले हों। क्योंकि नीति शास्त्रके जानने वालों का यह कथन है कि "श्रेयसि बहु विघ्नानि" कल्याण के काम में बहुत विघ्न आते हैं इसलिये वे मुनिराज उन विघ्नों के नाश के कारण हों।

रत्नत्रयं स्तुवे नित्यं भेदाभेदात्मकं द्विधा ।
मृत्युत्पत्तिजराक्लेशसप्तार्चिर्वारिवाहकम् ॥

अर्थात्—जनम जरा मरणादिकों से होने वाली जो दुःख रूप वन्हि उसके नाश करने के लिये मेघ के समान और निश्चय तथा व्यवहार रूप से दो प्रकार ~~का~~ जो रत्नत्रय है उसकी निरन्तर में स्तुति करता हूं। भावार्थ जिस तरह जल अग्निका नाश करनेवाला होता है उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्न-त्रय संसार के नाश का कारण है और मोक्ष सुख का देनेवाला है।

आसन्ये कवयः पूर्वं कुशसूच्यग्रबुद्धयः ।
सत्कवित्वमरुन्मार्गे ते मे सन्तु पदप्रदाः ।

अर्थात्—दर्भ के अग्रभाग के समान अतिशय तीक्ष्ण बुद्धि के धारण करने वाले जो मुनिराज पूर्व काल में हुवे हैं वेही प्राचीन मुनिलोग (कविश्रेष्ठ) सत्कवित्व रूप गगन मार्ग में मेरे लिये स्थानके देने वाले हों। इस श्लोक से ग्रन्थ कर्त्ता अपना लघुत्व सूचन करते हैं अर्थात् ग्रन्थों का निर्माण करना बहुत कठिन है इसलिये मुनिलोग हमारी सहायता करो।

कर्त्ता महापुराणस्य जीयाच्छ्रीजिनसेनकः ।
तस्यैवोत्तरखण्डस्य गुणभद्रोपि नन्दतात् ॥
स्वामी समन्तभद्राख्योऽकलङ्को निष्कलङ्ककः ।
विद्यानन्दी जनानन्दी जयन्तु कविताकृतः ॥

अर्थात्—श्री महापुराण के पूर्व भाग के रचने वाले भगवाज्जिनसेन महर्षि और उसी महापुराण के उत्तर खंड के बनाने वाले भगवद्गुणभद्राचार्य जय को प्राप्त हों। श्रीमत्स्याद्वादकेशरी भगवान्समन्तभद्र, भट्टाऽकलङ्क देव, निष्कलङ्क और लोक को आनन्द के देने वाले तथा उत्तम २ ग्रन्थ रत्नों की रचना करने वाले विद्यानन्दी स्वामी भी जय को प्राप्त हों।

स सज्जनः किमभ्यर्थ्यो यःप्रकृत्योपकारकः ।
बद्धोऽञ्जलिर्विधोः केन सन्तापच्छेदहेतवे ॥

अर्थात्—जो सज्जन लोग स्वतः स्वभाव दूसरों के उपकार के करने वाले होते हैं वे किस लिये प्रार्थना किये जांय। सन्ताप के नाश के लिये कोन चन्द्रमा के लिये हाथ जोडेगा।

भावार्थ—जिस तरह चन्द्रमा बिना प्रार्थना किया हुवा ही आताप को दूर करता है उसी तरह सज्जन पुरुषों का भी स्वभाव समझना चाहिये।

मन्ये तं दुर्जनं सन्तं यद्भयान्ना न दोषकृत् ।
जनो जल्पतु यत्किंचित्स्वैरं कनकमत्तवत् ॥ ९ ॥

अर्थात्—मैं उन दुर्जनों को भी सज्जन समझता हूँ जिनके भय से यह मनुष्य दोषों के छोडने में प्रयत्न करता है। उन दुर्जनों

के विषय में धतूरे के खाने से मत्तहुवे पुरुषों के समान लोक कुछ भी क्यों न कहैं। भावार्थ-दुर्जनों को भी सज्जन कहना चाहिये जिनके भय से लोक पापों के करने में प्रवृत्त नहीं होते।

सागाराणां सरागाणां यतिधर्मे शिवप्रदे।
यथाविधि यथाशक्ति कुर्वेऽहं धर्मसंग्रहम् ॥१०॥

अर्थात्—राग सहित ग्रहस्थों तथा मुनियों के धर्मविषय में यथा शास्त्रानुसार अपनी शक्ति के अनुकूल धर्म संग्रह करता हूँ। भावार्थ—प्रधान तथा ग्रहस्थ धर्म और गौणता से मुनिधर्म का इस धर्म संग्रह नामक शास्त्र में वर्णन करूंगा।

यत्र श्रुतेत्वधीते च नराणां धर्मसंग्रहः।
जायते कविना तेन कृतोऽयं धर्म संग्रहः ॥११॥

अर्थात्—जिस धर्म संग्रह शास्त्र के सुनने से तथा पढ़ने से मनुष्यों को धर्म का संग्रह होता है। भावार्थ—अपने अनुकूल धर्म का बोध अच्छी तरह से हो जाता है। इसी से ग्रन्थकार ने इस धर्म संग्रह नाम शास्त्र को रचा है।

अब ग्रन्थ के अवतरण का कारण कहा जाता है—

मध्यलोकोस्त्यऽसंख्यातद्वीपसागरसंयुतः।
तन्मध्ये वलयाकारो जम्बूद्वीपः समेरुकः ॥ १२ ॥

अर्थात्—असंख्य द्वीप तथा समुद्र से युक्त इस मध्य लोक में सुमेरु पर्वत से मंडित गोलाकार जम्बूद्वीप है।

लक्षयोजनविस्तारे तत्र क्षेत्राणि सप्त वै।
भरतादीनि तत्सीम्नि षण्णगा हिमवन्मुखाः ॥१३॥

अर्थात्—एक लाख योजन वाले उस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यंक, हिरण्य, और ऐरावत ये सातक्षेत्र हैं। इन सातों क्षेत्रों की सीमा के सूचन करने वाले छह कुलाचल पर्वत एक एक क्षेत्र की सीमा में एक एक हैं।

अवाच्यां भरतक्षेत्रं भाति षट्खंडतां गतम् ।
तत्रार्यखंडके खंडे देशोऽस्ति मगधाभिधः ॥१४॥

अर्थात्—जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में छह खण्डों में विभक्त भरतखण्ड है। उसी भरतखंड के आर्यखण्ड में मगध नाम का देश है।

वहन्ति सरितो यत्र निष्पङ्काः कमलालयाः ।
सहंसाः सरसागाधाः सत्कुलस्यैव वृत्तयः ॥१५॥

अर्थात्—उसी मगध देश मे कमल और हंसों से भूषित तथा निर्मल और मधुर जल की भरी नदियें उत्तम कुल की वृत्ति के समान बहती हैं। (चारित्र)

वनानि यत्र रम्याणि सच्छायैः सफलैर्नगैः ।
श्रमणालिसमासीनैः सत्कुलानीव सज्जनैः ॥१६॥

अर्थात्—जहां पवित्र छाया, उत्तम २ फल तथा मुनिराजों के समूह से विराजमान पर्वतो से शोभित मनोहर वन हैं। जैसे उत्तम पुरुषों से शोभित कुल होते हैं।

धातूनामाकरा यत्र रत्नानां च चकासिरे ।
लोकपुण्यैरिवायाता निधयश्चक्रवर्त्तिनः ॥१७॥

अर्थात्—जिस देश में सुवर्ण, चांदी आदि धातु तथा नाना प्रकार के रत्नों की खानियें हैं। यों कहो कि लोकों के बड़े भारी पुण्य के उदय से आई हुई चक्रवर्त्ति की निधियें हैं।

क्षेत्रेषु प्रेर्यमाणोऽपि सरसाः सालमञ्जरीः ।
आस्वादयति कीरोऽत्र मुग्धोऽपश्यन्स्वबन्धनम् ॥१८॥

अर्थात्—जिस देश में खेतकी रखवालियों से उडाया हुआ भी तोता अपने बन्धनको न देखकर धान्य के हरे २ अंकुरों को सानन्द भक्षण करता है।

पाययन्त्यध्वगान् गीत्वा वालिकाजलमेकशः ।
पुनस्तास्ते न मुञ्चन्ति केतकीर्भ्रमरा इव ॥१९॥

अर्थात्—जिसदेश की बालिकायें मार्ग में चलने वाले लोगों को मधुर २ गीतों को गाकर जल पिलाती हैं। इसीसे पथिक लोग भी फिर उन्हे नहीं छोड़ते हैं। भावार्थ-उस स्थान के छोड़ने की इच्छा नही करते है। जैसे भ्रमर केतकीके फूलों के संग को छोड़ना नही चाहते।

ग्रामेषु यत्र गायन्त्यो नृत्यन्तश्च नवस्त्रियः।
सरसं गजगामिन्यो मोहयन्ति मुनीनपि ॥२०॥

अर्थात्—जिस देश के छोटे २ ग्रामों में गानेवाली, नृत्य करने वाली और विलास सहित गज के समान धीरे २ गमन करनेवाली नवीन स्त्रियें मुनियों के चित्त तकको मोह लेती हैं। भावार्थ—इस देश को सुन्दर स्त्रियों की पराकाष्ठा का खजाना कहना चाहिये।

वर्णनेनालमेतस्य विभूतेरतिविस्तृतेः।
यत्रावतारमीहन्ते स्वर्गादपि दिवौकसः ॥२१॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिशय प्रचुर सम्पत्ति शालि इस देश के वर्णन करने की हमारे में शक्ति नही है। इसलिये अधिक क्या कहे जिस देश के लिये देवता लोग भी स्वर्ग से अवतार लेने की इच्छा करते हैं। उसे स्वयं समझ लेना चाहिये कि वह कितना सुन्दर होगा। भावार्थ—यह देश स्वर्ग से भी मनोहर है।

तत्रास्ति सद्गृहं सारं नाम्ना राजगृहं पुरम्।
आदत्तेऽन्यपुराणां यत्करं सर्वसुखकरम् ॥२२॥

अर्थात्—उस मगध देस में सुन्दर और अच्छे २ गृहों से अलंकृत राज गृह नामक नगर है। जो नगर और नगरों से बहुत थोड़े कर भाग को लेता है। भावार्थ—राज गृह नगर का स्वामी अपने आधीन राज मंडल से बहुत थोड़ा कर लेता है। इसी से राजगृह नगर की प्रजा सब प्रकार सुखी है।

चतुर्मुखेन शालेन सितेनाभात्मवेष्टितम्।
कर्त्रापि मोहितेनास्य विभूतौ विधिनेव तत् ॥२३॥

अर्थात्—अतिशय श्वेत और चतुर्मुख प्राकार से सहित वह

नगर ऐसा मालूम पड़ता है मानो इस नगर की सम्पदा से मोह को प्राप्त हुवे ब्रह्म देव से शोभित हैं।

रराज परिखा यस्य सरसा हंसगामिनी ।
सावर्त्ता पद्मिनी–युक्ता कुलस्त्रीव समायता ॥२४॥

अर्थात्—जिस राजगृह नगर की मधुर जल की भरी, हंस और कमलिनी से युक्त बहुत बड़ी परिखा (खाई) सुकुल में पैदा हुई स्त्रियों के समान शोभती है।

प्रासादाग्रे बभुर्यत्र सूज्ज्वलाः केतुपंक्तयः ।
शिखराघृष्टकायानां खेटानां कंचुका इव ॥२५॥

अर्थात्—जिस राजगृह नगर के बड़े २ मकानों के ऊपर अत्यन्त शुक्ल ध्वजाओं की श्रेणियें ऐसी शोभायमान होती हैं मानों उन मकानो के शिखरों से घिसे हुये चन्द्रमा के शरीर के कञ्चुक (कांचली) ही है क्या ?

प्रदेशाः सगृहा रेजुर्गृहाः सज्जनसंग्रहाः ।
सज्जनाः सधना यत्र तानि दानयुतानि च ॥२६॥

अर्थात्—जिस नगर मे भूमि तो गृहो से युक्त थी, गृह सज्जन पुरुषों से भूषित थे। सज्जन लोग सब धनवान थें और धन दिन रात दान में व्यय होता था। भावार्थ—राज गृह नगर की प्रजा किसी प्रकार दुःखी नही थी।

दानानि समानानि मनोऽन्तरागसंयुतः ।
अन्तरागश्च सत्पात्रगुणलीनश्चसन्ततम् ॥२७॥

अर्थात्—जहां श्रावक लोग सन्मान सहित पात्रों को दान देते थें। और मन भी आन्तरङ्गिक राग से युक्त था तथा अन्तरङ्ग भी सदैव उत्तम पात्रों के गुणों में लगा हुआ रहता था।

वाचाटो न शुकाद्यत्र परो मानी न योषितः ।
सन्तापी भास्वतो नाऽऽसीद्वारिजान्न जडाशयः ॥२८॥

अर्थात्—उस नगर में यदि बहुत प्रलाप करने वाला था तो केवल तोता था और कोई ऐसा नहीं था जो दिन रात अपनी जिह्वा को विश्राम नहीं देता था। अभिमान था तो केवल स्त्रियों में और कोई मानी नही था। जीवों को आताप केवल सूर्य से होता था और कोई किसी को सन्ताप देने नहीं पाता था। यदि जड़ाशय अर्थात् जल मे रहनेवाला था तो केवल कमल और कोई मूर्ख नहीं था। भावार्थ—श्लेषालङ्कार में ड और ल में भेद नहीं होता है इसी से जड़ाशय इस शब्द का एक जगह जलाशय अर्थ किया गया और एक जगह मूर्ख अर्थ।

यद्भूमौ मन्दिरैर्जैनैः शुभ्रैः सकुम्भतोरणैः।
व्योमेव शारदैर्मेघैः सेन्द्रचापदिवाकरैः ॥२९॥

अर्थात्—सोने के कलश और तोरणो से युक्त शुक्लजिन-चैत्यालयों से राजगृह नगर ऐसा शोभायमान होता है मानो यों कहो कि इन्द्र धनुष और सूर्य से युक्त शरद कालीन शुक्लमेघों से शोभित आकाश मण्डल ही है।

यत्रास्यानि पुरन्ध्रीणां नात्यजन्मधुपालिकाः।
पद्मानि शंकमानेति सुगन्धोच्छ्वासवन्ति च ॥३०॥

अर्थात्—जिस राज गृह नगर में कमल नयनी स्त्रियों के सुगन्धित मुखको कमलकी शंका से भ्रमराङ्गना नहीं छोड़ती थी।

इतस्ततो सरो राजी यद्बाहिः शुशुभे तता।
श्वेतारुणासिताम्भोजैर्यौर्वेन्दुकुजराहुभिः ॥३१॥

अर्थात्—जिस राजगृह नगर के बाहिर चारों तरफ सरोवर की श्रेणि श्वेत, लाल, और नील कमलों से ऐसी मालूम पड़ती थी मानों चन्द्रमा, मंगल के विमान और राहु से युक्त गगन मंडल ही है क्या?

आसीच्छ्रीश्रेणिकस्तत्र नृपो राजनयान्वितः।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नो रिपुमत्तगजाऽङ्कुशः ॥३२॥

अर्थात्—उसी राजगृह नगर में सम्यग्दर्शन से युक्त, शत्रुरूप

उन्मत्त हाथियों के लिये अंकुश और राजनीति को अच्छी तरह से जानने वाला श्रेणिक नामका राजा था।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चतस्रकाः।
विद्या ज्ञात्वा स सप्ताङ्गं राज्यं धत्ते सुनिर्भयम् ॥३३॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, और दण्डनीति के जानने वाले होकर सप्ताङ्ग राज्य का निर्भयता के साथ में पालन करते थे।

पञ्चाङ्गं मन्त्रयन्मत्रं रक्षन्नष्टादशप्रजाः।
कामक्रोधादिषड्वर्गं जयन्नास्ते स निश्चलम् ॥३४॥

अर्थात्—सहाय, साधनोपाय, देश, काल और बलाबल इन पाचों के विचार पूर्वक, अठारह प्रकारकी प्रजाओं का पालन करते हुए काम क्रोधादि छह आन्तरङ्गिक शत्रुओं को अपने आधीन करके सुख पूर्वक राज्य का उपभोग करते थे।

कलाविज्ञानसौन्दर्यवीर्यधैर्यादिसद्गुणम्।
दोषा दद्दशुरेनं नो स्वप्नेप्यन्यसमाश्रयात् ॥३५॥

अर्थात्—कला, विज्ञान, सुन्दरता, पराक्रम, और धैर्यादि अनेक उत्तम २ गुणों के आधार महाराज श्रेणिक में स्वप्न में भी दोष अपना स्थान नहीं करने पाते थे।

दयाबुद्ध्यादिनारीभि–राश्लिष्टं वीक्ष्य यं नृपम्।
ईर्ष्यया कीर्त्तिकामिन्या भ्राम्यतेऽद्याप्यलं जगत् ॥३५॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक को दया बुद्धि आदि स्त्रियों के साथ आलिङ्गन करते हुवे देखकर ईर्षा से कीर्त्तिरूप स्त्री आजतक सारे जगत मे भ्रमण करती है। भावार्थ-महाराज श्रेणिक की कीर्त्ति सारे संसार में फैली हुई थी।

वज्रार्गलसमानाभ्यां प्रजानां येन रक्षणम्।
दोर्भ्यामकारि सालादिः सूचते पूःपरम्पराम् ॥३६॥

अर्थात्—वज्रकी अर्गल (भागल) के समान दृढ़ अपनी प्रजाओं से प्रजाका रक्षण करने पर प्राकारादि तो केवल राजगृह नगर की परम्पराको सूचित करते थे। भावार्थ—नगर की रक्षा केलिये उसके चारों तरफ कोट खिंचा हुवा रहता है परन्तु महाराज श्रेणिक के समय में तो वह निरर्थक जान पड़ता था। उनका प्रतापही ऐसा था जो शत्रु लोग किसी तरह का उपद्रव नहीं करने पाते थे।

ज्वलदर्चिःप्रतापेन साधिता यस्य शत्रवः।
हास्त्यश्वरथपादाति शोभायै केवलं वलम् ॥३७॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक ने जाज्वल्यमान अग्नि के समान अपने प्रताप सेही शत्रुलोगों को वश में कर रक्खे थे। हस्ति, घोड़े, रथ, पदाति आदि सैन्य समूह तो केवल उनकी शोभा के लिये था।

विभर्त्ति विपुलं रक्तां यद्वक्षो विजयश्रियम्।
तमोऽरेरस्तसंजातां सन्ध्यामिव नभस्थलम् ॥३८॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक का बड़ाभारी वक्षस्थल अपने में अनुरागिणी विजय लक्ष्मी को उस तरह धारण करता है जिस तरह आकाश मण्डल सूर्य के अस्त होनेके समय की लाल २ सन्ध्या को धारण करता है।

कर्णो दानेन कान्त्येन्दुः सूर्यो दीप्त्या धिया गुरुः।
गाम्भीर्येण सरन्नाथो मेरुः स्थैर्येण यो नृपः ॥३९॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक ने कर्ण को दान से, चन्द्रमाको कान्ति से सूर्य को दीप्ति से बृहस्पति को अपनी अतुल बुद्धि से गम्भीरता से समुद्रको और धैर्यगुण से सुमेरुगिरि को नीचे करदिया था।

इश्वरो न विरूपाक्षो महेन्द्रोपि न गोत्रभित्।
राजाऽपि निःकलंकात्मा नदीनोप्य जडाशयः ॥४०॥

अर्थात्—जो ईश्वर (महादेव) होगा वह तीन नेत्रों से हीन नहीं हो सकता। जो इन्द्र होगा वह पर्वत का भेदन करनेवाला अवश्य होगा। और राजा (चन्द्रमा) होगा वह कलङ्क रहित नहीं हो सकता। इसी तरह

नदीन (समुद्र) होगा वह जलाशय अवश्य कहा जायगा। परन्तु महाराज श्रेणिक ईश्वर (जगत के स्वामी) होकर भी तीन नेत्रों के धारण करनेवाले महादेव के समान विरूप नही थे। इस विशेषण से उनके सौन्दर्य का वर्णन सूचित होता है। तात्पर्य यह है कि महाराज श्रेणिक के समान महादेव भी सुरूप वाले नहीं थे। इन्द्र होकर भी गोत्र (कुल) के नाश करनेवाले नही थे। राजा (पृथ्वीपाति) होकर भी राजा (चन्द्रमा) के समान कलङ्क के पात्र नही थे। नदीन (दीनता रहित) होकर भी जड़ाशय (मूर्खाभिप्राय वाले) नही थे। यह श्लोक विरोधाभास अलङ्कार की रीति से लिखा गया है।

शंकादिमलमुक्तं यः सम्यक्तं पाति निश्चलम्।
नारकायुष्कवद्धत्वात्परं व्रतविवर्जितः ॥४१॥

अर्थात्—यद्यपि महाराज श्रेणिक शंकादि पच्चीस दोषों से रहित निश्चल सम्यक्त्व के धारक थे परन्तु नरकस्थिति का बन्ध हो जाने से उत्कृष्ट व्रत से रहित थे।

तस्यास्ति चेलनी नाम्नी गेहिनी प्राणवल्लभा।
रोहिणीव शशाङ्कस्य भवानीव हरस्य च ॥४२॥

अर्थात्—चन्द्रमा को रोहिणी और महादेव को भवानी जितनी प्राणवल्लभा है उसी तरह महाराज श्रेणिक को चेलनी नाम की प्रिया प्राणवल्लभा (प्रिय) थी।

वाचा जिगाय या वीणां गत्या नवमरालिकाम्।
सौभाग्येन रतिं सीतां शीलेन च धिया गिरम् ॥४३॥

अर्थात्—महाराणी चेलनी ने अपनी मधुर वाणी से वीणा को गमन से हंसिनी को, सौभाग्य से कामदेव की अङ्गना को, शील से जनक नन्दिनी को, और बुद्धि से सरस्वती को पराजित कर दिया था।

विव्यधे भूधरो यत्र कटाक्षशरमोक्षणैः।
यया तया न किं तत्र सदा पल्लववन्नर ॥४४॥

भावार्थ—जिस चेलनी महाराणी ने अपने कटाक्ष वाणों से महाराज श्रेणिक तक को भेद दिये थे तो किशलय के समान कोमल

मनुष्य क्या उससे भेद को प्राप्त नहीं होंगे? इस श्लोक में भूधर शब्दादि में श्लेष है। उसका विशेष यों है।

अर्थात्–जिन बाणों से पर्वत तक भिद जाता है उनसे वृक्षों के कोमल पत्र नहीं भिदेंगे क्या? अवश्य भिदेंगे।

सुगंधिजवनोच्छ्वासप्रेर्यमाणोऽपि षट्पदः।
यद्वक्त्रं न जहाति स्म कलङ्को वेंदुमंडलम् ॥४५॥

अर्थात्—बन की सुगन्ध समीर से प्रेरणा किया हुआ भी भ्रमर महाराणी चेलनी के मुख को उस तरह नहीं छोड़ता था जिस तरह कलंक चन्द्रमंडल को नहीं छोड़ता है। भावार्थ-महाराणी का शरीर अत्यन्त सुगन्ध युक्त था।

यद्वक्षसि समुत्तुंगावभातां सुघनौ स्तनौ।
कामक्रीडालये पीठे मांगल्यकलशाविव ॥४६॥

अर्थात्—चेलनी देवी के विशाल उरस्थल में अतिशय कठिन स्तन, कामदेव के क्रीडा भवन में रखे हुवे मंगलीक कलश के समान शोभते थे।

सम्यक्त्वाऽलंकृता पूत-व्रतपञ्चकसंयुता।
मुनिदानरता सा भूभिशान्ततिलकोपमा ॥४७॥

अर्थात्—सम्यक्त्व सहित पांच अणुव्रतों को पालन करने वाली और निरन्तर मुनियों को दान देने वाली महाराणी चेलनी अन्तःपुर की और सब स्त्रियों में श्रेष्ठ गिनी जाती थी।

एतया सह भोगेन कालो गच्छति भूपतेः।
आयाच्छ्रीवर्द्धमानेशः केवली विपुलाचले ॥४८॥

अर्थात्—महाराणी चेलनी के साथ मनोभिलषित भोगों को सेवन करने वाले महाराज श्रेणिक का काल इसी तरह व्यतीत होता था। इसी अवसर में विपुलाचल पर्वत पर श्रीवर्द्धमान् भगवान् आये।

तदा गिरिवने सर्वे ऋतवश्चेत्यहं यवः।
तमर्चितुमिवाऽऽयाताः फलैः पुष्पैश्चपल्लवैः ॥४९॥

अर्थात्--उस समय विपुलाचल पर्वत के वन में छहो ऋतुओं के फल फूल विकसित हो गये। ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि छहों ऋतु जिन भगवान् की फल पुष्पादिकों से पूजन करने के लिये आये हैं क्या ?

आजन्मवैरिणो वीक्ष्य पशून्प्रीतिमुपागतान्।
प्रहृष्टश्चिन्तयामास तदेति वनपालकः ॥५०॥

अर्थात्—जिन जीवों का आजन्म से वैर चला आता है उन्हें भी परस्पर में अनुराग युक्त देखकर वनमाली सन्तोष को प्राप्त होता हुआ यों विचार करने लगा।

अकालेनैव जातानि सूचयन्ति जिनागमम्।
आदाय फलपुष्पाणि भूपं वर्द्धापयाम्यहम् ॥५१॥

अर्थात्—असमय में फल पुष्पों का विकसित होना जिन भगवान् के आगमन को सूचन करता है। इसलिये फल पुष्पों को लेकर महाराज श्रेणिक के समीप जाऊं और उन्हें इस समाचार से हर्षित करूं।

वनपालस्तथा कृत्वा राजद्वारमुपेयिवान्।
राजन्योन्यसंघट्टगलन्मुक्ताफलव्रजम् ॥५२॥

अर्थात्—अपने विचार के अनुसार वह वनपाल फल पुष्पादि सामग्री को लेकर, राजालोगों के परस्पर संघर्षण से जहां मोतियों के समूह गिररहे हैं ऐसे राजभवन के द्वारप्रदेश में प्राप्त होता हुआ।

उक्तस्तेन प्रतीहारः कनककाञ्चनदण्डभृत्।
गत्वा निवेदयेत्याशु भूपतिं मां बहिःस्थितम् ॥५३॥

अर्थात्—वनपालने सुवर्ण के दण्डको धारण करनेवाले द्वारपाल से कहा कि तुम राजभवन में जाकर महाराज श्रेणिक से कहो कि बाहर वनमाली खड़ा है।

विज्ञापयति देवेति कश्चित्त्वां सोपहारकः।
प्रवेशं चाश्नुवेऽत्राऽऽशु किञ्चिदस्तीह कारणम् ॥५४॥

अर्थात्—वनपाल की इस प्रार्थना को सुनकर वह द्वारपाल राज भवन में जाकर महाराज श्रेणिक से यों कहता हुआ कि हे देव! कोई भेट लेकर आया है और वह प्रार्थना करता है कि मुझे महाराज के पास लेचलो कोई कारण विशेष है।

श्रेणिकस्तद्वचः श्रुत्वा तं दिदेश प्रवेशय।
इत्येत्य द्वारपालेन मध्यं व्रज निवेदितम् ॥५५॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक द्वारपाल के द्वारा वनपाल के वचनों को सुनकर उसे यहां लाओ ऐसा द्वारपाल से कहते हुवे। द्वारपालने भी महाराज की आज्ञानुसार वनपालको राज भवन में जाने के लिये कहा।

प्रविष्टः स तदादेशाद्वनपालो नृपालयम्।
दूराद्दृष्ट्वा तमीशानं जहर्षाऽऽनन्दरोमितः ॥५६॥

अर्थात्—द्वारपाल की आज्ञा से वनपाल भी राज भवन में गया और दूरसेही महाराज श्रेणिक को देखकर आनान्दित ~~होता~~ हुआ।

पश्चास्यासनसंस्थितं सुरसरिद्गंगत्तरंगोच्छल-
च्चंचच्चामरवीजितं शसिसमश्वेतातपत्राश्रितम्।
सालंकारमनुत्तमेशनमितं विद्वत्सभासांश्रितम्
दृष्ट्वा ढोकनिकां ननाम नृपतिं वद्धाञ्जली भूयसः ॥५७॥

भावार्थ—सिंहासन पर वैठे हुवे, आकाश गङ्गा के चलायमान तरङ्गों के समान उछलते हुवे और शोभायमान चामर जिनके ऊपर ढुर रहे हैं, चन्द्रमा समान अत्यन्त शुक्ल छत्र से युक्त, अनेक तरह के रत्नादिकों के उत्तम २ आभूषणों को पहरे हुवे, और विद्वानों की सभा के आश्रयभूत महाराज श्रेणिक को वह वनपाल ढोक देकर और अपने हाथों की अञ्जली वांध कर नमस्कार करता हुआ।

हत्वा घातीन्समवशरणेनाश्रितः सद्गणीन्द्रै-
र्देवेन्द्रैश्च प्रणमितपदः श्रेयसे मेघनादः।

शोभायुक्तविपुलकुधरे सत्सरोभिर्नगैश्च
देवाऽऽयातो विपुलमहिमा वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥५८॥

भावार्थ—हे देव ! संसार के जीवों को उत्तम मार्ग से अधःपतन करने वाले चार घातिया कर्मों का सर्वथा नाश करके समवशरण में विराजमान, मेघ के समान गर्जना करने वाली दिव्यध्वनि के स्वामी और जिनके चरण कमलों को इन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ति, गणधरादि उत्तम २ पुरुषरत्न नमस्कार करते हैं, तथा लोक में जिनकी महिमा फैल रही है ऐसे श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र, निर्मल जल के भरे हुवे सरोवरों तथा अच्छे २ विशाल पर्वतों से शोभायमान विपुलाचल पर्वत के ऊपर पधारे हैं।

श्रुत्वा तस्माज्जिनपतिवरस्यागमं हृष्टचित्तो
दत्त्वा तस्मै निजतनुगताऽलंकृतीः सूचकाय ।
मेधावीत्वा मृगपतिधृतादासनात्सप्तपादान्
मूर्द्ध्ना भूपो निजकरयुगं योजयित्वाऽनमत्तम् ॥५९॥

भावार्थ—उस वनपाल से जिनश्रेष्ठ श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के आगमन के समाचार को सुनकर हर्ष से, अपने सुन्दर शरीर पर के सब रत्नादिकों के भूषणो को वनपाल के लिये प्रदान करके बुद्धिमान् महाराज श्रेणिक उसी समय विशाल सिंहासन से उठे और सात पांव आगे जाकर अपने दोनों हाथों को जोड़कर जगत्पूज्य श्रीवीर जिनवर को नमस्कार करते हुवे।

इस श्लोक में श्रेणिक के विशेषणों में मेधावी शब्द भी पड़ा हुआ है उससे ग्रन्थकर्त्ता ने अपना नाम मेधावी सूचन किया है।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना विरचिते
श्रीधर्मसंग्रहे श्रेणिकानन्दवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः॥१॥

अथेति मगधाधीशो भेरीरानन्दपूर्विका: ।
आदापयदहो लोका आयात जिनमर्हितुम् ॥१॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक वनपाल से श्री वीर भगवान् का विपुलाचल पर्वत पर आगमन सुनकर आनन्द भेरी दिलवाते हुवे कि जिन देव का समवशरण आया है नगर के सब लोग उनके पूजने के लिये चलें।

भेरीनादं समाकर्ण्य शृंगारी सकलो जनः ।
पूजाद्रव्यमुपादाय समागात्तत्र संभ्रमी ॥२॥

भावार्थ—सम्पूर्ण नगर के धर्मात्मा लोग उस भेरी के शब्द को सुनकर और साथही जिन भगवान् की पूजन के लिये उत्तम २ द्रव्य को लेकर विपुलाचल पर्वत पर जाते हुवे।

निर्जगाम पुराद्राजा वीरं वन्दितुमुद्यतः ।
पुरुदेवं नमद्देवं चक्रीव भरतेश्वरः ॥३॥

अर्थात्—जिस तरह आदिनाथ भगवान् को महाराज भरत चक्रवर्त्ति वन्दना करने के लिये गये थे उसी तरह मगध देश के अधिपति श्रेणिक नृपति वीर जिनकी वन्दना के लिये विपुलाचल पर्वत पर गये।

श्च्योतन्मदैः प्रोल्लसन्तं निर्झरैरिव पर्वतम् ।
घण्टारवैरारणं तं स्तनितैरिव वारिदम् ॥४॥
राजन्तं बहुभी रंगैः कोदंडमिव जैष्णवम् ।
स्फुरन्तं तारकाभिश्च ताराभिरिव पुष्करम् ॥५॥
कट्टारिकाभिरुद्भ्रान्तमौषधीभिरिवाञ्जनम् ।
लसन्तं केतुभी रालै रोहणाद्रिमिवांशुभिः ॥६॥
उच्चावचनभोगेन शोभमानं करेण हि ।
सर्पताऽजगरेणेव यत्र तत्र गिरेस्तटम् ॥७॥
मुशलोपमदन्ताभ्यां श्वेताभ्यां च चकासतम् ।
समुच्छलभ्यां मीनाभ्यां वेलाग्रमिव वारिधिः ॥८॥

कुंभस्थलेन चंचन्तं मस्तकक्रोडवर्त्तिना ।
क्रीडाद्रिमिव कुंभेन मंडपाग्रनिवासना ॥९॥
देदीप्यमानं सिन्दूरपुञ्जकान्त्या महाश्रिया ।
नभस्थलनिसर्पिण्याऽपराह्णमिव सन्ध्यया ॥१०॥
सज्जसीवितसद्वस्त्रैरुल्लसन्तं महाध्वजैः ।
कपिशीर्षैर्हरिश्चन्द्रपुर्याः * शालमिवोच्चकैः ॥११॥
द्योतमानं चलच्चारुचामराणां च राशिभिः ।
तमालमिव वल्लीनां स्तवकैः श्वसनेरितैः ॥१२॥
मत्तदन्तिनमारूढः सुपौरैः परिवारितः ।
वज्रीवैरावणं देवैः पन्थानं व्रजति स्म सः ॥१३॥

भावार्थ—जैसे नीझरनों से पर्वत शोभायमान होते हैं वैसे ही मद के गिरने से सुन्दर, तथा जैसे मेघ गर्जना से मनोहर मालूम देता है उसी तरह घन्टाओं के शब्द से शब्दायमान । अनेक प्रकार के चित्र विचित्र रंगों से इन्द्र धनुष की तरह शोभायमान, अथवा मनोहर नक्षत्रों से भासमान आकाश मंडल है क्या ?

कट्टारिका नामक औषधि से जैसा अंजन गिरि सुन्दर मालूम देता है तथा अपनी ~~रत्न~~ की किरणों से जैसा रोहणपर्वत मनोहर दीखता है उसी तरह रत्नों की ध्वजाओं से शोभायमान ।

बडे भारी विशाल अपने शुंडादंड से ऐसा शोभता था मानों पर्वत के तट में इधर उधर घूमता हुआ अजगर जाति का सर्प विशेष है क्या ?

मूशले के समान श्वेत और विशाल दोनों दांतों से ऐसा मालूम देता था मानों इधर उधर उछलती हुई मछलियों से शोभायमान समुद्र के तट का अग्र भाग है क्या ?

मस्तक रूप उत्संग (गोद) में रहने वाले गंडस्थलों से लोगों को यह भ्रम हो जाता था कि मंडप के आगे रखे हुवे कलशों से युक्त क्रीडा पर्वत है क्या ?

-- -- का तात्पर्य ध्यान में नहीं आया ।

अतिशय सुन्दर, सिन्दूर के समूह की कान्ति से देदीप्यमान ऐसा मालूम देता है मानों सारे गगन मंडल में फैलने वाली सन्ध्या से शोभित मध्यान्ह काल है क्या ?

उत्तम २ वस्त्रों से बनी हुई और जिन पर बन्दरों के चिन्ह शोभा दे रहे हैं ऐसी वडी २ ध्वजाओं से शोभायमान यह मालूम पडता था कि इन्द्र की पुरी (अमरावती) का प्राकार है क्या ?

चलायमान चामरों के समूह से कान्तिमान, ग्रन्थकार कहते हैं कि वायु से इधर उधर प्रेरित लताओं के गुच्छों से मनोहर तमाल वृक्ष है क्या ?

ऐसे वडे भारी मदवान हाथी पर चढे हुवे महाराज श्रेणिक पुरवासी लोगों के साथ चलते हुवे लोगों की दृष्टि में ऐसे आने लगे मानों ऐरावत गजराज पर बैठ कर देवों के साथ इन्द्र ही जिन भगवान् की पूजन के लिये जा रहा है क्या ?

दशभिः कुलकम्

आरुह्य चञ्चलानश्वान् केचित्केचिद्रथस्थिताः ।
सानन्दाश्चेलुरध्वानं केचिद्यानविमानयोः ॥१४॥

अर्थात्—कितने चञ्चल घोड़ों पर चढ़ कर कितने रथों में बैठकर और कितने गगन में चलने वाले विमानादिकों में बैठकर आनन्द के भरे जिनदेव के दर्शनों के लिये गये।

रक्ताम्बरधरा नारी व्रजन्ती काचिदाबभौ ।
जिनं वन्दितुमादाय वैडूर्यमयपाटलीम् ॥१५॥
सश्रीखंडद्रवां पूर्णां सचोचाममलाक्षतैः ।
सन्ध्येवतामसीं सेंदुं सज्योत्स्नामुडुभिश्रिताम् ॥१६॥

युग्मम्

भावार्थ—लाल वस्त्र को पहर कर कोई स्त्री अपने हाथ में चन्दन, केला और उज्वल अक्षत से पूर्ण भरे हुवे वैडूर्य मणि के भाजन को लेकर जिन भगवान् की वन्दना करने को जाती हुई ऐसी

शोभती थी मानों ज्योत्स्ना (चांदनी) और ताराओं से युक्त लाल कान्ति को ग्रहण करके चन्द्रमा को नमस्कार करने के लिये सन्ध्या ही जाती है क्या ?

स्वर्णभाजनमादाय समालं जिनमर्चितुम् ।
कुटिलं क्रामती कापि योषिद्भाति स्म भक्तितः ॥१७॥

तरङ्गिणीव किंजल्क-सहितं दधती पयः ।
शोभित रक्तयाऽन्योन्यं लीलया हंसमालया ॥१८॥

युगलम्

भावार्थ—कोई स्त्री जिन भगवान की भक्ति पूर्वक पूजन के लिये अपने हाथ में पुष्प माल्य से भरे हुवे कनक मय भाजन को लिये हुवे मार्ग में आडी टेडी चलती हुई लोगों को ऐसी मालूम पडने लगी मानों केशर से युक्त और परस्पर की कीडा में अनुरक्त हंसश्रेणि से शोभायमान जलको ग्रहण करके नदी ही चली जा रही है क्या ?

अन्या श्वेताम्बरा मुग्धा गच्छन्ती शुशुभेतराम् ।
दामान्यादाय मुक्तानां गलद्वारीव जाह्नवी ॥१९॥

अर्थात्— शुक्ल वस्त्र को पहरी हुई कोई मुग्धा स्त्री मोतियों की मालाओं को लेकर चलती हुई, जिससे पानी गिर रहा है ऐसी गङ्गा के समान मालूम होने लगी ।

दधती पीतवस्त्राणि पूर्णकुंभशिराः परा ।
काचिद्रेजे सुमेरोर्भूः काञ्चनानीव कूटभृत् ॥२०॥

अर्थात्—पीले वस्त्रों को पहरी हुई और भरे हुवे कलश जिसके मस्तक पर है ऐसी कोई स्त्री, सुवर्ण के शिखरों कोधारण करने वाली सुमेरु पर्वत की पृथ्वी के समान शोभती थी ।

मुक्ताहाराप्यभात्काचिन्मुक्ताहारमनोहरा ।
मनोजिनगुणे गुण्ये न्यस्यन्ती पदमध्वनि ॥२१॥

अर्थात्—मुक्ताहारा (जिनदेव के दर्शनों की लालसा से आहार को छोड़ कर भी) मोतियों के हार के पहरने से सुन्दर कोई स्त्री अपने मन को तो प्रशंसनीय जिनदेव के गुणों में और पावों को मार्ग में रखती हुई शोभा को प्राप्त होती थी।

गायन्ति स्म स्त्रियः काश्चिन्नृत्यन्ति स्म पराः स्त्रियः ।
तुष्टिदानं ददन्ति स्म स्तुवन्ति स्म जिनं पराः ॥२२

भावार्थ—वर्द्धमान जिनेन्द्र के आगमन के समाचार के आनंद से कितनी स्त्रियें गाने लगी, कितनी हर्ष से दान देने लगी, कितनी नृत्य करने लगी, और कितनी जिनराज की स्तुति करने लगी।

वभुश्छत्राणि रम्याणि व्योम्नि तापहराणि च ।
राजवृन्दोपरिष्टानि वचांसीवार्हतः प्रभोः ॥२३॥

अर्थात्—सूर्य जनित सन्ताप को नाश करने वाले और मनोहर छत्र आकाश में ऐसे दीखने लगे मानों भवाताप के मिटाने वाले अर्हन्त भगवान् के वचन हैं क्या?

चामराणि नभोयान्ति वीज्यमानान्यभासत ।
जिनस्याभिषवारम्भे कल्लोलानीव वारिणाम् ॥२४॥

अर्थात्—आकाश में चलायमान शुक्ल चामर, लोगों को जिन भगवान् के जन्माभिषेक समय के आरम्भ में जल की कल्लोलों की शंका को पैदा करने लगे।

यात्रा ते सफला भूयाद्धर्मो भवतु निश्चलम् ।
जीव नन्द जय श्रीमान्प्रसीद मगधेश्वर ॥२५॥
इति भट्टःकृतस्तोत्रं श्रण्वन्पश्यंश्च नर्त्तनम् ।
नर्त्तकीनां पुरोगानां विजहार नरेश्वरः ॥२६॥

अर्थात्—हे मगधदेश के अधिपति ! आज तुम्हारी यात्रा सफल मनोरथ हो, आज धर्म निश्चल हो, भावार्थ—तुम सरीखे प्रताप शाली राजा को पृथ्वी मंडल का रक्षण करने पर दुष्टों के दण्डदाता

से रहित धर्म की दिनोदिन वृद्धि हो। तुम चिरकाल पर्यन्त इस वसुन्धरा का उपभोग करो, दिनों दिन तुम्हारी वृद्धि होवे, जय लक्ष्मी तुम सरीखे भाग्यशाली पुरुषोत्तम का आश्रय स्वीकार करे, आप हम लोगों पर प्रसन्न वदन होओ। इस प्रकार वन्दीजनों के गुणगान को सुनते हुवे और आगे चलने वाली वाराङ्गनाओं के मनोहर नृत्य को देखते हुवे महाराज श्रेणिक विपुलाचल पर्वत की ओर गमन करने लगे।

यहां से एक साथ तेरा श्लोकों का कुलक है—

आम्रनारंगपुन्नागमोचचोचादिसन्नगैः।
वातान्दोलितशाखाग्रैर्नृत्यन्तमिव सुन्दरम् ॥२७॥
हंससारससारंगापिककेकिशुकारवैः।
जिनागमप्रमोदेन गायन्तमिव पेलवम् ॥२८॥
मिथः सिंहगजादीनां मुक्तानां वैरभावतः।
गर्जितानां प्रतिध्वानैर्वादयन्तं च दुंदुभिम् ॥२९॥
गुञ्जन्मधुव्रतव्रातैर्हसन्तमिव पुष्पितैः।
कुन्दमन्दारसज्जातिमल्लिकावकुलोत्पलैः ॥३०॥
शरच्चन्द्रकराभासनिर्झरैस्तटसंभवैः।
हर्षाश्रूणि विमुञ्चन्तं मध्येऽमान्तीव निर्भरम् ॥३१॥
देवतामुक्तसद्वर्णरत्नानामुन्मरीचिभिः।
नभोगैर्दधतं चैव चारुचन्द्रोपकाश्रियम् ॥३२॥
अग्न्यर्चिभिरिवात्यन्तं कुर्वन्तं मंगलार्त्तिकम्।
मार्त्तण्डकरसंघट्ट-सूर्यकान्तोपलोद्भवैः ॥३३॥
चमरीवीज्यमानानां चामराणां कदम्बकैः।
मन्यमानमिवात्मानं राजानं भुवनोदरे ॥३४॥
मणिवद्धसरोराजिजातनीलोत्पलाक्षिभिः।
वीक्षमाणं प्रभोर्लक्ष्मीं विस्तीर्णां च स्वमस्तके ॥३५॥

महाह्रदप्रभूतानां प्रवाहैः सरितामधः ।
पतन्तीनां महारावै राह्वयन्तामिव प्रभुम् ॥२६॥
तृणाङ्कुरैर्दधानं स्वं रोमाञ्चितमिवाखिलम् ।
कोमलैः सरसैः स्निग्धैरनुकच्छं समुद्भवैः ॥२७॥
स्निग्धनैडूर्यवद्धेन भूभागेन शिरस्पृशा ।
दर्शयन्तमिवादर्शमंडलं स्वर्भुवां नृणाम् ॥२८॥
विपुलं भूधरं दृष्ट्वा श्रिया निजसमं नृपः ।
सलोको जिनमाहात्म्यादारुरोह क्षणेन सः ॥२९॥
त्रयोदशभिः कुलकम्

इन तेरा श्लोकों में विपुलाचल पर्वत का वर्णन है ।

भावार्थ—पवन से जिनकी शाखायें हिल रही हैं ऐसे आम्र नारंग, पुन्नाग, कदलीतरु, दालचिनी आदि उत्तम २ वृक्षों से मनोहर नृत्य को ही कर रहा है क्या ?

हंस, सारस, चातक, कोकिल, मयूर, तोता आदि पक्षियों के मधुर २ शब्दों से यह मालूम पडता है कि जिन भगवान् के आगमन सम्बन्धी समाचार के सुनने से सुन्दर गान करता है ।

परस्पर के स्वाभाविक वैरभाव को जिन्होंने छोड दिया है ऐसे सिंह हाथी आदिकों के ~~गर्जित~~ की प्रतिध्वनि से यह जाना जाता है कि विपुल पर्वत दुंदुभि बाजे को बजा रहा है ।

जिन पर भ्रमरों के समूह के समूह गूंज रहे हैं और प्रफुल्लित ऐसे कुन्दपुष्प, मन्दारपुष्प, जातिपुष्प, मल्लिकापुष्प, वकुलपुष्प और कमलपुष्प, इनसे विपुलाचल पर्वत हंसता हुआ लोगों की दृष्टि में दिखाई देता है ।

चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल जल के नीझरने पर्वत के तटों से गिर रहे थे उससे यह मालूम पड़ता था कि विपुलाचल पर्वत को जिन भगवान् के आगमन से जो आनन्द हुआ है वह आनन्द भीतर नहीं समासका इसी से नीझरनों के ब्याज से आनन्दाश्रुओं को छोड़ रहा है क्या ?

देवता लोगों से वृष्टि किये हुवे नाना प्रकार के उत्तम २ रत्नों की किरणों से यह भ्रम होता था कि विपुलाचल पर्वत चंद्रोपक (चन्दोवा) की शोभा को धारण करता है क्या ?

जव सूर्य की किरणों का और सूर्यकान्तमणि का परस्पर सम्वन्ध होता था उस समय सूर्यकान्त मणि से जो अग्नि की सी ज्वाला निकलती थी उससे लोग यह समझते थे कि विपुलाचल पर्वत जिन भगवान् की मंगल आरती (नीरांजना) ही करता है क्या ?

चमरी गाय जव इधर उधर भ्रमण करती थी तव उनके पुच्छ हिलते थे उससे मानलो कि चमरी गाय चमरों को हिला रही है उस समय की छटा से विपुलाचल पर्वत भी अपने को इस पृथ्वी मंडल का अधिपति (राजा) समझता था।

मणि रत्नादिकों से वने हुवे सरोवरों में नील कमल प्रफुल्लित हो रहे थे उससे समझलो कि विपुलाचल पर्वत अपने कमल रूप नेत्रों से श्री वर्द्धमान जिन भगवान् की अतिशय विस्तीर्ण लक्ष्मी को देख रहा है।

वडे २ सरोवरों से निकलने वाली नदियों के प्रवाहों के शब्दों से यह मालूम होता था कि विपुलाचल गिरि जिन देव को बुला रहा है क्या ?

तट २ के ऊपर कोमल, सरस, और स्निग्ध हरे २ धान्य के अंकुर उत्पन्न हो रहे थे उससे मानलो कि बिपुलाचल पर्वत श्री वीर जिनेन्द्र को आये हुवे देखकर रोमाञ्च को धारण कर रहा है। विपुलाचल पर्वत पृथ्वी भाग से लेकर शिखर भाग पर्यन्त वैडूर्य्य मणि से बना हुआ था उस से यह मालूम पड़ता था कि अचल राज ने स्वर्ग के देवताओं तथा मनुष्यों के लिये अपने हाथ में दर्पण को धारण कर रक्खा है।

ऐसे वड़े भारी विपुलाचल पर्वत को शोभा से अपने समान देख कर महाराज श्रेणिक श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के माहात्म्य से बड़े भारी ऊंचे और विशाल गिरिराज पर भी क्षण मात्र में सम्पूर्ण लोक सहित चढ़ गये।

क्रियद्गिरिशिखाभागं व्यतिक्रम्य सदुत्सवैः ।
असौ सोपानमार्गेण चचाटोपरि सन्मुदा ॥४०॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक पर्वत के कितने भाग को उत्सव के साथ उल्लंघन करके फिर सोपानों (सीढियों) के द्वारा पर्वत के ऊपर हर्ष पूर्वक चढ़ते हुवे ।

गत्वा पञ्चसहस्राणि दंडान् भूमितलान्नृपः ।
उर्द्ध कृताञ्जलिर्नम्रमस्तको वियति स्थितः ॥४१॥

अर्थात्— महाराज श्रेणिक पृथ्वी तल से पांच हज़ार धनुष प्रमाण पर्वत के ऊपर चढ़ कर अञ्जली को ऊंची उठाकर विनीत भाव से खड़े ~~होते~~ हुवे ।

एकयोजनविस्तीर्णं तत्र नीलशिलातलम् ।
उच्छलत्किरणं वृत्तं भातीवाऽऽदर्शमंडलम् ॥४२॥

अर्थात्—उसी जगह एक योजन चौड़ा, गोलाकार, और जिस की किरणें दशों दिशा में फैल रही हैं ऐसा नील शिलाखंड दर्पण मंडल के समान शोभता है।

मानिनो माननिर्मुक्ता मोहिनो मोहवर्जिताः ।
रोगिणो नीरुजो जाता वैरिणो मित्रतां श्रिताः ॥४३॥

चक्षुष्मन्तोऽभवन्नन्धा वधिराः श्रुतिधारिणः ।
मूकाः पटुत्वमापन्नाः पंगवः शीघ्रगामिनः ॥४४॥

निर्धनाः सधना लोके जडाः पांडित्यसंश्रिताः ।
इत्यन्येऽपि च सम्पन्ना मानस्तंभादिदर्शनात् ॥४५॥

त्रिभिः कुलकम्

भावार्थ —जिन भगवान् के समवशरण सम्बन्धि मानस्तम्भ के देखने से जिन लोगों को अभिमान था वे क्षणमात्र में मान रहित हो गये, जो सांसारीक मोह जाल में फंसे हुए थे वे मोह जाल से छूट गये, जो रोगी थे वे निरोगी हो गये. जिन जीवों का परस्पर वैर

चला आता था वे मित्रता को प्राप्त हो गये, जो पावों से नहीं चलने पाते थे वे अब से जल्दी के चलने वाले हो गये, जो अन्धे थे उन्हें अच्छी तरह सूझने लगा, जो कानों से सुनने नहीं पाते थे वे अब अच्छी रीति से सुनने लगे, जो लोग निर्धन (दरिद्र) थे उनकी लक्ष्मी दासी होने लगी, जो लोग मूर्ख होने के कारण चारों ओर अपमानित होते थे वे अच्छे विद्वान हो कर भूमंडल को अपने शुक्ल यश से पूर्ण करने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि हम अधिक कहां तक अपने ग्रन्थ को वढ़ाते जावें किन्तु यों समझलो कि जिन जीवों की जिस तरह की इच्छा थी वे उसी को प्राप्त होते थे। तात्पर्य यह है कि यह जिन देव का प्रभाव है। अथवा यों कहो कि उनके पुण्य की पराकाष्ठा का नमूना है जो उनके होते संसार में किसी को किसी तरह का दुःख नहीं होता।

अव यहां से कुछ श्लोकों में समवशरण का वर्णन करते हैं।

समवस्थानकं तावत्तोष्ये तीर्थकृतामिह ।
अवसर्प्पिणि जातानामन्यथोत्सर्प्पिणीभुवाम् ॥४६॥

अर्थात्—इस अवसर्प्पिणी काल में जितने तीर्थंकर हुवे हैं उनके समवशरण का वर्णन करता हूं। यद्यपि उत्सर्प्पिणी काल के तीर्थकरों के समवशरणादिका भी वर्णन करना उचित है परन्तु उनके समवशरण में भिन्नता है इसलिये नही किया जाता है।

द्विःषड्योजनमाना भूर्वृत्ता नीलमणिप्रभा ।
निर्मलोल्लसदंशूनां निकरैर्वृषभेशिनः ॥४७॥

अर्थात्—श्रीवृषभनाथ भगवान् के समवशरण की पृथ्वी गोलाकार, नीलमणि के समान प्रभावाली और देदीप्यमान किरणो के समूह से अत्यन्त उज्वल बारा योजन प्रमाण थी।

ततोऽर्द्धयोजनन्यूना परतः परतः क्रमात् ।
तावन्नेमीश्वरं यावत्पादोनाऽन्त्यद्वयोः पृथक् ॥४८॥

अर्थात्—श्रीवृषभनाथ स्वामी से आगे समवसरण की भूमिका प्रमाण क्रम से नेमिनाथ भगवान् तक आधा आधा योजन न्यून

समझना चाहिये। और पार्श्वनाथ तथा श्रीवर्द्धमान जिनके समवशरण का प्रमाण पादन्यून अर्थात् पहले तीर्थंकर का सवा योजन और अन्तिम जिन का एक योजन समझना चाहिये।

विदेहक्षेत्रभूतानामाद्यस्येव जिनेशिनाम्।
अन्ये वदन्ति सर्वेषामविशेषेण तावती ॥४९॥

अर्थात्—विदेह क्षेत्र में होने वाले तीर्थंकरों के समवशरण का प्रमाण श्रीवृषभनाथ स्वामी के ही समान समझना चाहिये। इस विषय में कितने आचार्यों का मत यह भी है कि जिस तरह कमी वेशी श्री वृषभादि तीर्थंकरों के समवशरण में होती गई है उसी तरह विदेह क्षेत्र में भी समझनी चाहिये।

सोपानानां सहस्राणि विंशतिर्दिक्षु हस्तमाः।
व्यासोत्तुङ्गत्वमानेनोर्द्धोर्द्ध ते स्वर्णनिर्मिताः ॥५०॥

अर्थात्—समवशरण के चारों ओर बीस हजार सीढ़ियें होती हैं। उनकी चौड़ाई तथा ऊँचाई एक एक हाथ प्रमाण है। और वे सब सोने की बनी हुई होती हैं।

आद्ये क्रोशैकमायामः सोपानानां परेष्वतः।
चतुर्विंशांशकेनोनस्तदार्द्धार्द्धं जिनान्त्ययोः ॥५१॥

अर्थात्—श्रीवृषभनाथ स्वामी के समवशरण में सीढ़ियों की लम्बाई एक कोस की थी। और बाकी के तीर्थंकरो के समवशरण में सीढ़ियों की लम्बाई चौबीसवें अंश से न्यून थी तथा पार्श्वनाथ और वर्द्धमान के समय में सीढ़ियों की लम्बाई आधी आधी न्यून थी।

यश्च सोपानकायामः स चासौ वीथिविस्तृतिः।
त्रयोविंशगुणं दैर्घ्यं ततोऽयं सर्वतः क्रमः ॥५२॥

अर्थात्—जितनी लम्बाई हम सीढ़ियों की कह आये हैं उतनीहीं लम्बाई वीथियों की समझनी चाहिये। और विस्तार तेवीसवां गुणा। यहीं क्रम सब तीर्थंकरों के समवशरण की सीढ़ियां और वीथियों का समझना चाहिये।

वीथीनां द्वयपार्श्वेषु द्वे वेद्यौ स्फटिकद्युती ।
वीथीदीर्घसमायामे उच्चैर्जिनचतुर्गुणे ॥५३॥

अर्थात्—वीथियों के दोनो पार्श्वभाग में स्फटिक के समान कान्तिवाली दो वेदी हैं। उनकी लम्बाई जितनी वीथियो की लम्बाई है उतनी ही है। और ऊँचाई जिन भगवान् से चतुर्गुणी समझनी चाहिये।

शतानि सप्तपञ्चाशद्धनूंष्याद्ये प्रविस्तृते ।
एकत्रिंशत्पादोने परेष्वर्द्धोऽन्तिके द्वयोः ॥५४॥

अर्थात्—श्रीवृषभनाथ जिनेन्द्र के समवशरण में वेदिका का विस्तार सातसौ पचास धनुष का था। और आगे श्री नेमिनाथ स्वामी पर्यन्त पौने इकत्तीस धनुष हीन समझना चाहिये। अन्तिम श्री पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान के समय में वेदिका का विस्तार आधा आधा है। अर्थात् जो विस्तार नेमिनाथ के समय में था उससे आधा पार्श्वनाथ के समय में और जो पार्श्वनाथ के समय में था उससे आधा वर्द्धमान स्वामी का समझो।

चतुः सालास्तथा वेद्यः पञ्चाष्ट क्ष्माः त्रिपीठकम् ।
मध्ये गन्धकुटी नाम प्रासादः सर्वदर्शिनः ॥५५॥

अर्थात्—चार प्राकार, पांच वेदिका, आठ पृथ्वी और तीन पीठ हैं। इनके बीच में सर्वज्ञ भगवान् की गन्ध कुटी है।

शिलातले परीयाय शालो वेदी तु वेदिका ।
शालोथ बेदिका सालो वेदी शालास्तु वेदिका ॥५६॥

अर्थात्—शिलातल में क्रम से पहले प्राकार फिर वेदिका इसीतरह चार प्रकार और पांच वेदिकायें हैं।

एतदन्तर्धराश्चाष्टौ प्रासादश्चैत्यखातयोः ।
लतोपवनकेतूनां कल्पांगगृहसद्गणाः ॥ ५७ ॥

अर्थात्—इनके बीच में चैत्यपृथ्वी, खातपृथ्वी, लतापृथ्वी, उपवनपृथ्वी, ध्वजापृथ्वी, कल्पांगपृथ्वी, गृहपृथ्वी और सद्गणपृथ्वी, इसतरह आठ पृथ्वी हैं।

अब इन आठों भूमियों का क्रम से वर्णन कहते हैं—

एकैकं मन्दिरं जैनं प्रासादाः पञ्चकं ततः ।
अम्राद्या भान्ति सद्वाप्यो वनान्याद्य धरातले ॥५८॥

अर्थात्— पहली चैत्य नाम की भूमि में एक एक जिन मन्दिर, पांच हर्म्य (आलय) तीन वापिकायें और बन हैं ।

स्वच्छाम्भो रत्नसोपानं मरालाद्यैर्मनोहरम् ।
नानाजलचरैः कीर्णमुच्छलद्वीचिशोभिनम् ॥५९॥
जिनोदयचतुर्थांशागाधं कल्हारपिञ्जरम् ।
द्वितीयं भूतलं खातं राजत्युत्फुल्लवारिजम् ॥६०॥

अर्थात्—दूसरी खात नामकी पृथ्वी, निर्मल जल की भरी, रत्नों की सीढ़ियों से संयुक्त, हंसादि उत्तम २ पक्षियों से मनोहर, नानातरह के जल जन्तुओं से भरी, जिसमें तरंगे उछल रही हैं, जिन भगवान् की जितनी ऊंचाई है उससे चतुर्थांश गहरी, कल्हार जाति के कमलों से पीली हो रही हैं और जिनमें कमल फूल रहे हैं ।
भावार्थ—जिसकी शोभा अनिर्वचनीय है।

सदेवद्वंद्ववल्यादिमंडपैर्द्योतते चिता ।
पुन्नागनागमुख्यागैस्तृतीया भूर्लताह्वया ॥६१॥

अर्थात्—तीसरी लता नाम की पृथ्वी देव, देवाङ्गनाओं से युक्त लतामंडपों से तथा पुन्नागवृक्ष नागवृक्षादि उत्तम २ तरुओं से शोभायमान हैं।

अशोकसप्तपर्णाख्यचम्पकाम्रलसद्वनैः ।
राजते वनभूर्दिक्षु क्रीडागैश्चैत्यवृक्षकैः ॥६२॥
तत्प्रत्येकैकवृक्षोऽस्ति त्रिशालान्तस्त्रिपीठगः ।
जिनविम्बचतुस्कंधो मानस्तंभचतुष्ककः ॥६३॥

अर्थात्—चौथी उपवन नाम की वसुन्धरा अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक, और आम्र इनचार प्रकार के वृक्षों के चार वनों से, तथा चैत्यवृक्ष और क्रीड़ा पर्वतों से शोभायमान हैं ।

उन चारों बनों में तीन कोट करके युक्त, तीनमेखलाओं के मध्य में रहने वाला, जिनप्रतिमा तथा चार मानस्तंभ से शोभित एक २ अपनी २ जाति वाले वृक्षों में से चैत्यवृक्ष होता है। इसश्लोक के खुलासा के लिये टिप्पणी में आदिपुराण के श्लोक लिखे देते हैं। *

नृत्यशालाः क्वचित्क्रीडापर्वता मन्दिराणि च।
रत्नसोपानपद्माङ्का वाप्यो नद्यश्च कुत्रचित् ॥६४॥
सिक्तास्तद्वनवापीनां जलैः पश्यन्ति जन्तवः।
भवमेकं गताऽऽगामिभवान् सप्त तदीक्षणात् ॥६५॥

अर्थात्—उस उपवन भूमि में कहीं तो क्रीड़ा करने के पर्वत हैं कही पर मन्दिर बने हैं कहीं पर रत्नों की सीढ़ियों वाली तथा कमलों से मनोहर वापिकायें हैं और कही पर नदियें बह रही हैं। उन उपवन की वापिकाओं तथा नदियो के जल से जिन लोगों का सिञ्चन किया जाय उन्हें अपने एक भव का वृत्तान्त मालूम हो जाता है और जिन लोगों को उन के साक्षात् देखने का मौका मिलता है उन्हें

---

* भ्रेजिरे बुध्नभागेऽस्य प्रतिमादिक्चतुष्टये।
जिनेश्वराणामिन्द्राद्यैः समवाप्ताभिषेचनाः ॥
यथाऽशोकस्तथाऽन्येऽपि विज्ञेयाश्चैत्यभूरुहाः।
वने स्वे स्वे सजातीया जिनबिम्बेद्धबुध्नकाः ॥
अशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकश्चूत एव च।
चत्वारोऽमी वनेष्वासन्प्रोत्तुङ्गाश्चैत्यपादपाः ॥

भावार्थ—उस अशोक वृक्ष के नीचे भाग मे चारों दिशाओं में इन्द्रादि देवताओं से अभिषेकादि से पूजित भगवान् की प्रतिमायें हैं। जिस तरह यह अशोक वृक्ष है उसी तरह उनचारों वनों में जिन भगवान् से युक्त चम्पक, सप्तर्पण तथा आम्र वृक्षों को भी समझना चाहिये। अशोक चैत्यवृक्ष, सप्तर्पण चैत्यवृक्ष, चम्पक चैत्यवृक्ष और आम्रचैत्यवृक्ष इस तरह चारों बनों में अपनी २ जाति के नामवाले चार चैत्यवृक्ष हैं।

व्यतीत हुवे और आगामी होने वाले सात भवों का वृत्तान्त मालूम पड़ जाता है।

सिंहेभोक्षशिखिस्रक्खताक्षेचक्राब्जहंसकैः ।
दिशं प्रत्येककेतूनां शतमष्टोत्तरं पृथक् ॥६६॥
केतुभूश्चतुराशासु भात्यमीभिश्चतुर्गुणैः ।
मुख्यैः क्षुद्रध्वजैरष्टशतेनाभिहतैः परैः ॥६७॥

अर्थात्--पांचवीं ध्वजा नाम की वसुन्धरा के सिंह, हाथी, वृषभ, मयूर, माला, वस्त्र, गरुड़, चक्र, कमल और हंस इस तरह से दश भेद हैं। ये दशों प्रकार की ध्वजायें चारों दिशा में एक सौ आठ २ हैं। ६७ वें श्लोक में ध्वजाओं के परिवार का वर्णन है परन्तु हमारी समझ में इसका पदार्थ ठीक २ नहीं बैठा इस लिये अर्थ नहीं लिखा है। सब ध्वजाओं का जितना परिवार है वह संख्या आगे के श्लोक से खुलासा हो जायगी।

चतुर्लक्षाः सहस्राणि सप्ततिर्ध्वजभूतले ।
शतान्यष्टावशीतिश्च ध्वजसंख्या चतुर्दिशाम् ॥६८॥

अर्थात्--ध्वजा नाम की भूमि में चारों दिशाओ में जितनी ध्वजायें हैं उन सब की संख्या चार लाख सत्तर हज़ार आठ सौ अस्सी (४७०८८०) है।

अशीतिरंगुलान्यष्टौ दंडानां विस्तृतिर्मता ।
पञ्चविंशतिचापाश्चाऽऽद्येन्तरं हानिरन्यतः ॥६९॥

अर्थात्--उन ध्वजाओं के स्तंभों का विस्तार अठ्यासी अंगुल प्रमाण है और मध्यभाग पच्चीस धनुष प्रमाण है। यह विस्तार श्री वृषभ जिनेन्द्र के समवशरण की ध्वजाओं का है। शेष तीर्थकरों की ध्वजाओं का इस तरह नहीं है। *

---

* अष्टाशीत्यंगुलान्येषां रुन्द्रत्वं परिकीर्त्तितम् ।
पञ्चविंशतिकोदण्डान्यमीषामन्तरं विदुः ॥

भावार्थ–ध्वजस्तंभका विस्तार अठ्यासी (८८) अंगुल का है। और मध्य भाग पच्चीस धनुष प्रमाण है।

दशधा कल्पवृक्षैर्भूः षष्ठी कल्पद्रुमाख्यया ।
चकास्ति सुरसंयुक्तैः श्रीसिद्धतरुमिश्रितैः ॥७०॥
भाजनगृहभूषाङ्गवस्त्रभोजनपानदाः ।
ज्योतिःस्रग्वाद्यदीपाङ्गा दशधा कल्पभूरुहाः ॥७१॥

अर्थात्—देवता लोग तथा सिद्धार्थ वृक्ष से युक्त दश प्रकार के कल्पवृक्षों से शोभित कल्पतरु नाम की छठी वसुन्धरा है। वे कल्पवृक्ष, भोजन, गृह, भूषणाङ्ग, वस्त्र, भाजन, पानाङ्ग, ज्योतिषाङ्ग, माला, वाद्य, और प्रदीपाङ्ग इस तरह दश प्रकार के हैं।

त्रिशालांतस्थपीठत्रिमूर्द्धिसिद्धार्थपादपाः ।
दिशां नेमरुमन्दारसन्तानाः पारिजातकः ॥७२॥

अर्थात्—तीनों प्राकारों के मध्य में स्थित तीनों पीठों के ऊपर नमेरु, मन्दार, सन्तान और पारिजात ये चार सिद्धार्थ वृक्ष हैं। पा

मूले तेषां चतुर्दिक्षु प्रतिमाः सिद्धरूपकाः ।
दिव्यरत्नमयाधस्थानिधानैस्ते मनोहराः ॥७३॥

अर्थात्—उनचारों सिद्धार्थ वृक्षों के मूल भाग में चारों दिशाओं में सिद्ध प्रतिमायें हैं । वे प्रतिमायें नाना प्रकार के दिव्य रत्नों से भरे हुवे नीचे भाग में स्थित खजानों से शोभायमान हैं।

शालत्रयादिमध्यस्था मूले च प्रतिमाङ्किताः ।
मानस्तंभाश्चतुर्दिक्षु चत्वारः प्रतिपादपम् ॥७४॥

अर्थात्—तीनों प्राकारों के मध्य में रहने वाले और मूल भाग में प्रतिमाओं से युक्त चार मानस्तंभ चारों दिशाओं में प्रत्येक सिद्धार्थ वृक्ष के पास में हैं।

क्वचिद्वाप्यो मनोहर्यः क्रीडाशालाः क्वचिद्भुवि ।
नृत्यशालाः क्वचिद्भान्ति बहुभूमिगृहाः क्वचित् ॥७५॥

अर्थात्—कही पर तो मनोहर वापिकायें हैं कहीं पर क्रीड़ा करने की शालायें हैं कहीं पर नृत्य शालायें शोभा दे रही हैं और कही पर बड़े २ मकान बने रहे है। हुवे

नृत्यद्गायत्सुरैः पूर्णा जिनार्चास्नपनोद्यतैः ।
भूषयन्ति गृहा रम्याः सप्तमीं गृहकाश्यपीम् ॥७६॥

अर्थात्—जिन भगवान् की पूजन तथा अभिषेक के लिये तत्पर और नृत्य करने वाले तथा गाने वाले देवता लोगों से भरे हुवे मनोहर गृह, सातमी गृह नाम की भूमि को अलंकृत करते हैं।

स्वच्छस्फटिकशालान्तः कोष्ठा द्वादश भान्ति हि ।
विचित्रभूतिसंकीर्णे मुक्तालम्बूषसुन्दरे ॥७७॥
श्रीमंडपे गणक्ष्मार्यां रत्नस्तभैः समुद्धृते ।
आकाशस्फटिकाच्छाभिर्बद्धाः षोडशभित्तिभिः ॥७८॥

युग्मम्

स्फटिक भावार्थ—नाना प्रकार की सम्पदा से पूर्ण, जिसमें चारों ओर मोतियों की मालायें लटक रही हैं और रत्नों के स्तंभों का जिसे आधार है ऐसे श्री मंडप में आकाश स्फटिक के समान निर्मल सोला भित्तियों से युक्त बारा कोठे हैं।

तेषु मुन्यप्सरःस्वार्याद्यौतिभोमासुरास्त्रियः ।
नागव्यन्तरचन्द्राद्याः स्वर्भूनृपशवः क्रमात् ॥७९॥

अर्थात्—उन बारा ही कोठों में क्रम से मुनि, कल्पवासी देवों की देवाङ्गना, आर्या, ज्योतिषी देवों की स्त्रियें, व्यन्तर देवों की स्त्रियें, भवनवासी देवताओं की स्त्रियें, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी, मनुष्य और पशु बैठते हैं।

वैडूर्यस्वर्णमाणिक्यमयं पीठत्रयं ततः ।
अष्टचतुश्चतुश्चापप्रांशूपर्युपरिस्थितम् ॥८०॥

अर्थात्—श्री मंडप के मध्यभाग में वैडूर्यमणि, स्वर्ण और माणिक्य से बने हुवे तीन पीठ हैं। ये क्रम से आठ धनुष, चार धनुष तथा चार धनुष ऊंचे हैं और एक के ऊपर एक स्थित हैं।

सोपानाः षोडशाष्टाष्टौ नानारत्नविचित्रिताः ।
क्रमशस्त्रिषु पीठेषु चतुर्मार्गेषु भान्ति ते ॥८१॥

अर्थात्—उन तीनों पीठों में क्रम से सोलह, आठ और आठ सीढ़ियें अनेक तरह के रत्नों की बनी हुई हैं। ये सीढ़ियें चारों तरफ समझनी चाहिये।

शतानि सप्तपञ्चाशत्पुनश्चापाः शतद्वयम्।
वृषभस्य परेषां तु हानिः पीठत्रिविस्तृतौ ॥८२॥

अर्थात्—श्री वृषभ नाथ भगवान् के समय में तीनों पीठों का विस्तार सात सौ पचास (७५०) धनुष और शेष तीर्थंकरों के समय में पांच सौ पचास (५५०) धनुष का समझना चाहिये।

क्रोशौ द्वावाद्यपीठस्य सूची स्यात्सर्वतः समा।
परिधिस्त्रिगुणा ज्ञेया वलयाकारसंस्थितेः ॥८३॥

अर्थात्—पहली पीठ की सूची दो कोश की है तथा चारों तरफ समान है। और वलयाकार स्थिति से उसकी परिधि तीन गुणी समझनी चाहिये।

कृताञ्जलिभिरानम्रमस्तकैर्भक्तितः स्थितैः।
स्फुरद्भिर्धर्मचक्रैस्तदुद्धृतैर्यक्षनायकैः ॥८४॥
अनेकपूजनैर्द्रव्यैर्भृङ्गाराद्यष्टमंगलैः।
चतुर्दिक्षु समुद्भाति पीठमाद्यं कृतार्चनम् ॥८५॥

अर्थात्—जो अपनी अञ्जली को ललाट भाग में लगाये हुवे हैं, जिनके मस्तक नम्र होरहे हैं, और भक्ति पूर्वक खडे हुवे, ऐसे यक्षों से हाथ में धारण किये हुवे, देदीप्यमान धर्म चक्र, अनेक प्रकार के पूजनद्रव्य तथा, भृङ्गार, कलश, दर्पण, आदि आठ प्रकार के मङ्गल द्रव्यों से भूषित पहला पीठ चारोदिशाओं में मनोहर शोभा को धारण किये हुवे है।

प्रथमं पीठमारुह्य सर्वे गणधरादयः।
जिनं प्रदक्षिणीकृत्य पूजयित्वा मुखं मुखम् ॥८६॥
असंख्यगुणश्रेणीनि छित्वा कर्माणि संस्तवैः।
स्वान्सोपानान्समुत्तीर्य स्वं स्वं कोष्ठं श्रयन्ति ते ॥८७॥

अर्थात्—गणधरादि सम्पूर्ण लोग पहले पीठ पर चढ़कर और जिन देव को प्रदक्षिणा देकर चारों दिशाओं में चतुर्मुख जिनदेव की यथा योग्य पूजन करते हैं। तथा जिन देव के भक्ति पूर्वक स्तवनादि से असंख्यात गुण कर्मों का नाश करके अपने अपने मार्ग से उतर कर अपने २ कोठे में बैठते हैं।

चक्रेभसिंहमालोक्षव्योमपक्षीशपद्मकैः।
ध्वजैः ककुप्सु चाष्टासु निधिभिर्नवभिस्ततैः ॥८८॥
अष्टभिर्मङ्गलैर्नानार्चाद्रव्यैर्धूपसद्घटैः।
अनेकाश्चर्यकारीदं पीठं भात्यर्थितं परम् ॥८९॥

अर्थात्—नाना तरह के आश्चर्य को उत्पन्न करने वाला दूसरा पीठ, चक्र, सिंह, हाथी, माला, ऊंट, वस्त्र, गरुड़, और कमल आदि दश प्रकार की ध्वजाओं से, चारों तरफ विस्तृत नवनिधियों से, कलश, चामर, दर्पणादि आठ मंगल द्रव्यों से, अनेक प्रकार के पूजन द्रव्यों से और धूप के उत्तम उत्तम कलशों से अतिशय शोभा को धारण किये हुवे हैं।

षट्शतायामविस्तीर्णा धनुर्नवशतोच्छ्रितिः।
आद्येऽन्येषु क्रमान्यूना प्रस्फुरद्रत्नदीपिका ॥९०॥
गोशीर्षादिसुगन्ध्युत्थधूपधूमाङ्किता चिता।
रत्नैः पुष्पैर्ध्वजैः पीठे तृतीये गन्धकुट्टिका ॥९१॥

अर्थात्—सब के ऊपर के तृतीय पीठ पर छहसौ धनुष लम्बी और इतनी ही चौड़ी तथा नवसौ धनुष ऊँची, जिसमें रत्नों की दीपिकायें प्रज्वलित हो रही हैं, चन्दनादि अन्यन्त सुगन्धित धूप के जलने से धूम से व्याप्त हो रही हैं तथा अनेक तरह के रत्न, अत्यन्त सुगन्धित पुष्प और ध्वजाये जिसकी चारों ओर अद्भुत शोभा को दे रहे हैं ऐसी जिन भगवान के विराजने की गन्ध कुटी है। ऊपर कहा हुआ गन्धकुटी का प्रमाण श्री वृषभ जिनेन्द्र के समय में समझना चाहिये और तीर्थंकरों में क्रम से न्यूनता है।

तत्र सिंहासनं चारु घटितं स्फाटिकोपलैः।
जटितं बहुमाणिक्यैर्घन्टाद्यैश्च विराजते ॥९२॥

अर्थात्—उसी गन्धकुटी के ऊपर अत्यन्त मनोहर, और नाना प्रकार के उत्तम उत्तम रत्नों से जड़ा हुआ स्फटिकमयी एक सिंहासन है। तथा घण्टादि से

तन्मध्ये कोमलं पूतं शोणिताब्जमनूपमम् ।
सहस्रदलमत्रान्तः कर्णिकायां नभोङ्गणे ॥९३॥
चतुरङ्गुलमानेऽर्हन्साश्चर्यं सन्निविष्टवान् ।
सालोकं लोकमापश्यन् जानन्वक्ति शुभाशुभम् ॥९४॥

अर्थात्—उस सिंहासन के बीच में अत्यन्त कोमल, पवित्र और जिस की उपमा के लायक कोई नहीं है ऐसा हजार दल वाला लाल कमल है। उसकी बीच की कर्णिका में चार अङ्गुल अन्तरीक्ष आकाश में जिन भगवान् लोकाकाश तथा अलोकाकाश को देखते हुवे विराजमान होते हैं। और जीवों के शुभाशुभ को जान कर यथार्थ प्ररूपण करते हैं।

क्षुधादिदोषनिर्मुक्तः सर्वातिशयभासुरः ।
प्राप्तानन्तचतुष्कोसौ कोट्यादित्यसदृक्प्रभः ॥९५॥
प्रातिहार्याष्टभूतीशस्त्रिसन्ध्यं क्षणदान्तरे ।
प्रभुः षण्णाडिका यावत्सूत्रार्थं ध्वनिना वदेत् ॥९६॥

अर्थात्—क्षुधा, पिपाशा, जरा, आतङ्क जन्म, मरण, शोक, भय, चिन्ता, प्रस्वेदादि अठारह प्रकार के दोषों से रहित तथा दश जन्म के, दश केवलज्ञान के, और चौदह देवताओं के इस तरह चौंतीस अतिशयों से विराजमान, जिन्हें अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गये हैं, अष्ट प्रातिहार्यों से शोभित, और जिनकी शरीर की कांति कोटि सूर्य से भी अधिक है ऐसे त्रिभुवन स्वामी श्री जिनदेव अपनी मेघसमान दिव्य ध्वनि से प्रातःकाल, मध्यान्ह काल, सायंकाल और आधीरात्रि में, तत्व का उपदेश नियम पूर्वक करते रहते हैं। रात्रि के समय जो दिव्यध्वनि होती है वह छह नाड़िका का जितना समय होता है उतने समय तक होती है। एक नाड़िका एक घड़ी की होती है।

इन श्लोकों में सर्वज्ञ देव का स्वरूप वर्णन किया गया है। स
के पहले विशेषण में उन्हें क्षुधादि अठारह प्रकार के दोषों से र
बताये हैं। परन्तु हमारे श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले उसे ठीक न
बताते हैं। वे कहते हैं—जब यह बात हम अपनी दृष्टि से देख
हैं कि आहारादिके विना शारीरिक स्थिति नहीं रह सकती पि
केवली भगवान् के शरीर की स्थिति क्यो कर आहार के विना
सकेगी ? परन्तु यह उनकी कल्पना बिल्कुल असंगत है। यह ब
हम भी मानते हैं कि संसारी जीवों की शरीर की स्थिति आहारा
के विना रहना मुश्किल ही नहीं किन्तु नितान्त असंभव है। रहे! पर
क्या इस कथन से श्वेताम्बरी लोग यह भी स्वीकार करेंगे कि केवल
भगवान् भी संसारी लोगो के समान हैं। यदि वे इसे स्वीकार क
तो फिर उनका केवली को प्रभुत्व मानना निरर्थक है। यदि वे इसे
नही मानेंगे तो उन्हें और कितने केवली भगवान् के अतिशय मा
नना पड़ते हैं उसी के अनुसार आहारादिक की निवृति रूप भी एक
और अतिशय मानना पड़ेगा।

दूसरे जिन भगवान् को जब अनन्त चतुष्टय का अधिपति कहते
हैं फिर उनसे हमारा इतनाही पूछना है कि केवली भगवान् को क्षुधा-
दिकों की प्रवृति मानने से अनन्तशक्तित्व पने का उन्हों में निर्वाध
निर्वाह हो जायगा या नहीं ? खेद तो इसी बात का है कि अनन्त
चतुष्टयभी बताना और आहारादिक की भी कल्पना करना। यह
कैसे बन सकता है यह कहना मेरी समझ में माता को वन्ध्या कहने के
समान है। इसे कौन बुद्धिमान् मानेगा।

और भी एक बात यह है कि जब हम लोग भोजनादि करते हैं
उसी के साथ में हमारे पीछे शौचादि की भी बाधाओं का अन्वय
व्यतिरेक सम्बन्ध है। केवली भगवान् को भी यह बाधा स्वीकार
करना पड़ेगी, कदाचित् यह कहो कि यह तो उनका अतिशय है, तो
भोजन के करने पर भी उन्हें ये बाधायें बाधित नहीं करतीं तो फिर
उसी तरह आहारादिकों का अभाव स्वरूप ही एक और अतिशय
क्यों न कल्पना कर लिया जाय जिससे इतनी विडम्बना का पहले से
ही सूत्रपात न हो।

अच्छा यह तो कहो कि जब केवली भगवान् आहार करते हैं वह समवशरण मे ही या कहीं अन्यत्र? और समवशरण में भी गन्ध कुटी से कोई दूसरा स्थान है अथवा गन्ध कुटी के उपरही । मैं नहीं कह सकता इन लोगों की कैसी २ असंगत कल्पनायें हैं ज़िन के देखने से दांतों के नीचे अंगुली दबाना पड़ती है।

हां इसी सम्बन्ध में हमें एक बात और स्मरण हो आई है। वह यह है–हम यह पूछना चाहते हैं कि ये लोग जिस तरह गृहस्थों तथा मुनियों के आहार के समय अन्तरायों की कल्पना करते हैं उसी तरह केवली भगवान् के आहार के समय अन्तरायों की कल्पना करते हैं या नहीं ? यदि स्वीकार करेंगे तब जो दिगम्बरी लोगों का केवली को आहारादि का नही मानना है वही सुतरां सिद्ध हो जायगा। क्योंकि केवली भगवान् त्रैलोक्य के जानने वाले और देखने वाले है। इसमें नतो श्वेताम्बरियों को कुछ बिवाद है और न दिगम्बरी लोगों को। इससे यह सिद्ध होगा कि संसार मे जितना अच्छा वा बुरा कृत्य उस समय में होता होगा वह चराचर केवली भगवान् को मालूम पड़ता ही होगा। कहीं पर जीवों की दुष्ट लोग हिंसा करते हैं, कहीं कोई किस तरह का दुष्कृत्य कर रहा है इत्यादि कर्मों को प्रत्यक्ष देखते हुवे करुणासागर केवली भगवान् आहारादि कभी नही कर सकते। इतने पर भी यही दुराग्रह बना रहे तो हम फिर कभी उन में जिनत्व की कल्पना ही नहीं कर सकते।

यदि कदाचित् अन्तराय स्वीकार न करें तो भी कितनी बुरी बात है कि जिस खोटे काम के देखने से गृहस्थ लोग तक आहार का परित्याग कर देते हैं उसी से त्रैलोक्य के नाथ को घृणा न उपजे यह कितने आश्चर्य की बात है।

इन लोगों की केवल यही कल्पना नहीं है किन्तु ऐसी २ सैकड़ो असंगत कल्पनायें है यदि मौका मिला तो "श्वेताम्बर पराजय" नामक स्वतंत्र ग्रन्थ में खूब खुलासा वर्णन करेंगे।

सच बात तो यह है कि जिन लोगो की कल्पनायें आधुनिक होती हैं वे कहां तक ठीक कही जा सकेंगी यह बात विचारणीय है।

जैनमश्वासरोधं वो गंभीरं सर्वकायजम्।
निर्दोषं सर्वभाषात्म्यं वर्णातीतं वचोऽवतात् ॥९७॥

अर्थात्—जिसमें श्वास का निरोध नहीं है, गंभीर, सर्व शरीर से उत्पन्न होने वाला, निर्दोष, जिसमें सर्व भाषा का समावेश रहता है। भावार्थ—दिव्य ध्वनि का यह महात्म्य रहता है कि समवशरण में जितनी जाति के लोग रहते हैं वे सब अपनी भाषा में समझ लेते हैं। और जो अक्षर स्वरूप नहीं है ऐसा जिन भगवान् का वचन तुमलोगों की रक्षा करें।

इन्द्रचापच्छविः शाल आद्योऽन्यस्तप्तकाञ्चनः।
रुक्मस्फटिकवर्णौ द्वौ वेदिका रुक्महेमभाः ॥९८॥

अर्थात्—इन्द्र धनुष के समान कान्ति को धारण करने वाला पहला प्राकार है। दूसरा तप्त सोने के समान है और तीसरा तथा चौथा प्राकार क्रम से चांदी तथा स्फटिक के समान कान्ति वाले हैं। और वेदिकायें चांदी तथा सोने की प्रभा के समान प्रभावाली हैं।

सर्वेषां तीर्थकर्तॄणां समवश्रतिकाऽवनेः।
शतानि पञ्चषट्सप्तत्युत्तराण्यंशकाः स्मृताः ॥९९॥

अर्थात्—चौबीसों तीर्थंकरों के समवशरण की वसुन्धरा के पांच सौ छिहत्तर (५७६) अंश (भाग) समझने चाहिये।

तत्रैकादश भागास्युः प्राकारेषु चतुर्ष्वपि।
धूल्यादिस्फाटिकान्तेषु द्विचतुश्चतुरेकका: ॥१००॥

अर्थात्—उस समवशरण में धूलि शाल प्राकार से लेकर स्फटिक मणिमयी प्राकार पर्यन्त चारों प्राकारों में क्रम से दो, चार, चार और एक (२।४।४।१) इस तरह ग्यारा भाग होते हैं।

वेदीषु पञ्चसु ज्ञेया बाह्याद्भागास्त्रयोदश।
द्वौ चत्वारश्च चत्वारो द्वावेको व्यासगोचरः ॥१०१॥

अर्थात्—पांचों वेदिकाओं में बाहिर से दो, चार, चार, दो और एक (२।४।४।२।१) इस तरह क्रम से तेरह भाग समझनें चाहिये।

शतद्वयं द्विपञ्चाशद्भागा अष्टसु भूमिषु ।
द्वाविंशतिश्चतुश्चत्वारिंशद्वयोश्चतसृषु ॥१०२॥
द्वाविंशतिश्च सप्तम्यामष्टम्यां दश मंडपे ।
शतयुग्मं द्विपञ्चाशदेवं भागे द्वितीयके ॥१०३॥

भावार्थ—चैत्य, खात, लता, उपवन, केतु, कल्पवृक्ष आदि आठ भूमिये हैं उनमें क्रम से बावीस, बावीस, चवालीस, चवालीस, चवालीस, चवालीस, बावीस, और दस (२२ । २२ । ४४ । ४४ । ४४ ४४ । २२ । १०) क्रम से इस तरह दो सौ बावन भाग है ।

षट्पीठीगन्धकुट्योश्च चतुर्विंशतिरेकतः ।
षट्सप्तत्युत्तराण्येवमंशाः पञ्चशतानि च ॥१०४॥

अर्थात्—षट्पीठी और गन्धकुटी के चौवीस (२४) भाग हैं इस तरह ये सब भाग मिलाकर पांच सौ छिहत्तर (५७६) अंश (भाग) होते हैं ।

इत्यंशकसंख्या

आद्ये धनुःशतीपञ्चपञ्चाशद्दणमष्टसु ।
पञ्चस्वतोदशन्यूनान्यतः पञ्चाष्टसु क्रमात् ॥१०५॥
सोनपादद्वयं युग्मे धनुस्तीर्थकृदुन्नतिः ।
उच्छ्रतिः शालवेदीनां जिनदैर्घ्याच्चतुर्गुणा ॥१०६॥

अर्थात्—श्री वृषभजिनेन्द्र के शरीर की ऊंचाई पांच सौ धनुष की थी, वृषभ जिनेन्द्र को छोड़कर पुष्पदन्त स्वामी पर्यन्त पचास २ धनुष न्यून समझनी चाहिये । आगे श्री अनन्तनाथ तीर्थंकर पर्यन्त दश २ धनुष न्यून, श्री अनन्तनाथ को छोड़कर आगे आठ तीर्थंकरों की (नेमिनाथ पर्यन्त) पांच २ धनुष न्यून ऊंचाई है, और पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान तीर्थंकर के शरीर की ऊंचाई सात २ हाथ की है ।

और प्राकार तथा वेदिकाओं की ऊंचाई जिनदेव से चतुर्गुणी समझनी चाहिये ।

शाला मूलक्रमाद्धीना वेदिकाः सर्वतः समाः ।
नवाऽपि केतुभिर्भान्ति सच्चर्याऽट्टालकैर्गृहैः ॥१०७॥

अर्थात्—प्राकारतो नीचे के भाग से क्रम से हीन है अर्थात् जो चौड़ाई ऊपर की है वह मूल भाग में नहीं है। और वेदिकायें चारों तरफ से एक ही सरीखी है। ये सब ही ध्वजाओं से तथा जिन ~~सके~~ के उत्तम २ अट्टालक (मकान का पृष्ठ भाग) हैं ऐसे गृहो से शोभायमान हैं।

तदेकं गोपुरद्वारं हैमं षड् राजितानि वै ।
हरिन्मणिमये द्वे च राजन्ते बहुरत्नकैः ॥१०८॥

अर्थात्—प्राकार और वेदिकाओं के जो गोपुरद्वार हैं उनमें एक सुवर्ण का बना हुआ, छह चांदी के बने हुवे और दो हरिन्मणि के बने हुवे हैं। ये सर्व गोपुरद्वार नाना प्रकार के रत्नों से शोभायमान हैं।

प्रसादा गोपुरस्तूपा मानस्तंभा ध्वजाद्रयः ।
क्रीडामन्दिरसन्नृत्यशालाकल्पमहीरुहाः ॥१०९॥
क्रीडाशालाश्च चैत्यानामालयाः कोष्ठकानि च ।
चैत्यमंडपसिद्धार्थाऽशोकाद्यस्त्वादशाहताः ॥११०॥

यद्यपि इन श्लोकों का अर्थ कठिन नहीं हैं परन्तु अन्तिम चरण का तात्पर्य ठीक २ न खुलने से नहीं लिखा है। पाठक मूल ग्रन्थ से समझ लें।

द्वारेषु त्रिषु सद्दंडाञ्ज्योतिष्का धारयन्त्यथ ।
द्वयोर्यक्षा द्वयोर्नागा द्वयोःकल्पामरा वराः ॥१११॥

अर्थात्—उन नव द्वारों मे से तीन द्वारों में तो ज्योतिषी देव दंड को धारण किये हुवे हैं। दो द्वार में यक्ष लोग, दो द्वार में भवन वासी देव और दो द्वार में स्वर्ग के देवता दंड को धारण किये हुवे रहते हैं।

चतुर्दिक्स्थायवीथीषु मानस्तंभाश्चकासति ।
शालत्रितयमध्यस्थत्रिपीठोपरिवर्त्तिनः ॥११२॥

अर्थात्—आदि की वीथियों में, तीनों आकारों के बीच में स्थित तीनों पीठों के ऊपर रहने वाले चार मानस्तंभ चारों दिशाओं में हैं।

ते च मूलाच्चतुष्कोणा वर्त्तुला उपरिस्थिताः।
विचित्रा भान्ति घन्टाद्यैर्मूर्द्धस्थजिनबिम्बकाः ॥११३॥

अर्थात्—वे चारों मानस्तंभ नीचे के भाग में तो चतुष्कोण हैं। ऊपर के भाग में गोलाकार हैं। जिनके ऊपर जिनदेव की प्रतिमायें हैं और घण्टादिकों से अत्यन्त सुन्दर हैं।

प्रत्येकं कुण्डयुग्माढ्याश्चतुराशं चतुह्रदाः।
तेषां नामान्यतो वक्ष्ये पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ॥११४॥

अर्थात्—उनमानस्तंभों के चारों ओर दो २ कुण्डों से युक्त चार २ ह्रद (वापिकायें) हैं उन सबों के नाम पूर्वादि दिशाओं के क्रम से कहता हूँ।

आद्या नन्दोत्तरा नन्दा नन्दवन्नन्दघोषिका।
विजया वैजयन्ती च जयन्त्याख्याऽपराजिता ॥११५॥
अशोका सुप्रतीबुद्धा कुमुदा पुण्डरीकिणी।
चित्तानन्दा महानन्दा सुप्रबुद्धा प्रभंकरी ॥११६॥

अर्थात्—क्रम से नन्दोत्तरा, नन्दा, नन्दवत्, नन्दघोषिका, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, अशोका, सुप्रतीबुद्धा, कुमुदा, पुण्डरीकिणी, चित्तानन्दी, महानन्दा, सुप्रबुद्धा और प्रभंकरी इस तरह ये सोलह ह्रद (वापिकायें) हैं।

स्वच्छपानीयपूर्णानां संछन्नानां महोत्पलैः।
आसां श्रियं प्रशक्नोति वक्तुं शक्रोपि नाखिलाम् ॥११७॥

अर्थात्—अत्यन्त निर्मल जल से पूर्ण भरी हुई और जिन में कमल इतने प्रफुल्लित हो रहे हैं जिनसे बिल्कुल ढकी हुई मालूम पड़ती हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इन वापिकाओं की शोभा को अच्छी तरह

से वर्णन करने को इन्द्र भी समर्थ नही है तो फिर हम सरीखे मतिहीन पुरुष कहांतक पार पासकेंगे ?

इति मानस्तंभवर्णनम्

त्रिभूमी आद्यवीथीषु द्वे द्वे स्तो नृत्यशालिके ।
पार्श्वद्वये च तत्पार्श्वे द्वौ द्वौ धूपघटौ स्मृतौ ॥११८॥

अर्थात्—पहली वीथियों में तीन २ मजली दो दो नृत्यशालायें हैं । नृत्यशालाओं के दोनों पार्श्वभाग में दो दो धूप के घट समझने चाहिये ।

ऐकैकनृत्यशालायां द्वात्रिंशत्प्रेक्षणीयका: ।
ऐकैकस्मिंश्च नृत्यन्ति द्वात्रिंशद्भावनाङ्गना: ॥११९॥

अर्थात्—एक २ नृत्यशालामें बत्तीस २ रङ्गभूमियें हैं और एक २ रङ्गभूमि में बत्तीस २ भवनवासी देवों की देवाङ्गनायें नृत्य करती रहती हैं ।

एवं चतुर्थवीथीषु नृत्यशालादय: स्मृता: ।
परमत्रप्रनृत्यान्ति वैमानामरकन्यका: ॥१२०॥

अर्थात्—इसी तरह चौथीभूमि की वीथियों में नृत्यशालादि समझनी चाहिये । किन्तु विशेष यह है कि इस वीथी में कल्पवासी देवों की कन्यायें नृत्य करती हैं ।

तद्द्विगुणा नाट्यशाला: षष्ठवीथीषु भान्ति च ।
परं पञ्चभुवस्त्वेता नृत्यज्ज्योतिष्कन्यका: ॥१२१॥

अर्थात्—छटी भूमि की वीथियों में, जो संख्या नृत्य शालाओं की ऊपर कह आये हैं उस से द्विगुणित समझनी चाहिये। परन्तु भूमियें तो पांच ही हैं । और इन में ज्योतिषी देवों की कन्यकायें नृत्य करती हैं ।

सप्तमीभूमिवीथिषु सच्छत्रध्वजमङ्गला: ।
सिद्धार्हत्प्रतिमाकीर्णा: स्तूपा नव नवार्हता: ॥१२२॥

अर्थात्—सातवीं भूमि की वीथियों में छत्र, ध्वजा, मङ्गल द्रव्यों से युक्त तथा सिद्धप्रतिमा अर्हन्त प्रतिमाओं से शोभित नव स्तूप (रत्न की राशि) हैं।

दिव्यरत्नमयाः सर्वेंऽशुस्फुरदम्बराः ।
तके चान्तरिता भान्ति रत्नानां शततोरणैः ॥१२३॥

अर्थात्—देदीप्यमान रत्नों से बने हुवे, जिनकी किरणों से आकाश मंडल पूर्ण हो रहा है ऐसे वे नव ही रत्नराशियें रत्नों के सौ (१००) तोरणों से अत्यन्त मनोहर मालूम पड़ती हैं।

अष्टानामपि भूमीनां वीथीनां पार्श्वयोर्द्वयोः ।
द्वारा वज्रकपाटाढ्या बह्वस्तोरणशोभिताः ॥१२४॥

अर्थात्—आठों ही वसुन्धराओं की वीथियों (मार्गों) के दोनों पार्श्वभाग में जो द्वार हैं वे वज्र मयी कपाटों से युक्त हैं और अनेक प्रकार के रत्नादिकों के तोरणों से शोभित हैं।

इति वीथीगतपदार्थवर्णनम् ।

प्राच्यां विजयकं द्वारमपाच्यां वैजयन्तकम् ।
प्रतीच्यां य जयन्ताऽऽख्यमुदीच्यामपराजितम् ॥१२५॥

अर्थात्—पूर्वदिशा में विजयक द्वार, दक्षिण दिशा में वैजयन्त द्वार, पश्चिम दिशा में जयन्त द्वार और उत्तर दिशा में अपराजित द्वार इस तरह क्रम से चारों दिशाओं में चार द्वार हैं।

षट्त्रिंशद्गोपुराणां स्युर्बहिरन्तरदेशके ।
द्वारस्य द्वयपार्श्वस्था निधयो मङ्गलानि च ॥१२६॥

अर्थात्—वाहिर भाग और भीतर भाग में छत्तीस गोपुर द्वार हैं और उन सब द्वारों के दोनों पार्श्वभाग में निधियें और मङ्गल द्रव्य हैं।

पाण्डुकालमहाकालाः पद्मनैसर्पमानवाः ।
शंखपिङ्गलरत्नाख्या एकैकोऽष्टशतप्रमाः ॥१२७॥

अर्थात्—पाण्डु, काल, महाकाल, पद्म, नैर्सप, मानव (मनुष्य)

शंख, पिङ्गल, और रत्न, इस तरह ये नव निधियें हैं और इन सब की संख्या एक २ सौ आठ २ हैं।

धान्यर्त्तवस्तुभाण्डानि वस्त्रप्रासादकाऽऽयुधान् ।
तूर्याभरणरत्नानि यच्छन्ति निधयः क्रमात् ॥१२८॥

अर्थात्—उपर्युक्त नव ही निधियें क्रम से धान्य, प्रत्येक ऋतु सम्बन्धि पदार्थ, भाजन, वस्त्र, आलय (गृह), आयुध, वाद्य, आभूषण और रत्न इन पदार्थों को देती हैं।

छत्रचामरभृङ्गारतालकुंभाब्दकेतवः ।
शुक्तिः प्रत्येकमाभान्ति मङ्गलान्यष्टकं शतम् ॥१२९॥

अर्थात्—उन गोपुरद्वारों में छत्र, चामर, झारी, व्यजन (पंखा) दर्पण, ध्वजा, और कलश ये आठों मङ्गल द्रव्य एक २ सौ आठ २ (१०८ । १०८) हैं।

चन्दनागुरुकर्पूरगोशीर्षादिधूपभृत् ।
गोपुरद्वार्द्वयेपार्श्वे त्वेकैको धूपसद्घटः ॥१३०॥

अर्थात्—चन्दन, अगुरु, कर्पूरादि अच्छी २ सुगन्ध वस्तुओं से बनी हुई धूप से भरे हुवे एक २ घट गोपुर द्वारों के दोनों पार्श्व भाग में हैं।

द्वाराणां रत्नसोपाना बाह्याभ्यन्तरदेशके ।
मध्ये पार्श्वद्वये शाले नृत्यस्य मणिनिर्मिते ॥१३१॥

अर्थात्—उन गोपुरद्वारों के बाहर और भीतर रत्नों की सीढियें बनी हुई हैं। और दोनों पार्श्वभाग में अनेक तरह की मणियों की बनी हुई दो नृत्यशालायें हैं।

सालानामुदयादुच्चस्तोरणोदय ईरितः ।
तस्मादप्यधिको ज्ञेयो गोपुराणां महोदयः ॥१३२॥

अर्थात्—जितनी ऊंचाई प्राकारों की है उस से अधिक ऊंचाई तोरणों की है और जितनी तोरणों की है उस से भी ज्यादा ऊंचाई गोपुरों की समझनी चाहिये।

सर्वेषु गोपुरेषु स्युस्तोरणा रत्ननिर्मिताः ।
सकुंभपुष्परत्नादिमालाघन्टाद्यलंकृताः ॥१३३॥

अर्थात्—सम्पूर्ण गोपुरों के तोरण उत्तम २ रत्नों के बने हुवे हैं तथा कलश, पुष्पमाला, रत्नमाला, और घन्टा आदिक अनेक पदार्थों से शोभित हैं।

इति गोपुरसम्बन्धिपदार्थसूचनम् ।

धूलीशालबाहिर्भागाः शतं मकरतोरणाः ।
अन्तर्भागाः स्युरेकैकं शतं माणिक्यतोरणाः ॥१३४॥

अर्थात्—धूलीसाल के बाहिर के भाग तो मकराकार सौ तोरणों से युक्त हैं। और भीतर के एक २ भाग माणिक्य के बने हुए सौ २ तोरणों से शोभायमान हैं।

संख्यातयोजने तत्र दक्षाः प्रवेशनिर्गमे ।
अन्तर्मुहुर्तमात्रात्स्युर्वृद्धाद्यास्तत्प्रभावतः ॥१३५॥

अर्थात्—संख्यात योजन वाले उस धूली शाल के भीतर जाने आने में असमर्थ वृद्धपुरुष आदि भी एक अन्तर्मुहुर्त मात्र से समर्थ हो जाते हैं। यह उसका प्रभाव है।

मिथ्यादृष्टिरभव्योप्यसंज्ञीकोपि न विद्यते ।
यश्चानध्यवसायोऽपि यः संदिग्धो विपर्ययः ॥१३६॥

अर्थात्—श्रीजिनदेव के समवशरण मे मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी, अनध्यवसायी, संशयज्ञानी तथा मिथ्यात्वी जीव नहीं रहते हैं।

तत्र मृत्युर्न नो जन्म न विद्वेषस्मरोद्गमौ ।
बुभुक्षा भीरुजापीडा कस्यापि च न विद्यते ॥१३७॥

अर्थात्—समवशरण में न तो कोई मरण को प्राप्त होता है न कोई जन्मलेता है न किसी को किसी से शत्रु भाव रहता है न कोई काम के बाणों से घायल होता है और न किसी के क्षुधा सम्बन्धी

तथा किसी के मय सम्बन्धी पीड़ा होती है। इसे केवल जिन भगवान् का प्रभाव कहना चाहिये।

असंख्याताः सुरास्तत्र संख्याताः पशवो नराः।
स्तोकमात्रेपि भूभागे प्रमान्त्यर्हत्प्रभावतः ॥१३८॥

अर्थात्—यह जिनदेव का माहात्म्य है अथवा यों कहो कि उनके पुण्य की पराकाष्ठा का उदाहरण है जो केवल थोड़ी सी समवशरण की पृथ्वी में असंख्याते देव और संख्याते मनुष्य तथा पशु समाजाते हैं।

चत्वारिंशद्भवनेशा द्वात्रिंशद्व्यन्तराऽधिपाः।
द्विर्द्वादशदिवाधीशाश्चन्द्रार्कौ सिंहचक्रिणौ ॥१३९॥

इति शतशक्रैः प्रणुतं ध्यायति यः समवशरणभवेन।
समरसबुद्ध्यार्हन्तं स भवति मुक्तो दिनैः कतिभिः॥१४०॥

अर्थात्—जो भव्यपुरुष अपने भवाताप से सन्तापित आत्मा के शान्ति के लिये, चौतीस भवनवासी देवों के इन्द्रों से, बत्तीस व्यन्तर देवों के इन्द्रों से, चौवीस कल्पवासी देवों के इन्द्रो से, चन्द्र, सूर्य, चक्रवर्त्ति तथा सिंह इस तरह सौ इन्द्रो से पूजित श्रीजिन देव का समवशरण के भाव से ध्यान करते हैं वे थोड़े ही दिनों में अविनाशी शिव सुख के भोगने वाले होते हैं।

समवशरणलक्ष्मीर्यादृगस्ति प्रभूता
कथयितुमिह वाचा तादृशीं कोपि नालम्।
तदपि हि जिनभक्त्या प्रेरितः किंचिदाख्यां
वदति जलधिमानं वालकोऽत्राद्भुतं किम् ॥१४१॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि जिन भगवान् के समवशरण की जो वास्तविक शोभा है उसे तो कोई भी कहने को समर्थ नहीं है। परन्तु जिन भगवान् की अखण्ड भक्ति से प्रेरणा किये हुवे मुझ सरीखे मन्दमति भी यदि कुछ वर्णन करें तो कोई आश्चर्य की वात नहीं है। क्योंकि यदि वालक समुद्र के प्रमाण को कहने लगे तो किसे आश्चर्य होगा।

भावार्थ—ग्रन्थकार का यह तात्पर्य है कि यह मैंने जो समव शरण का वर्णन किया है वह केवल भक्ति वश किया है वास्तव में वर्णन नहीं कर सकता क्योंकि जिसके वर्णन में बडे २ वाग्मी पुरुषों की भी जिह्वा स्तब्ध होजाती है वहां मेरी तो गणनाही क्या है।

भक्त्याऽर्हतः केवललब्धिसंयुजो
मेधाविना श्रीधनदेन निर्मिताम्।
शक्राज्ञया धर्मसदः स्थितां श्रियं
विलोक्य चक्रेऽर मुदं नरेश्वरः ॥१४२॥

अर्थात्—नवकेवल लब्धि से भूषित श्री जिन भगवान् की भक्ति से इन्द्र की आज्ञा पूर्वक बुद्धिमान् कुवेर से बनाई हुई समवशरण की शोभा को देख कर श्रेणिक महाराज अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुवे।

विशेष प्रार्थना यह कि—

इस अध्याय में समवशरण का वर्णन है। परन्तु मैं समवशरण की रचना से विल्कुल परिचित नहीं हूँ। इसलिये संभव है कि अनुवाद में कितनी जगह अर्थ विपर्यास हुवा होगा। पाठकों से सविनय प्रार्थना करता हूं जहां २ उन्हें भ्रम मालूम पड़े उसे मूल पाठ से ठीक करें। और मुझे अज्ञ समझ क्षमा प्रदान करें। यदि सूचना से अनुग्रहीत करें तो विशेष दया होगी जिसे पुनरावृत्ति में ठीक करदी जायगी।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्ते वासिना पंडित मेधाविना
विरचिते धर्मसंग्रहे समवशरणवर्णनो नाम
द्वितीयोऽधिकारः।

अथानन्देन भूपालः प्रजाभिः परिवारितः ।
धूलीगोपुरमध्यं स प्रविवेश यथाविधि ॥१॥

अर्थात्—समवशरण के देखने के बाद महाराज श्रेणिक अपनी प्रजा के साथ धूलीशाल प्राकार के गोपुरद्वार मे प्रवेश करते हुवे ।

अनेकाऽऽश्चर्यपूर्णं तत्प्रविलोक्यान्तरङ्गतः ।
वीथीपार्श्वद्वयेऽपश्यद्धवले नाटचशालिके ॥२॥

अर्थात् —अनेक तरह के आश्चर्यों से युक्त धूलीशाल के गोपुरद्वार की शोभा को देखकर महाराज श्रेणिक भीतर गये वहां पर वीथियों के दोनों पार्श्वभाग में दो नाटचशालायें देखी ।

एकैकस्यां त्रिशालासु द्वात्रिंशद्रङ्गभूमयः ।
द्वात्रिंशत्प्रतिभूम्येष भावनामरकन्यकाः ॥३॥
नर्त्तं नर्त्तं रसानेकान् गायं गायं जिनोत्सवम् ।
ददर्शाभिमुखं नम्रा ददतीः कुसुमाञ्जलिम् ॥४॥

अर्थात्—एक २ नाटचशाला में तीन २ शालायें और हैं उनमें बत्तीस रङ्ग भूमियों मे अनेक प्रकार के उत्तम २ अभिनय बताकर नृत्य करने वाली, जिन भगवान के उत्सवका गान करने वाली और सन्मुख पुष्पाञ्जलि को क्षेपण करने वाली भवनवासी देवों की बत्तीस २ कन्याओं को महाराज श्रेणिक देखते हुवे ।

तद्वीथ्यां बहु मध्येऽस्ति वृत्तेन्द्रमणिनीलभा ।
अनेकशोभया भूमी रम्या मानाङ्गणाऽभिधा ॥५॥

अर्थात्—उस वीथी के बीच में गोलाकार, इन्द्रनीलमणि की कान्ति के समान, और अनेक प्रकार की विचित्र शोभा से युक्त अत्यन्त मनोहर मानाङ्गण नाम की एक वसुन्धरा है ।

तन्मध्ये प्रथमः शालश्चतुर्गोपुरसुन्दरः ।
नृत्यद्ध्वजपताकोऽस्ति द्योतयन् गाः स्वरश्मिभिः ॥६॥

अर्थात्—उस पृथ्वी के बीच में चारगोपुरद्वारों से मनोहर, जिसमें ध्वजा और पताकायें उड़ रही हैं और अपनी किरणों से पृथ्वी मंडल की शोभा को बढ़ाने वाला पहला प्राकार है।

तदन्तर्वणखंडं हि नाना दिव्यतरुस्फुरत् ।
कोकिलाकलरावं तद्भाति किन्नरयुग्मकैः ॥ ७ ॥

अर्थात्—उस प्राकार के मध्य में अनेक तरह के शोभायमान वृक्षों से युक्त और जिस में कोकिलाओं का मनोहर शब्द हो रहा है ऐसा वन किन्नर देवों के मिथुनों (देव और देवाङ्गनाओं) से शोभा को धारण किये हुवे हैं।

तन्मध्ये लोकपालानां पूर्वादिषु पुराणि च ।
रम्याणीन्दोः कृतान्तस्य वरुणश्रीदयोः पृथक ॥८॥

अर्थात्—उस बनके बीच में पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में लोकपालों के सुन्दर पुर हैं। और चन्द्रमा, कृतान्त, वरुण तथा श्रीदय इनके अलग अलग हैं।

शालस्तदन्तरे भाति तदन्तर्वापिकावने ।
स्वस्वदिक्ष्वग्निनैऋत्यवातेशनां पुराणि वै ॥ ९ ॥

अर्थात्— उस वनके भीतर प्राकार है। प्राकार के भीतर वापिका और वन हैं। और अपनी २ दिशाओं में अग्नि, नैऋत्य, वायु इनके स्वामियों के पुर हैं।

विद्योतते ततः शालो विशालो दिक्षु गोपुरैः ।
तन्मध्ये त्रीणि पीठानि भान्त्युपर्युपरि स्थितम् ॥१०॥

अर्थात्—वनको उल्लंघन करके चारों दिशाओं में चार गोपुर द्वारों से शोभायमान उन्नत प्राकार है। उसके बीच मे तीन पीठ ऊपर २ स्थित हैं।

वैडूर्यहेमरत्नानां त्रयाणामुदयो वृषे ।
अष्टौ चत्वारिचत्वारश्चापाः शेषेषु हीयते ॥ ११ ॥

अर्थात्—श्री वृषभनाथ भगवान् के समय में क्रमसे वैडूर्य मणि, सुवर्ण तथा रत्नों के बने हुवे उन तीनों पीठों की ऊंचाई आठ, चार, तथा चार धनुष की थी और बाकी के तीर्थंकरों के समय में उतनी नहीं है ।

सोपानास्तच्चतुर्दिक्ष्वष्टचतुश्चतुराः क्रमात् ।
उच्छिन्नदीर्घविस्ताराः शोभन्ते मणिभासुराः ॥ १२ ॥

अर्थात्—उन तीनों पीठों की सीढ़ियें चारों दिशाओं में क्रम से आठ, चार और चार (८ । ४ । ४) हैं उनकी ऊँचाई और विस्तार बराबर नहीं है । और वे नाना तरह के रत्नों से देदीप्यमान है ।

आद्य द्वितीयपीठस्य विस्तारो नास्ति संप्रति ।
दंडाः सहस्रमेकं हि तृतीयस्याथ विस्तृतिः ॥१३॥
वृषभस्य परेषां तु हानिः स्वस्वानुसारतः ।
चतुर्विंशतिमो भागः क्रमशोर्द्धस्तदन्त्योः ॥१४॥

अर्थात्—प्रथम पीठ और द्वितीय पीठ का विस्तार जो श्री वृषभजिनेन्द्र के समय में था वह विस्तार श्री वर्द्धमान स्वामी के पीठों का नहीं है । किन्तु तृतीय पीठ का विस्तार एक हजार धनुष प्रमाण है । बाकी के तीर्थंकरों के पीठों का विस्तार अपने २ अनुसार चौबीसवां भाग न्यून है । और अन्त के दो तीर्थंकरों के पीठों का विस्तार आधा २ है । तात्पर्य यह है कि जो विस्तार नेमिनाथ का है उससे आधा पार्श्वनाथ का, और जो पार्श्वनाथ के पीठ का विस्तार है उससे आधा वर्द्धमान जिनेन्द्र का समझना चाहिये ।

मानस्तंभोऽस्ति तत्रादौ चतुष्कोणोऽन्यवर्तुलः ।
वज्रस्फटिकवैडूर्यमयो मूलादिषु क्रमात् ॥१५॥

अर्थात्—वहांपर आदि में चतुः कोण और ऊपर से गोलाकार मानस्तंभ है । वह मूल भाग, मध्य भाग और ऊपर के भाग में क्रम से वज्र, स्फटिक और वैडूर्य मणि से बना हुवा है ।

वृषभेशस्य विस्तारश्चापा ह्यून-सहस्रकम् ।
क्रमशो हानिरन्येषु चतुर्विंशांशको द्विषु ॥१६॥

अर्थात्—श्री वृषभनाथ जिनेन्द्र के मानस्तंभ का विस्तार नवसौ अठानवे (९९८) धनुष प्रमाण है । और शेष तीर्थंकरों के मानस्तंभ का विस्तार क्रमसे चतुर्विंशातिवें अंश हीन है ।

हानिर्धनूंषि ४१ हस्तौ द्वौ २ अंगुलयः ८
नेमिं यावत् । अन्त्यद्वयोः ४० २० ह० ३
अं० ४ ।

द्वादशाभिहतस्तस्योदयः स्वजिनदीर्घतः ।
योजनं साधिकं केचिदाहुराद्ये परेषु न ॥१७॥

अर्थात्—कितनों का तो मत है कि मानस्तंभ का विस्तार अपने २ जिन भगवान् के विस्तार से बारवें अंश न्यून है और कितनों का मत यह है कि वृषभनाथ स्वामी के मानस्तंभ का विस्तार एक योजन से कुछ अधिक कहने का है । शेष तीर्थंकरों के मानस्तंभ का इस तरह नहीं है ।

घंटाचामरसत्केतुरत्नफुल्लस्रगादिभिः ।
वरः स्वदर्शनादन्यमिथ्यामानप्रभंजनः ॥१८॥

अर्थात्—घंटा, चामर, ध्वजायें; रत्न, पुष्पमाल्य आदि पदार्थों से शोभित और अपने दर्शनमात्र से मिथ्यात्वियों के मान को नाश करने वाला है ।

तच्चूलायां चतुर्दिक्षु स्वेकैका प्रतिमार्हताम् ।
प्रातिहार्याष्टभी रम्या दृष्टिमात्रास्तकल्मषा ॥१९॥

अर्थात्—उस मानस्तंभ की चूलिका में एक २ अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा चारों दिशाओं में हैं । वे प्रतिमायें आठ प्रातिहार्यों से मनोहर तथा जिनके देखने मात्र से पाप का नाश हो जाता है ऐसे दिव्य स्वरूप वाली हैं ।

शालत्रयबहिर्भागे ह्रदा भान्ति दिशं प्रति ।
चत्वारः प्रोक्तनामानो रत्नसोपानतोरणैः ॥२०॥

अर्थात्—तीनों प्रकारों के बाहिर एक २ दिशा में चार चार ह्रद (वापिकायें) रत्नों की सीढियें तथा तोरणों से अत्यन्त शोभा को धारण करती हैं। उनके नाम पहले कह आये हैं।

इति मानस्तंभवर्णनम्

इति वीक्ष्य श्रियं चोर्वीं मानस्तंभसमीपगाम् ।
बहिर्भागमुपागत्य ह्रदकुंडान्याशिश्रियत् ॥२१॥

अर्थात्—इस प्रकार मानस्तंभों के समीप की बड़ी भारी शोभा को देख कर महाराज श्रेणिक बाहिर आये और वहां सरोवरों के कुण्डों के पास ठहरते हुवे।

निर्मलैस्तज्जलैः स्नात्वा पांशून् प्रक्षाल्य पादयोः ।
बहुजन्मजपापानि रजांसि च पवित्रितः ॥२२॥

अर्थात्—उन कुण्डों के निर्मल जल से अपने चरणों को धोकर स्नान करते हुवे। ग्रन्थकार कहते हैं कि महाराज श्रेणिक ने केवल अपने पावों की ही धूली को नहीं धोई है किन्तु जन्म २ के उत्पन्न हुवे पापों की रज को भी धोडाली है।

ह्रदवारीणि पत्राणि वनानां कुसुमानि च ।
समादाय क्रमात्पीठत्रयमारुह्य तस्थिवान् ॥२३॥

अर्थात्— महाराज श्रेणिक स्नानादि से पवित्र होकर पश्चात् सरोवर ~~के जल को, बनों~~ के पत्र पुष्पादिकों को अपने हाथ मे लेकर क्रम से तीनों पीठों पर चढ़कर स्थित हुवे।

मानस्तंभे चतुर्दिक्षु प्रतिमाः प्रतिमाः श्रिया ।
नुत्वा नत्वा पयोमुख्यैर्द्रव्यैरभ्यर्चयन्मुदा ॥२४॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक, चारों दिशाओं में मानस्तंभ की प्रतिमाओं को भक्ति पूर्वक नमस्कार करके और स्तुति करके जल,

चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्यादि द्रव्यो से हर्ष पूर्वक उनकी पूजन करते हुवे।

ततोऽन्यभागसोपानमार्गेणोत्तीर्य हर्षितः।
शालत्रयं समुल्लंघ्य क्रमाद्वीथीमुपेयिवान् ॥२५॥

अर्थात्—जिन प्रतिमाओं की पूजन करने के बाद दूसरी ओर की सीढ़ियों से उतर कर हर्ष पूर्वक तीनों प्राकारों को उल्लंघन करके क्रम से वीथी में आये।

तत्राऽपि पूर्ववच्छाले विशाले दृष्टवानसौ।
तत्पार्श्वयुग्मसद्धूपघटधूमातिवासिते ॥२६॥

अर्थात्—वीथियों में भी पहले के समान बहुत बड़ी दो नृत्य-शालाओं को देखी। वेनृत्यशालायें अपने दोनों पार्श्वभाग में उत्तम धूप के जलते हुवे घटों के धूम से अत्यन्त सुगन्धित हैं।

चैत्यप्रासादभूवीथीवेदीमूले सतोरणाः।
द्वारः प्रविश्य केचिच्च यान्ति तत्पार्श्वयोर्द्वयोः ॥२७॥

अर्थात्—कितने लोग चैत्यभूमि, प्रासादभूमि, वीथी, तथा वेदी के मूलभाग में तोरणों से शोभित द्वारों में प्रवेश करके उनके दोनों पार्श्वभाग में जाते हैं।

क्रीडित्वा तत्र वापीषु स्नात्वा लात्वाऽम्बुजानि च।
जिनमन्दिरमभ्यर्च्य पुनरायान्ति मागधम् ॥२८॥

अर्थात्—वहां पर नाना तरह की क्रीडाओं को करके और वापिकाओ में स्नान करके पवित्र कमल पुष्पों को अपने २ हाथो में लेकर जिन मन्दिरों की पूजन करते हैं और इसके बाद अपने देश में आते हैं।

एवं द्वाराणि वेदीनां शालानां कतिचित्क्रमात्।
निधिमंगलसद्धूपघटभाञ्ज्यतिलंघयन् ॥२९॥

कृताञ्जलिः स्तुवन्नाथं पश्यन्नृत्यानि भूतले।
शृण्वन्गीतानि नारीणां देवीनां च नभोङ्गणे ॥३०॥

सप्तमीगृहभूवीथ्यां गत्वा स्तूपान्नवैषकः ।
तेष्वर्हत्सिद्धरूपाणि स्तुत्वाऽऽनर्च यथाविधि ॥३१॥
त्रिभिः कुलकम्,

अर्थात्—महाराज श्रेणिक, इस तरह निधि, मङ्गलद्रव्य, और उत्तम धूपों के घटो से शोभित कितने, वेदी और प्राकारों के द्वारों को उल्लंघन करके अंजलि पूर्वक जिन भगवान् की स्तुति करते हुवे। इसके अनन्तर पृथ्वीतल में स्त्रियों के और आकाश मण्डल में देवाङ्गनाओं के नृत्यों को देखते हुवे और मधुर २ गीतों को सुनते हुवे सातमी गृह नाम की पृथ्वी की वीथी में आये । वहां पर नवस्तूपों को तथा उनमें स्थित अर्हन्त तथा सिद्ध भगवान् की प्रतिमाओं की स्तुति करके यथोक्तरीति से पूजन की ।

ततः स्फाटिकशालस्य भासुरं भाति गोपुरम् ।
प्रविश्य गणभूवीर्थी गत्वाऽऽद्यं पाठमारुहत् ॥३२॥

अर्थात्—इसके बाद स्फटिकमयी प्राकार के देदीप्यमान गोपुर में प्रवेश करके गणनाम की वसुन्धरा की ~~पृथ्वी~~ वीथी मे गये वहां जाकर पहले पीठ पर चढते हुवे ।

इति प्रवेशवर्णनम्

स चाद्यं पीठमारुढस्त्रिपरीत्य कृताञ्जलिः ।
पूजाद्रव्यमुपानीय भक्त्या स्तौतीति सन्मतिम् ॥३३॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक पहले पीठ पर चढ़ कर जिन भगवान की तीन प्रदक्षिणा देते हुवे और पूजन सम्बन्धि उत्तम २ द्रव्यों को हाथ में लेकर भक्ति पूर्वक जिन भगवान् की स्तुति करने लगे ।

जय घातिविनिर्मुक्त जयाऽऽसक्त शिवश्रियाम् ।
जय सद्दर्शनज्ञान सुखवीर्ययुत प्रभो ॥३४॥

अर्थात्—हे चार घातिया कर्मों के नाश करने वाले आप जय को प्राप्त हो। हे मोक्ष रूपी लक्ष्मी के स्वामी आप जय को प्राप्त

हो। हे दीनानाथ ! हे अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप स्वाधीन लक्ष्मी से विभूषित आप सर्वोत्कर्षवान् हो। भावार्थ—इस संसार में आप से और कोई उत्कर्षवान् नहीं है।

रागद्वेषादिमल्लस्त्वं भवकक्षदवानलः।
दुर्वादितरुसंघट्टोत्पाटनप्रलयाऽनिलः ॥३५॥

अर्थात्—हे परमेश्वर! इस संसार में हरि हरादि जितने देवता हैं वे सब तो रागद्वेषमोहादि शत्रुओं के सर्वतो भावेन किंकर हो रहे है। उनसे अनादि काल से इस संसार में भ्रमण करने वाले दीन संसारी लोगों का कल्याण होना असंभव हो सो ही नही है किन्तु उनके सेवन से उल्टी संसार की स्थिति समुद्र की तरह गहन होती जाती है। इसलिये रागद्वेषादि दुर्निवार शत्रुओं को जीतने वाले आप ही से इस संसार के जीवों का भला होगा। आप ही संसार रूप वन के भस्म करने के लिये दवानल समान हो। और आप ही मिथ्यावादी रूप वृक्षों के समूह के उत्पाटन में प्रलय काल की प्रचण्ड वायु के समान हो।

ध्रौव्योत्पादव्ययिद्रव्यपूरितं भुवनोदरम्।
समं पश्यसि हस्तस्थमुक्तावज्जिन वेत्सि च ॥३६॥

अर्थात्—हे जिनेन्द्र! उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुणो से युक्त द्रव्यों से यह संसार ओत प्रोत भरा हुवा है इसके, हाथ मे रखे हुवे मोती के समान एक साथ जानने वाले और देखने वाले आप के समान मुझे कोई नहीं दीखता। भावार्थ—और लोगों की सर्वज्ञ के विषय मे जो कल्पना है वह केवल कल्पना मात्र है।

अहमिन्द्रा न तद्देवा न तच्चक्रधरादयः।
सर्वे त्रैकाल्यमीशत्वं यत्सौख्यं निजमश्नुषे ॥३७॥

अर्थात्—अहमिन्द्र तथा चक्रवर्त्ति आदि भी आप के समान नही हैं क्योंकि वे तो केवल स्वर्ग तथा पृथ्वी मण्डल के पराधीन सुख के भोगने वाले हैं और आप तो अपने आत्मीय अविनाशी सुख के भोगने वाले हो।

यदन्तरायकर्मास्त्वादुत्पन्नं बाह्यमन्तरम् ।
तस्य वीर्यस्य सामर्थ्यं स्तोतुं कोऽलं भवेत्तव ॥३८॥

अर्थात्--हे करुणासागर ! अन्तराय कर्म को सर्वथा नाश हो जाने से जो बाह्य और आन्तराङ्गिक शक्ति प्रगट हुई है उसके वर्णन करने को इस संसार में कौन समर्थ है ।

मोक्षमार्गोपदेशीश जगताममृतोपमम् ।
वचस्ते हृदि संलग्नं कुर्यात्किन्नाजरामरम् ॥३९॥

अर्थात्—हे प्रभो ! संसार के दुःखों से त्रस्त जीवों को मोक्ष के मार्ग का उपदेश करने वाले, और संसार के जीवों को अमृत के समान तुम्हारे वचन जिन जीवों के हृदय में स्थान पालें तो क्या वे उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नही करेंगे ? किन्तु अवश्य करेंगे ।

सूर्यकोटिं तिरस्कुर्वन्नाथ ते दीप्तिमण्डलम् ।
अस्तुमिथ्यातमोराशिं स्फेटयत्वन्तरात्मनः ॥४०॥

अर्थात्—हे भगवन् ! कोटि सूर्य की कान्ति को तिरस्कार करने वाली तुम्हारी कान्ति का समूह जीवों के मिथ्यात्व रूप अन्धकार के समूह का नाश करे । भावार्थ—सूर्य तो केवल अन्धकार का ही नाश करता है और आप तो जन्म २ में दुःखों को देने वाले मिथ्यात्व रूप गाढ़ान्धकार के नाश करने वाले हो इसलिये जीवों के सूर्य से असंख्य गुणे उपकारी हो । इस से जिनेन्द्र का सूर्य से भी अधिक माहात्म्य समझना चाहिये ।

उच्चै रत्नमये गौरो भासि सिंहासने विभो ।
सुराद्रिशिखरे तिष्ठन् विचित्रे वैनतेयवत् ॥४१॥

अर्थात्—हे देव ! रत्नों से जड़े हुवे सिंहासन के ऊपर विराजे हुवे आप ऐसे मालूम पड़ते हो मानो आश्चर्यकारी मेरु के शिखर के ऊपर बैठा हुआ गरुड़ ही है क्या ?

नभसो देवनिर्मुक्ता पतन्ती कुसुमावली ।
पतति ते पुरोऽधीश हंसश्रेणिरिवोज्ज्वला ॥४२॥

अर्थात्—हे गुणरत्नाकर ! आकाश से देवता लोग आप के ऊपर जो फूलों की वर्षा करते हैं उन पुष्पों की श्रेणि आप के आगे ऐसी शोभायमान होती है मानों हंसों की उज्वल पंक्तियें हैं क्या ?

यत्र वृक्षोप्यशोकोऽभूत्सदापल्लवसंयुतः ।
त्वत्सामीप्यान्न किं तत्र सदा पल्लवसंयुतः ॥४३॥

अर्थात्—हे देव अशोक तरु भी निरंतर जहां नवीन २ पल्लव करके युक्त होता है । तुम्हारे निकट होने से ऐसा कौन वृक्ष होगा जो पल्लवों से संगत न हो ।

भावार्थ—आपका माहात्म्य ही ऐसा है जिस से जहां आप विहार करते हैं वहां षट्ऋतु सम्बन्धी फल फूलादि स्वयं फल जाते हैं।

ध्वनतीवेति गंभीर दुदुभिस्ते नभस्तले ।
आगत्या श्रयतैनं भो लोका यांतं शिवालयम् ॥४४॥

अर्थात्—हे परमेश्वर ! आकाश मंडल में यह आपका दुंदुभि शब्द करता है किन्तु यों कहो कि वह अपने शब्द के व्याज से जगत के जीवों को सम्बोधन करके कहता है कि मोक्ष में जाने वाले श्री जिनेन्द्रका आकरके सेवन करो ।

भावार्थ—यदि तुम अपने आत्मा को सदा के लिये अविनाशी स्थान में पहुँचाना चाहते हो तो जिनदेव का भक्ति पूर्वक सेवन करो ।

चामरं वीज्यमानं ते वपुर्जयति हैमभम् ।
निझरैरिव हेमाद्रेः सानु चन्द्रकरप्रभैः ॥४५॥

अर्थात्—हे जिनराज ! चन्द्रमा की किरणों के समान उज्वल चमरों से वीज्यमान ~~तुम्हारा~~ सुवर्ण की कान्ति के समान शरीर ऐसा शोभायमान होता है मानों निर्मल जल के नीझरनों से शोभायमान हिमालय पर्वत का शिखर है क्या ?

उच्चैश्छत्रत्रयं देव मुक्तावलिभिरंचितम् ।
भातीवेति वदन्मां वा जिन रत्नत्रयं सितम् ॥४६॥

अर्थात्—हे देव ! मोतियों की मालाओं से मनोहर यह उज्वल

आपका छत्रत्रय ऐसा मालूम पड़ता है मानों मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का ही बोध कराता है क्या?

लक्ष्मीः सत्प्रातिहार्याणामीदृग नान्यत्र राजते।
या भूतिः कल्पवृक्षे सा वब्बूलादिद्रुमे कुतः ॥४७॥

अर्थात्—हे स्वामिन्! उत्तम प्रातिहार्यों की शोभा जैसी आप में मनोहर मालूम देती है वैसी और किसी में नहीं शोभती। यह बात ठीक ही है कि—जो सम्पत्ति कल्पवृक्षों में है वह वब्बूल आदि तरुओं में कहां?

निरंजन निराहार धीर वीर जिनेश्वर।
निर्मोह निरहंकार निःकषाय निरामय ॥४८॥

अर्थात्—हे कर्ममल रहित! हे आहारादि की वाधा से पराङ्मुख! हे धीर! हे कर्मरूप दुर्निवार शत्रुओं को नाश करने वाले महा सुभट! हे जिनेश्वर! हे संसार की स्थिति के मूल कारण मोह से दूरवर्त्ति! हे अभिमानादि दुर्गुणों से रहित! हे क्रोध मान मायादि संसार की वर्द्धक कषायों से रहित! हे नीरोग! इस संसार में जैसे आप इनगुणों को धारण करते हैं वैसा और कोई देव मेरी दृष्टि में नहीं आता। इसलिये आपके चरणों का शरण लेता हूं आप अथाह संसार पारावार से मेरी रक्षा करो!

यश्चर्करीति ते पूजां वोभवीति स पूजितः।
चेक्रीयते च यो ध्यानं ध्येयो वोभोति सोऽञ्जसा ॥४९॥

अर्थात्—हे दीनदयाल! जो आपकी भक्ति पूर्वक पूजन करते हैं वे तो अतिशय करके पूजन के योग्य होते हैं। और जो आपका अपने हृदय में ध्यान करते हैं वे सर्व लोगों के ध्यान करने के योग्य होते हैं।

मां समुद्धर सर्वज्ञ पततं नरकालयात्।
भवे भवे त्वदङ्घ्री मे शरणं दुःखवारणम् ॥५०॥

अर्थात्—हे लोकालोक को एक समय में जानने वाले! नरक

में गिरते हुवे मुझ दुःखी का उद्धारकरो । और आपके चरण कमल भव २ में मेरे लिये अवलम्बन हों तथा दुःखों के नाश करने वाले हों।

स्तुत्वेति चेलनाधीशो युक्त्या व्याघुटितस्ततः ।
समुत्तीर्य स्वकोष्टस्य सोपानपदवीं गतः ॥५१॥

अर्थात्—इस तरह युक्ति पूर्वक महाराज श्रेणिक जिन देवकी स्तुति करके उनके चरणों में नमस्कार करते हुवे । फिर सीढ़ियों से उतर कर अपने कोठे की ओर गये ।

बुद्ध्यादिऋद्धिसम्पन्नान्यथावद्गुणवारिधीन् ।
गोतमादीन्मुनीन्नत्वा नरकोष्ठमुपस्थितः ॥५२॥

अर्थात्—इसके बाद बुद्धि आदि उत्तम २ ऋद्धियों से युक्त और यथावत गुणों के समुद्र भगवान् गोतमादि महर्षियों को नमस्कार करके अपने कोठे में गये ।

कालेऽनीहे त्रिभुवनगुरौ ध्रौव्यनाशोद्भवात्म्यान्
जीवाद्यर्थान्निगदति वचःसप्तभङ्गीतरङ्गैः ।
निर्ग्रन्थाद्या निजनिजगणे बद्धहस्ताब्जयुग्माः
शृण्वन्तस्ते लिखितवपुषो वज्रभित्ताविवाऽऽसन् ॥५३॥

अर्थात्—जिस समय तीन जगत के गुरु श्री वर्द्धमान स्वामी अपनी दिव्यध्वनि से उत्पन्न सप्तभंग रूपी तरङ्गों से चारों काल ध्रौव्य, नाश और उत्पत्ति स्वरूप जीवादि पदार्थों का यथार्थ निरूपण करते थे उस समय अपने करकमलों को ललाट भाग मे मुकुलित कमल की तरह जोड़ कर भगवान् के उपदेश को सुनने वाले सर्व दिगम्बर मुनि आदि समवशरण के लोग ऐसे शोभते थे मानों वज्रमयी भित्ति मं लिखे हुवे चित्र हैं क्या ?

निजनिजहृदयाकूतं पृच्छन्ति जिनं नराऽमरा मनसा ।
श्रुत्वाऽनक्षरवाणीं बुध्यन्तः स्युर्विसन्देहाः ॥ ५४ ॥

अर्थात्—समवशरण में बैठे हुवे मनुष्य, देवादिकों को जब किसी विषय का सन्देह मन में होता था उस समय भगवान् की

अक्षर रहित वाणी (दिव्यध्वनि) को सुनकर वे सब अपने २ प्रश्न के उत्तर को समझ कर सन्देह रहित हो जाते थे।

संज्ञानोद्योतितार्थे रुचिमिह विदधच्छ्रेणिको जीवमुख्ये
मिथ्याद्यं सप्तकर्मक्षयमिदमकरोच्छ्वभ्रमुत्कृष्टमायुः।
क्षामीकृत्याप्यनेकव्रतनियमकथाः प्रश्नयन्भूधराणां
मेधावीमुख्यमागात्सुरगिरिरिवयःश्रीजिनेन्द्रोः सभायाम्।५५

भावार्थ—बुद्धिशालि महाराज श्रेणिक, केवल ज्ञान के द्वारा वर्णन किये हुवे जीवादि पदार्थों में प्रधान जीव द्रव्य में अपनी प्रीति को बढ़ाकर मिथ्यात्वादि सात कर्मों को क्षय करते हुवे। और पूर्व पापके फल से नरक की उत्कृष्ट स्थिति (आयु) को भी शुभ कर्मों के बल से घटाकर अनेक प्रकार के व्रत नियमादि की कथाओं को भगवान् से पूछते हुवे। ग्रन्थकार कहते हैं कि श्री वीर जिनेन्द्र के समवशरण में उस समय महाराज श्रेणिक, और सम्पूर्ण राजा लोगों के वीच में प्रधान बुद्धिमान गिनेजाने लगे जिस तरह सम्पूर्ण पर्वतों के बीच में सुमेरु पर्वत उत्तम गिना जाता है।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्ते वासिना पंडित मेधाविना
विरचते धर्मसंग्रहे श्रेणिकस्य निजकोष्ठोपवेशन
वर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः॥ ३ ॥

अथैकदा गणाधीशः श्रेणिकं चेत्यभाषत ।
देशनां शृणु सम्यक्त्वालंकारालंकृतप्रभोः ॥१॥

अर्थात्--किसी समय श्री गौतम गणधर महाराज श्रेणिक से कहते हुवे कि—राजन् ? सम्यक्त्व रूप पवित्र भूषण से विभूषित श्री वीर जिनेन्द्र के उपदेश को सुनो ।

पूर्वापरसमुद्राप्तसमिलायूपरंध्रयोः ।
संयोगो दुर्लभो यद्वत्तदात्मनृजन्मनोः ॥ २ ॥

अर्थात्—यदि पूर्व समुद्र में समिला डाल दी जाय और पश्चिम के समुद्र में यूप डालदिया जाय तो यूप के छिद्रका और समिला का सम्बन्ध जितना दुर्लभ है उतनाही दुर्लभ आत्मा और मानव पर्याय का सम्बन्ध है ।

भावार्थ—मानव जन्म का मिलना बहुत कठिन है इसलिये जिन्हें इस रत्न का लाभ हुवा है उन्हे अपने कल्याण की ओर चित्त देना चाहिये ।

नरत्वं दुर्लभं जन्तोर्भ्रमतोऽस्य भवार्णवे ।
सिकताजलधौ भ्रष्टं वज्रवत्पारवर्जिते ॥ ३ ॥

भावार्थ—अति गहन इस भव समुद्र मे अनादि काल से भ्रमण करते हुवे जीवों को मानव जन्मकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है । जिस तरह अपार बालु के समुद्र में गिरे हुवे वज्ररत्न का पाना दुर्लभ है ।

बहूनां कर्मणां राजन् क्षयोपशमभावतः ।
मनुष्यकर्मणः पाके यदि प्राप्तं कथंचन ॥ ४ ॥

धर्मेण सफलं कार्यं तत्तदा दुःखहारिणा ।
सुखाभिलाषिणा स्वस्य जलसेकेन सस्यवत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे मगधाधिपति ! अनेक जन्म २ में उपार्जन किये हुये पाप कर्मों का किसी तरह क्षयोपशम होने से और मनुष्य नाम कर्म

के उदय आने से यदि किसी तरह यह दुष्कर मानव जन्म मिला है तो उसे धर्म का सेवन करके सफल करना चाहिये। यदि तुम्हें दुःखों के नाश करने की तथा सुखों के प्राप्त करने की अभिलाषा है तो। क्योंकि कृषी लोग धान्यादिकों की प्राप्ति होने से तबही सुखी होते हैं जब पहले उनका जल से सिंचन करते रहते हैं।

भावार्थ—सुख प्राप्ति के मूल कारण धर्म को समझ कर प्रति दिन उसके संग्रह में प्रयत्नशील रहना चाहिये।

आप्तेन भाषितोधर्म आप्तो दोषविवर्जितः।
ते चाष्टादशाविज्ञेया बुद्धिमद्भिः क्षुधादयः॥ ६॥

भावार्थ — जो सर्वज्ञ का कहा हुवा है वही धर्म कहा जाता है। परन्तु वह देव दोषों से रहित होना चाहिये। वे दोष क्षुधादि अठारह प्रकार के हैं।

उन्हीं अठारह दोषों के क्रमसे नाम कहते हैं—

क्षुत्पिपासे भयद्वेषौ मोहरागौ स्मृतिर्जरा।
रुग्मृती स्वेदखेदौ च मदः स्वापो रतिर्जनिः॥ ७॥

विषादविस्मयावेतौ दोषा अष्टादशेरिताः।
एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः॥ ८॥

भावार्थ—क्षुधा, पिपासा, भय, द्वेष, मोह, राग, स्मृति, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, पसेव, खेद, मद, निद्रा, प्रीति, जन्म- विषाद और आश्चर्य इस प्रकार ये अठारह दोष हैं। जो इन दोषों से अछूता होगा वही संसार का उपकारी आप्त (देव) कहलाने का भाजन कहा जा सकता है। और उसेही निरंजन कहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि "रक्तेन दूषितं वस्त्रं नहि रक्तेन शुद्ध्यति" खून से भरे हुवे वस्त्र को यदि खूनहीं से धोया जाय तो वह कभी पवित्र नहीं हो सकता उसी तरह जो स्वयं राग द्वेषादि दोषों से अपने अनन्त शक्ति शालि आत्माको छोटा और बुरा बना रक्खा है वह और विचारे भक्त पुरुषों के आत्मा को कैसे पवित्र और निर्दोष बना सकेगा। इसलिये

क्षुधादि दोष के अस्तित्व में जो लोग देवत्व की संभावना करते हैं सम-झना चाहिये कि वे लोग चांदी के भ्रम से शुक्ति को अवलोकन करते हैं।

आप्तोऽर्हन्वीतरागश्च केवली जिनपुङ्गवः ।
देवदेवो जगन्नाथो वृषभादिश्च नामतः ॥ ९ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार ऊपर के श्लोकों में हम देवका स्वरूप वर्णन कर आये हैं उसे आप्त कहो, वीतराग कहो, केवली कहो, जिन श्रेष्ठ कहो, अथवा देवों का देव कहो, चाहे जगन्नाथ कहो, चाहे वृषभ, अजित, संभव आदि नाम से स्मरण करो उस में कोई हानि नहीं है. परन्तु उस में ऊपर कहे हुवे लक्षण का ठीक २ निर्वाह हो जाना चाहिये।

दोषाभावात्कुतोऽसत्यं ब्रूतेऽयं परमेश्वरः ।
अतस्तेनोदितो धर्मः प्रमाणं क्रियते बुधैः ॥१०॥

भावार्थ—यह बात तो हम ऊपर कह आये हैं कि देव दोषों से रहित होता है इस कथन से यह सिद्ध होगा कि जब परमेश्वर में दोषों का लेश भी नही है तो वह झूंठी बात बोल भी नही सकता। इसीलिये बुद्धिमान् लोग निर्दोष देव के कहे हुवे धर्म को स्वीकार करते हैं।

दोषवल्लोकदेवानां ब्रह्मादीनामुदाहृतम् ।
हिंसादिलक्षणं धर्मं तेन यः कुरुते समम् ॥११॥

बब्बूलं कल्पवृक्षेण शूकरं मत्तदन्तिना ।
मूढः स तुलयेत्क्षिप्रं वल्मीकं च सुराद्रिणा ॥१२॥

भावार्थ—ब्रह्मादि लौकिक देवों ने जो दोष युक्त और जीवों की हिंसा करने को धर्म बताया है उसे, और जो धर्म निर्दोष देवों के द्वारा कहागया है उन दोनो को जो समान समझते हैं कहना चाहिये कि योग्यायोग्य के विचार से रहित उनमूर्खों ने बॅबूल की कल्पवृक्ष के साथ तुलना की है। शूकर की बड़ेभारी मत्तगजराज के साथ समानता की है और बल्मीक को सुमेरु पर्वत समझा है।

भावार्थ—जिन देवों ने दीन पशुओं के बध करने आदि में धर्म बतलाया है उनका कहा हुआ धर्म जीवों का कहां तक भला करेगा यह समझ में नहीं आता। और यदि जीवों के मारने से ही धर्म होता है तो पहले वेही लोग अपने घरवालों की बलि क्यों नही दे देते? बिचारे पशुओं ने उनका क्या बिगाड़ा है जो उनके गले पर बुरीतरह से छुरी फेरी जाती है। धिक्कार! ऐसे लोगों को जो जीवों के मारने में अपने को पुण्य कर्म के करने वाला मानते हैं। वे लोग यही बतावें कि जब जीवों के मारने से पुण्य होता है तो पाप का कारण संसार में दूसरा कौन है। इस विषय में अधिक क्या कहें जीवों के मारने से धर्म होता है या पाप? यह बात अपने शरीर में जरा से कांटे के लगजाने से जो पीड़ा होती है उसपर ध्यान देने से बहुत शीघ्र ध्यान में आजावेगी।

कुतस्ते दोषवद्देवाः प्रत्यक्षादनुमानतः।
कंकणं दृश्यते पाणौ साध्यं सद्दर्पणेन किम् ॥१३॥

अर्थात्—जो लोग दोष युक्त ब्रह्मादि देवोंको देव कहते हैं उनका कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वथा बाधित है। इसविषय में विशेष क्या कहा जाय जब हाथ में कंकण विद्यमान है तो वहां काच का उपयोग ही क्या होगा?

पितामहे समाचष्टे जपमालाऽन्यचिन्तनम्।
कमंडलुजलापूर्णं तृषं विण्मूत्रजं मलम् ॥१४॥
आह स्त्रीजनसंसर्गो रतिरागौ महेश्वरे।
शूलादिश्च भयं द्वेषं मुकुटं मोहमूर्च्छनाम् ॥१५॥
विष्णौ चक्रगदा ब्रूते चापश्चारिगणाद्भयम्।
पाञ्चजन्यश्च लोकानां विस्मयं वावदीति च ॥१६॥
बौद्धे रक्तपटीसंगः स्वापं रागं च जल्पति।
साक्षसूत्रोर्द्ध्वहस्तश्च चिन्ताखेदमदादिकान् ॥१७॥
यद्येत एव देवाः स्युः केऽन्ये भिल्लाश्च कामुकाः।
देवत्वं भवतीत्थं चेत्तदा देवमयं जगत् ॥१८॥

भावार्थ—ब्रह्मदेव हाथ में तो माला फेरते थे और अन्तरंग में स्वर्ग की उर्वशी नामकी देवाङ्गना को वसा रक्खी थी। और कमंडलु के जल से जब तृषा पूर्ण नहीं हुई तब उन्हें अपवित्र पदार्थ का सम्बन्ध रुचिकर हुआ था। यह तो ब्रह्मदेव की जन्मपत्री है।

इसीतरह महादेव भी स्त्री के संग में लीन हो रहे हैं इसी से उन्हें भवानी को अपना आधा शरीर बनाना पड़ा है इस कर्म से उनमें राग और प्रीति कितनी थी इसका अनुभव हो जाता है। और उनके हाथ में त्रिशूल भी है इससे जाना जाता है कि वे द्वेष की मूर्ति हैं। उनके मस्तक पर मुकुट भी है उससे उनके मोह का पता लगता है।

यही दशा विष्णु की भी है। मालूम होता है उन्हें शत्रु लोगों से बहुत भय रहता है इसीलिये तो चक्र, गदा और धनुष धारण करना पड़े हैं। और उनके हाथ का शंख लोगों को आश्चर्य उत्पन्न करता है।

बुद्धदेव भी अपने आत्मा को इन्हीं लोगों के समान बताते हैं। उनमें रक्तवस्त्र का संगम शयन और राग को बताता है तथा अक्षसूत्र से युक्त ऊंचा उठा हुआ हाथ उनमें चिन्ता, दुःख, मद आदि का प्रादुर्भाव सूचन करता है। ग्रन्थकार का कहना है कि हम इन रागद्वेष-मोहादि से युक्त देवों का वर्णन कहां तक करें इतने वर्णन से विशेष भी समझ लेना चाहिये।

यदि यही लोग देवता गिने जाने लगें तो फिर भील कामी आदि कौन कहे जावेंगे। और यदि ऐसेही लोग देवता हैं तो फिर सारे जगत को देवमय कहना चाहिये? तात्पर्य यह है कि देव वही कहे जावेंगे जो निर्दोष और जीवों के कल्याण के करने वाले हों। ऐसों को देवता मानना गधे के सींग से भी नितान्त असंभव है।

अतः संसारिणो जीवा यादृशास्तादृशा अमी।
वाक्यं प्रमाणमेतेषां कुतः स्वपरवञ्चकम् ॥१९॥

अर्थात्—इस कारण जैसे संसारी जीव हैं उन्हीं के समान ये भी हैं फिर अपने और दूसरे जीवों के ठगने वाले इनके वचनों को कौन प्रमाण मानेगा?

दृग्मोहवशतः कश्चित्प्रमाणयति तद्वचः ।
विषकुंभादसौ मूढः सुधां पातुं समीहते ॥२०॥

अर्थात्—यदि कोई दर्शन मोह के अधीन होकर कुदेवों के वचनों को प्रमाण मानता है तो समझना चाहिये वह मूर्खात्मा विष के घट से अमृत के पीने की इच्छा करता है।

आप्तस्य वपुषः शान्ताद्बुध्यतेऽन्तरदोषता ।
धूमाभावात्कुतो वन्हिर्महतः कोटरे तरोः ॥२१॥

अर्थात्—देवताओं के बाहिर शरीर मात्र से यह बात जानी जासकती है कि ये देवता शान्त स्वरूप हैं या नहीं ?

भावार्थ—जो देवता बाहिर शस्त्रादि रहित होंगे वे स्वयं शान्त स्वरूप होंगे शस्त्र, अलंकार, वस्त्रादिकों की उनके लिये आवश्यक्ता ही क्या है? ये तो जिन लोगों को किसी से भय होता है अथवा जिनका संसार के साथ सम्बन्ध है उन्हीं के पास देखे जाते हैं परमात्मा में तो इनका अंश मात्र भी सम्भव नहीं है क्योंकि उनका स्वरूप कृत्य कृत्य कहाजाता है।

यह बात ठीक भी है कि जब धूमका अभाव है तो वृक्ष के कोटर में अग्नि का भी सम्भव नहीं होता।

आप्तेन विशदो धर्मः परोपकृतये सताम् ।
गम्भीर ध्वनिनाऽभाषि वर्णमुक्तेन निस्पृहम् ॥२२॥

अर्थात्—जिस का स्वरूप हम ऊपर कह आये हैं उस देव ने गम्भीर अपनी वाणी से निर्मल और जीवों के कल्याण के करने वाले धर्म का स्वरूप वर्णन किया है। इससे उस परमात्मा को कुछ प्रयोजन नहीं है किन्तु केवल भव्यपुरुषों के उपकार के लिये किया है।

अनागारश्च सागारो मूलोत्तरगुणैर्युतः ।
अनागारो मुनेर्धर्मस्तावदास्तां परं शृणु ॥२३॥

अर्थात्—मूल गुण और उत्तर गुण से युक्त मुनि धर्म तथा

गृहस्थ धर्म है। ये धर्म के दो भेद हैं। अनगार (मुनि धर्म) तो इस समय रहे किन्तु गृहस्थ धर्म का हम वर्णन करते हैं उसे सुनो।

विशेष यह है कि गृहस्थ और मुनियों के मूलगुण और उत्तर गुण पृथक् २ समझना चाहिये। गृहस्थों के गुणों का वर्णन हम करेंगे किन्तु मुनियों के गुणों का उनके आचार के ग्रन्थों से देखना चाहिये।

भव्यपर्याप्तिवान्संज्ञी लब्धकालादिलब्धिकः।
सद्धर्मग्रहणे सोर्हो नान्यो जीवः कदाचन ॥२४॥

अर्थात्--धर्म के ग्रहण करने के योग्य वही जीव हो सकता है जो भव्य, पर्याप्तिवान्, संज्ञी और जिसे कालादि लब्धियें प्राप्त हो गई हैं। इन से रहित जीव धर्म के ग्रहण योग्य नहीं हो सकता।

यही बात ग्रन्थान्तर में भी कही है—

आसन्नभव्यता कर्महानिः संज्ञित्वशुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥२५॥

भावार्थ—निकट भव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व और शुद्धि और जिसका उपदेशादि से मिथ्यात्व का नाश हो गया है वही जीव सम्यक्त्व के योग्य है।

दृष्टिव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभुक्त्याख्याः।
ब्रह्मारंभपरिग्रहमनुमतिरुद्दिष्ट इति धर्मः ॥२६॥

अर्थात्—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा, रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट व्रत प्रतिमा, इस तरह ये ग्यारा प्रतिमायें (ग्यारा श्रेणियें) गृहस्थो के क्रम से सेवन करने योग्य हैं।

दर्शनेन समं मूलगुणाष्टकं व्रतव्रजं।
सामयिकं प्रोषधं च सचित्ताहारवर्जनम् ॥२७॥
दिवामैथुननार्यङ्गारंभसंगेभ्य उज्झनम्।
अनुमतोदिष्टाभ्यां च प्रासास्ते प्राग्गुणप्रोढ्या ॥२८॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूल गुणों का धारण करना, समायिक, प्रोषध, सचित्त आहार का त्याग, दिन में मैथुन का त्याग, स्त्रियों के शरीर का त्याग, आरम्भ का त्याग, तथा परिग्रह का त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग, ये क्रम से उत्तरोत्तर एक२ धारण की जाती हैं। ये प्रकारान्त, से ग्यारा प्रतिमाओं के नाम कहे हैं।

अब क्रम से पृथक्२ प्रतिमाओं का विशेष खुलासा वर्णन करते हैं-

आप्तात्परो न देवोस्ति धर्मात्तद्भाषिताद्म हि।
निर्ग्रन्थाद्गुरुरन्यो न सम्यक्तमिति रोचनम् ॥२९॥

अर्थात् —जिस देव का ऊपर यथार्थ लक्षण कहा जा चुका है उससे अन्य तो कोई देव नही है। इन्हीं आप्त से कहे हुवे धर्म को छोड़ कर और दूसरा धर्म जीवों के कल्याण का करने वाला नहीं है और सर्व तरह के परिग्रह से रहित गुरुओं को छोड़कर कोई गुरु नहीं है। इन तीनों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जीवाऽजीवाश्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्च सप्ततत्वानि श्रद्धीयन्तेऽर्हदाज्ञया ॥३०॥

अर्थात्—जिस तरह श्री अर्हन्त भगवान ने जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संबर, और निर्जरा इन सप्त तत्वों का वर्णन किया है उसी तरह उनका श्रद्धान करना चाहिये।

तत्वार्थान् श्रद्धानस्य निर्देशाद्यैः सदादिभिः।
प्रमाणैर्नयभंगैश्च दर्शनं सुदृढं भवेत् ॥३१॥

अर्थात्—जिन भगवान की आज्ञा के अनुसार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, और विधान से तथा सत्, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पबहुत्व से, प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्षप्रमाण से, और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु, सूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवं भूत इस तरह सात नयों से पदार्थो के स्वरूप को ठीक२ समझ कर तत्वों का श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दर्शन अत्यन्त गाढ़ होता है।

विशेष यह है कि —

इन निर्देशादिकों का सविस्तर वर्णन जिन्हें देखना हो उन्हें सर्वार्थ सिद्धि आदि बड़े २ ग्रन्थों में देखना चाहिये। यहां तो केवल इनके नाम मात्र का संकेत किया गया है।

गृहीतमगृहीतं च परं सांशयिकं मतम्।
मिथ्यात्वं न त्रिधा यत्र तच्च सम्यक्त्वमुच्यते ॥३२॥

अर्थात्—जिस तत्व श्रधान में गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व और संशय मिथ्यात्व ये तीन प्रकार के मिथ्यात्व नहीं हैं उसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अब तीनों मिथ्यात्व का क्रम से स्वरूप कहते हैं—

संसर्गाज्जायते यच्च गृहीतं तच्चतुर्विधम्।
अज्ञानं विपरीतं हि एकान्तो विनयस्तथा ॥३३॥

अर्थात्—जो मिथ्यात्व दूसरों की संगति से होता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। वह अज्ञान, विपरीत, एकान्त और विनय इस तरह चार प्रकार हैं।

एतदस्तीति येषां ते प्रोक्ता अज्ञानिकादयः।
तेषां कुवादिनो भेदास्त्रिषष्ठ्या त्रिशती मताः ॥३४॥

अर्थात्—ये मिथ्यात्व जिन लोगों के होते हैं वे अज्ञानिक, सांशयिक, वैनयिक आदि कहे जाते है। ऐसे लोगों के तीन सौ त्रेसठ भेद होते हैं।

सप्तषष्टिरशीत्यामा शतं चतुरशीतिका।
द्वात्रिंशत्क्रमशोऽज्ञानिकादीनां च विशेषतः ॥३५॥

अर्थात्—अज्ञानिक मिथ्यात्वी के सरसठ (६७) वैपरीत्य मिथ्यात्वी के एकसौ अस्सी (१८०) एकान्त मिथ्यात्वी के चौरासी (८४) और वैनयिक मिथ्यात्वी के बत्तीस (३२) ये क्रम से भेद हैं।

इसविषय में ग्रन्थान्तर का भी प्रमाण है—

असियसयंकिरियाणं अकिरियाणं हुंति चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेनइया हुंति बत्तीसां ॥३६॥

इसगाथा का तात्पर्य ऊपर के श्लोक के ही अनुसार है इसलिये नहीं लिखा है।

अगृहीतं स्वभावोत्थमतत्त्वरुचिलक्षणम्।
तन्निगोतादिर्जीवेषु गाढं चानादिसम्भवम् ॥३७॥

अर्थात्—स्वभाव से जिन भगवान् के कहे हुवे तत्वों में अप्रीति के उत्पन्न होने को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। और वह निगोदादि जीवों में अनादि से गाढ होता है।

संशयो जैनसिद्धान्ते सूक्ष्मे सन्देहलक्षणः।
इत्थमेतदथेत्थं वा को वेत्तीति कुहेतुतः ॥३८॥

अर्थात्— अतिशय सूक्ष्म और गहन जैन सिद्धान्त में खोटे २ कारणों से, यह पदार्थ ऐसे हैं ? अथवा ऐसे हैं? इसे कोन जानता है? इत्यादि रूप सन्देह होने को संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

त्रिमूढं च मदा अष्टौ षडेवाऽऽयतनानि च।
शङ्कादयोऽष्टसम्यक्त्वे दोषाः स्युः पञ्चविंशतिः ॥३९॥

अर्थात्—तीन मूढता, आठ मद छह, आयतन तथा शङ्कादि आठ दोष इस तरह ये पच्चीस दोष सम्यक्त्व के मलीन करने के कारण हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को इन दोषों का सम्पर्क भी नहीं होने देना चाहिये।

अब क्रम से तीन मूढ़ता आदि का स्वरूप वर्णन करते हैं।

सदोषा देवता लक्ष्म्याद्यर्थं सेवेत यन्नराः।
अवादि देवतामूढमरागैर्विश्ववेदिभिः ॥४०॥

अर्थात्—धन, पुत्र, कलत्रादि के लिये दोष युक्त देवों का जो लोग सेवन करते हैं उसे ही सारे संसार के जानने वाले श्री वीतराग भगवान् देवमूढ़ता कहते हैं।

नद्यादेः स्नानमह्यादेरर्चासादेः समुच्चयः।
गिरिपातादि लोकज्ञैर्लोकमूढं निगद्यते ॥४१॥

अर्थात्—नदी समुद्रादि में स्नान करने को धर्म मानना, पृथ्वी आदि के पूजन में धर्म मानना, पत्थरों का ढेर करने में धर्म समझना, तथा पर्वतादिके ऊपर से गिर कर आत्महत्या करने में धर्म मानना, इत्यादि मिथ्यात्व के कारणों को लोकों के देखा देखी करना ये सब लोक मूढ़ता है।

सग्रन्था हिंसनारंभकृतो ये भववश्यगाः।
तेषां भक्त्या परीष्टिर्यद्बोध्या पाखंडमूढता ॥४२॥

अर्थात्—अनेक प्रकार के परिग्रह को रखने वाले, जीवों की हिंसा रूप आरंभ के करने वाले, और जो पूर्ण रूप से इस संसार के वश हो रहे हैं ऐसे पाखंडियों की भक्ति पूर्वक सेवा पूजन करने को पाखंड मूढ़ता कहते हैं।

ज्ञानं पूजा तपो लक्ष्मी रूपं जातिर्बलं कुलम्।
यादृग मेऽन्यस्य नास्तीति मानो ज्ञेयं मदाष्टकम् ॥४३॥

अर्थात्—ज्ञान, पूजा (प्रतिष्ठा) तपश्चरण, ऐश्वर्य, रूप (सौन्दर्य) जाति, बल और कुल ये जैसे हमारे हैं वैसे किसी के नहीं हैं इस तरह के खोटे अभिमान को मद कहते हैं।

भावार्थ—सम्यग्द्रष्टि पुरूषों को इनबातों का मद नहीं करना चाहिये।

कुदेवलिङ्गशास्त्राणां तच्छ्रितां च भयादितः।
षण्णां समाश्रयो यत्स्यात्तान्यायतनानि षट् ॥४४॥

अर्थात्—कुदेव कुगुरु और खोटे शास्त्रों के तथा इनके सेवन करने वालों के भय से इनके सेवन को छह आयतन कहते हैं।

नैर्ग्रन्थ्यं मोक्षमार्गोऽयं तत्वं जीवादिदेशितम्।
को वेत्तीत्थं भवेन्नो वा भावः शङ्केति कथ्यते ॥४५॥

अर्थात्—सर्व परिग्रह को छोड़ कर मुनि मार्ग के धारण करने से मोक्ष की प्राप्ति होगी या नहीं ? तथा जीवादि तत्व ठीक है या

नहीं ? इसे कौन जानता है इत्यादि सन्देह रूप आत्मा के भावों के होने को शङ्का कहते हैं।

राजा स्यां पुत्रवान्स्यां वा रूपी स्यां भोगवान्तथा।
शीलादितोऽभिलाषो यत्कांक्षा दोष स उच्यते ॥४६॥

अर्थात्--मैं राजा होऊं, मैं पुत्रवान् होऊं, मैं सुन्दर रूप का धारण करने वाला होऊं, मुझे अच्छी भोग सामग्री की प्राप्ति हो इत्यादि संसारीक विषयों में जो अभिलाषा (गृध्नता) रखना है उसे आकांक्षा दोष कहते हैं।

रत्नत्रयपवित्राणां पात्राणां रोगपीडिते।
दुर्गन्धादौ तनौ निन्दा विचिकित्सा मलं हि तत् ॥४७॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शनादि से पवित्र मुनि आदि उत्तम २ पात्रों के रोगादि से पीडित तथा दुर्गन्ध युक्त शरीर को देखकर ग्लानि करने को तथा निन्दा करने को विचिकित्सा दोष कहते हैं।

भावार्थ—शरीर को स्वभाव से अशुचि तथा दुर्गन्धादिकों का स्थान समझ कर धर्मात्मा जीवों के कर्मों के वश से व्याधियों के उत्पन्न हो जाने से उसमें मन को ग्लानि रूप नहीं करना चाहिये।

कुमार्गे पथ्यशर्मणां तत्रस्थेप्याति संगतिः।
त्रियोगैः क्रियते यत्र मूढदृष्टिरितीरिता ॥४८॥

अर्थात्—दुःखों के देने वाले खोटे मार्ग में तथा खोटे मार्ग में चलने वालों के साथ मन, वचन और शरीर से मेल (सम्बन्ध) रखने को मूढ़ दृष्टि नाम दोष कहते हैं।

प्रमादाज्जातदोषस्य जिनमार्गरतस्य तु।
ईर्ष्ययोद्भासनं लोके तत्स्यादनुपगूहनम् ॥४९॥

अर्थात्—किसी धर्मात्मा पुरुष की असावधानता से कोई दोष उत्पन्न हो जाय और ईर्ष्या बुद्धि से लोगों के सामने उसे प्रगट करना यह अनुपगूहन दोष कहा जाता है।

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुषों को चाहिये कि चाहे अपने प्राण क्यों न चले जावें परन्तु कभी दूसरों के दोषों को किसी के पास न कहें। यही शास्त्र की मर्यादा है।

परीषहोपसर्गाभ्यां सन्मार्गाद्भ्रश्यतां नृणाम् ।
स्वशक्तौ न स्थितिं कुर्यादस्थितीकरणं मतम् ॥५०॥

अर्थात्—कोई धर्मात्मा पुरुष यदि परीषह अथवा उपसर्गादि के आने से अपने दर्शन ज्ञान चारित्रादि से च्युत होता हो उसे अपनी शक्ति के होने पर भी धर्म में दृढ़ नहीं करने को अस्थिती करण दोष कहते हैं।

साधर्मिकस्य संघस्य पीडितस्य कुतश्चन ।
न कुर्याद्यत्समाधानं तदवात्सल्यमीरितम् ॥५१॥

अर्थात्—किसी कारण से धर्मात्मा पुरुषों पर किसी तरह की विपत्ति आजाय उस समय में उनके चित्त को किसी तरह सावधान न करने को अवात्सल्य नामक दोष कहते हैं।

कुदर्शनस्य माहात्म्यं दूरीकृत्य बलादितः ।
द्योतते न यदार्हन्त्यमसौ स्यादप्रभावना ॥५२॥

अर्थात्—मिथ्या मतों के प्रचार को दूर करके जैनमत के माहात्म्य का प्रचार नहीं करने को अप्रभावना कहते हैं।

मलैर्मुक्तं भवेच्छुद्धं सम्यक्त्वं शातकुंभवत् ।
तेनाऽलंकृत आत्माऽयं महार्घ्यः स्याज्जगत्त्रये ॥५३॥

अर्थात्—जिसतरह सुवर्ण का ऊपरी मैल दूर होने से वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है उसीतरह अनादि काल से कर्मों के जाल में फँसा हुआ यह आत्मा अपने आगामी अच्छे होन हार से सम्यक्त्व रूप भूषण से अलंकृत हो जाता है उससमय तीनो लोक मे ऐसा कोई अमोल्य पदार्थ नहीं रहता जो आत्मा के समान कहा जा सके।

सम्यक्त्वं समलं चेत्स्यान्न तदा कर्म शान्तये ।
सापथ्यामिह रोगाणां सदौषधमिवाङ्गिनाम् ॥५४॥

भावार्थ—जिस तरह रोग युक्त मनुष्यों को पथ्य सहित औषध रोगों के दूर करने में समर्थ होता है उसी तरह दुर्निवार कर्म रूप रोगों के शान्त करने के लिये दोष रहित सम्यक्त्व जैसा उपकारक है वैसा दूसरा कोई हितकारी उपाय नहीं है। तात्पर्य यह है कि संसार रूप भयंकर अग्नि के शान्त करने के लिये शुद्ध सम्यक्त्व रूप जल का सेवन करो। जबही कुछ शान्तता मिलेगी अन्यथा यह संसार है और तुम हो।

दोषाः शङ्कादयो ध्वस्तास्तदङ्गानि भवन्ति ते।
विषश्चेन्मारितो युक्त्या तदा किं न सुधायते ॥५५॥

अर्थात्—ऊपर कहे हुवे शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन दोषों के नाश कर देने से येही सम्यक्त्व के आठ गुण हो जाते हैं। यह बात ठीक भी है कि जो विष प्राणों का क्षण मात्र में नाश कर देता है वही विष यदि शुद्ध किया हुवा हो तो अमृत के समान हो जाता है और अनेक प्रकार के रोगों के लिये शत्रु हो जाता है।

स्तेनो राजगृहे जातो निःशङ्कोऽञ्जनसञ्ज्ञकः।
निःकांक्षाऽनन्तमत्याख्या चम्पायां वणिजः सुता ॥५६॥
राजा निर्विचिकित्सोऽभूदुद्दायनोऽत्र रोरवे।
अमूढदृष्टिका राज्ञी रेवती मथुरापुरे ॥५७॥
जिनदत्तस्तामलिप्ते श्रेष्ठ्यभूत्सोपगूहनः।
सस्थितीकरणो वारिषेणो राजगृहे मतः ॥५८॥
हस्तिनानगरे चक्रे वात्सल्यं विष्णुना हितम्।
कृता वज्रकुमारेण मथुरायां प्रभावना ॥५९॥

अर्थात्—अब क्रम से आठों अङ्गों में प्रसिद्ध होने वालों के नाम कहते हैं। राजगृह नगर में अंजन चौर ने निःशङ्क अङ्ग का पालन किया था। किसी वैश्य श्रेष्ठी की अनन्तमती बालिका ने चम्पा पुरी में निःकांक्षित अङ्ग का पालन किया था। रोरव देश में उद्दायन

राजा ने निर्विचिकित्सा अङ्ग को धारण किया था। रेवती नाम की राणी ने मथुरा में अमूढदृष्टि अङ्ग का यथोक्त पालन किया था। उपगूहन अङ्ग में श्रीजिनदत्त सेठ प्रसिद्ध हुए हैं। स्थिती करण अङ्ग के पालन करनेवाले श्रीवारिषेण मुनि राजगृह नगर में प्रसिद्ध हुए हैं। हस्तिनापुर में श्रीविष्णुकुमार मुनि ने वात्सल्य अङ्ग का पालन किया है। और प्रभावना अङ्ग में श्रीवज्रकुमार मथुरा नगरी में प्रसिद्ध हुए हैं। इस कहने का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि यद्यपि ये पुरुष रत्न प्राचीन काल में हुए हैं तथापि केवल एक २ अंग के धारण करने से आज तक उनका यशोगान होता चला आता है इसी तरह जो भव्य जीव शुद्ध सम्यक्त्व सहित इन अङ्गों को धारण करेंगे वे भी इसी योग्य होंगे।

दर्शनं नाङ्गहीनं स्यादलं छेत्तुं भवावलिम्।
मात्राहीनस्तु किं मंत्रो विषमूर्च्छां निरस्यति ॥६०॥

अर्थात्—जिसतरह अक्षर अथवा मात्रा से हीन मंत्र विष से उत्पन्न होने वाली मूर्छा को दूर नही कर सकता उसीतरह अंग हीन सम्यग्दर्शन भी इस अपार भवावली के नाश करने को समर्थ नहीं हो सकता।

सम्यक्त्वसममात्मीनं किमन्यद्भुवनोदरे।
न मिथ्यात्वसमं किंचिदनात्मीनमिहात्मनाम् ॥६१॥

अर्थात्—इस जीव का तीनों लोक में सम्यक्त्व के समान कोई आत्मबन्धु नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा दुःखों का देने वाला शत्रु नहीं है। इसलिये मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व को अंगीकार करो। यही आत्मा को कुमार्ग से बचाने वाला है। और बन्धु लोग तो केवल स्वार्थ के बन्धु हैं। स्वार्थ का नाश हो जाने से पिता भाई आदि भी सहसा पराङ्मुख हो जाते हैं।

श्वाभ्रत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वेन हि मंडिताः।
सुरत्वे नरकायन्ते मिथ्यात्वेन च दंडिताः ॥६२॥

अर्थात्—यदि यह जीव नरक में भी गया हो और वहां

सम्यक्त्व से भूषित हो तो समझना चाहिये कि वह देव ही है। और यदि सम्यक्त्व रहित देव भी हुआ हो तो समझना चाहिये वह नरक ही में गया है।

तिर्यक्त्वेपि नरायन्ते सम्यक्त्वेन समायुताः ।
नृत्वेऽपि तिर्यगायन्ते मिथ्यात्वेन हि वासिताः ॥६३॥

अर्थात्—पशु होकर भी यदि सम्यक्त्व युक्त है तो वह मनुष्य ही है और मनुष्य होकर यदि मिथ्यात्व से युक्त है तो उसे पशु कहना चाहिये।

मुहूर्त्तं येन सम्यक्त्वं संप्राप्य पुन रुज्झितम् ।
भ्रान्त्वाऽपि दीर्घकालेन स सेत्स्यति मरीचिवत् ॥६४॥

अर्थात्—जो पुरुष एक मुहुर्त मात्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त होकर फिर उसे छोड़ देते हैं वे बहुत काल पर्यन्त संसार में भ्रमण करने के बाद भी मरीचि के समान मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

निसर्गात्तद्भवेज्जन्तोः स्वयं तीर्थकृतादिवत् ।
तच्चाधिगमतोऽन्येषां कृष्णादीनां निमित्ततः ॥६५॥

अर्थात्—उस सम्यक्त्व के निसर्गज (स्वतः स्वभाव से होने वाला) और अधिगमज (दूसरों के निमित्त से होने वाला) इस तरह दो भेद हैं। निसर्गज सम्यग्दर्शन जिस तरह तीर्थंकरा-दिकों के होता है उसी तरह संसारी जीवों के भी होता है और अधि-गम से होने वाला सम्यग्दर्शन जातिस्मरण, जिनबिम्ब के दर्शनादि से होता है।

मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं प्राक्कषायचतुष्टयम् ।
तेषामुपशमाज्जातं तदौपशमिकं मतम् ॥६६॥

अर्थात्—मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, और सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, और लोभ इन सातों प्रकृति के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है।

षण्णामनुदयादेकसम्यक्त्वस्योदयाच्चयत् ।
क्षायोपशमिकं नाम सम्यक्त्वं तन्निगद्यते ॥६७॥

अर्थात्—मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, तथा अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, इन छह प्रकृतियों का उदय न होने से और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से होनेवाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

सप्तानां प्रकृतीनां तत्क्षयात्क्षायिकमुच्यते ।
आदौ केवलिमूले स्यान्नृत्वे तदनुसर्वतः ॥६८॥

अर्थात्—ऊपर कही हुई सातों प्रकृति के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षायिक सम्यक्त्व जब होता है तब तो वह श्री-केवली भगवान् के समीप में और मनुष्य पर्याय के होने परही होता है। और होने के बाद दूसरी गतियों में भी साथ रहता है।

चञ्चलं निर्मलं गाढं शान्तमोहान्तमादिमम् ।
सप्तमान्तं चलागाढं समलं वेदकं मतम् ॥६९॥

अर्थात्—उपशम सम्यक्त्व चञ्चल, निर्मल, गाढ़, तथा जिस में मोह शान्त रहता है। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सप्तमगुणस्थान पर्यन्त होता है तथा चलायमान, अगाढ़ और मल सहित होता है इसी का दूसरा नाम वेदक भी है।

क्षायिकं निर्मलं गाढमचलं स्यादनन्तकम् ।
चतुर्थं गुणमारभ्य दर्शनानीह त्रीण्यपि ॥७०॥

अर्थात्—क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल, गाढ़, अचल, और अनंत होता है। इन तीनों सम्यक्त्व का चतुर्थ गुणस्थान से आरंभ होता है।

सम्यक्त्वसंयुतो जीवो मृत्वा देवगतिं व्रजेत् ।
बद्धायुष्कस्त्वतः कश्चिच्छ्वभ्रं भोगभुवं परः ॥७१॥

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि जीव नियम से देवगति में जाता है। परन्तु यदि पहले आयु का वन्ध हो गया हो तो कोई नरक में अथवा भोगभूमि में जाता है।

असंज्ञी स्थावराः पञ्च पर्याप्तेतरभेदतः ।
तिस्त्रःस्त्रियस्त्रयो देवाः षट्श्वभ्राण्येषु नैति सः ॥७२॥

अर्थात्—सम्यक्त्व से जो जीव विभूषित होता है उसे असंज्ञी पांच प्रकार के स्थावर, अपर्याप्त, स्त्रीपर्याय, तीन प्रकार की देव पर्याय और छहनरक इतनी गतियों में जन्म धारण नहीं करना पड़ता है ।

द्वे सम्यक्त्वेऽसंख्यातान्वारान्गृह्णाति मुञ्चति ।
भवे भ्रमन्नयं जीवः क्षायिकं तु न मुञ्चति ॥७३॥

अर्थात्-इस संसार में भ्रमण करते हुवे इस जीवने उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व को असंख्यात वार ग्रहण किये और छोडे हैं। भावार्थ-ये दोनों सम्यक्त्व होकर भी छूट जाते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व हुवे बाद नहीं छूटता है । भावार्थ-जब तक यह आत्मा मोक्ष को प्राप्त न होगा तबतक क्षायिक सम्यक्त्व बना-ही रहेगा ।

क्षायिकी तद्भवे सिध्येत्कश्चित्कश्चित्तृतीयके ।
नृपश्वोः पतितायुष्कः कश्चित्तुर्ये न संशयः ॥ ७४ ॥

अर्थात्— जिसे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया है वह उसी भव में अथवा तृतीय भव में नियम से मोक्ष में जाता है परन्तु यदि मनुष्य और पशु पर्याय में जिसकी आयु का बन्ध हो गया है तो वह चौथे भव में नियम से मोक्ष मे जायगा । इस में किसी तरह का सन्देह नहीं समझना चाहिये ।

शङ्का कांक्षा विचिकित्सा पराशंसनसंस्तवाः ।
सम्यक्त्वस्यत्वतीचाराः पञ्चेत्युक्ता जिनेश्वरैः ॥७५॥

अर्थात्—जिन भगवान के कहे हुवे तत्त्वों में संशय का करना, संसार सम्बन्धि भोगों की अभिलाषा करना, धर्मात्मा पुरुषों के रोगादि से पीड़ित शरीरादि को देख कर उससे ग्लानि करना, मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसा करना तथा उनकी स्तुति करना ये सम्यक्त्व व्रत के पांच अतीचार हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुषों को इन अतीचारों से अपनी आत्मा को पृथक रखना चाहिये। ये सम्यक्त्व को दूषित कर देते हैं।

मन्दिराणामधिष्ठानं तरूणां सुदृढं जटम्।
यथा मूलं व्रतादीनां सम्यक्त्वमुदितं तथा ॥७६॥

अर्थात्—जिस तरह मकानों की नीव जबतक अच्छी तरह मजबूत न होगी तब तक मकान चिरकाल पर्यन्त ठहर नहीं सकता। तथा वृक्षों के सुदृढ़ रहने की मूल कारण जड़ है, उसी तरह कितने भी व्रत नियमादि धारण किये जायं और जब तक सम्यक्त्व न होगा तब तक वे एक तरह से व्यर्थ ही हैं। इसलिये व्रतादिकों का मूल कारण सम्यक्त्व को समझ कर पहले उसी के धारण करने में प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यक्त्वे सति सर्वाणि फलवन्ति व्रतानि च।
शून्यानि च वहून्यादौ यथैकाङ्के सति ध्रुवम् ॥७७॥

अर्थात्—व्रत नियमादि सब सम्यक्त्व के होने पर ही सफल होते हैं। और सम्यक्त्व से रहित जीव के व्रतादि उसी तरह निष्फल है जिस तरह अंक के विना विन्दियें निष्फल होती हैं।

सम्यक्त्वेन हि सम्पन्नः सम्यग्दृष्टिरुदाहृतः।
सोऽस्ति तुर्यगुणस्थाने प्रसन्नान्तर्मुखः सदा ॥७८॥

अर्थात्— जो सम्यक्त्व रत्न से विभूषित होता है वही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है और वह चौथे गुण स्थान में होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष निरन्तर प्रसन्न चित्त होता है। उसे किसी तरह की चिन्ता आधि व्याधि आदि नहीं दबाती हैं।

गुणास्तस्याष्ट सम्वेगो निर्वेदो निन्दनं तथा।
गर्होपशमभक्ती च वात्सल्यमनुकम्पनम् ॥७९॥

अर्थात्—निरन्तर संसार के दुःखों से डरना, संसार भोगादिकों से वैराग्य भाव होना, दूसरे जीवों की निन्दा से रहित होना, अपने किये हुवे पाप कर्मों की आलोचना करना, परिणामों का हर समय शान्त रहना, देव गुरु शास्त्रादि में अखंड भक्ति का होना, धर्मात्मा

पुरुषों पर वात्सल्य का रखना तथा प्रत्येक जीवों-पर दया बुद्धि का रहना, ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि पुरुषों में रहते हैं।

सम्वेगप्रशमास्तिक्यदयाभिः स परीक्ष्यते ।
सम्यग्दृष्टिर्वहिर्भागे व्रतवाञ्छापरायणः ॥८०॥

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि पुरुष बाहिर से सम्वेग, प्रशम, आस्तिक्य तथा दया बुद्धि इन चार गुणों से परीक्षा किया जाता है।

भावार्थ—अन्तरङ्ग की बात तो अवधि ज्ञानी आदि के विना कोई नहीं जान सकता फिर यह कैसे मालूम हो कि यह सम्यग्दृष्टि है इसी से ये चार बातें आचार्यों ने बताई हैं जो बाहिर के सम्यग्दृष्टि पुरुष सहज में जाने जा सकते हैं।

भूराज्यादिसहक्क्षुधादिवशगो यः सर्वदृश्वाऽऽज्ञया
त्याज्यं शं करणोद्भवं स्वजमुपादेयन्त्विति श्रद्दधत् ।
स्तेनः खण्डयितुं धृतस्तलवरेणेव स्वनिन्दादिक—
दाक्षं शंश्रयते वधत्यपि परं नो क्लिश्यते सोप्यघैः ॥८१॥

भावार्थ—श्री जिन देव कभी असत्य के बोलने वाले नहीं हैं ऐसा हृदय में निश्चय करके उनकी आज्ञा से इन्द्रियों से होने वाले सुखों को छोड़ने योग्य और अपने आत्मीय सुख को ग्रहण करने योग्य श्रद्धान करता हुआ, जिस तरह कोतवाल जिसे मारना चाहता है वह चोर पुरुष अपने पाप कर्मों की निन्दा करता है उसीतरह विषय सुखों से विरक्त न होने के कारण अपने आत्मा की निन्दा को करने वाला होकर यदि अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, की पराधीनता से हिंसादि पञ्च पापों का तथा विषयादिकों का सेवन करता है तौभी वह दुखों को नहीं पावैगा। ऐसेही पुरुष अविरतसम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं।

यः सप्तकर्मोदयजातदुःखं
समन्वभूदादिविवर्जिते भ्रमन् ।
जिनेन्दुवाक्यामृतपाः सुमेधा—
स्तद्धानितोऽनाकुलसौख्यमाप सः ॥८२॥

भावार्थ—इस अपार संसार में अनादि काल से भ्रमण करते हुवे जिन जीवों ने सात कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले दुःखों को भोगे हैं। जिन भगवान् के बचन रूपी अमृत के पीने वाले और बुद्धिमान् उन्हीं भव्यात्माओं ने उन कर्मों के नाश हो जाने से आकुलता रहित सुख को अपने हस्त गत किया है। तात्पर्य यह है कि — जो पुरुष श्री वीतराग भगवान् के वचनों को अपने हृदय मे धारण करेगा वह नियम से मोक्ष को प्राप्त होगा इसलिये आत्महित के अभिलाषी पुरुषों को जिन भगवान् के बचनों के ग्रहण करने में प्रयत्न शील होना चाहिये।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडित मेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे सम्यग्दर्शनस्वरूपवर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः प्रत्यासन्नामृतः प्रभुः ।

स स्याच्छ्रावकधर्मार्हो धर्मः स त्रिविधा भवेत् ॥ १ ॥

अर्थात्—जो सम्यग्दर्शन से युक्त होता है और जिसकी संसार स्थिति बहुत निकट है वही पुरुष श्रावक धर्म के ग्रहण करने के योग्य है। उस श्रावक धर्म के तीन भेद हैं।

पक्षश्चर्या साधनञ्च त्रिधा धर्मं विदुर्बुधाः ।

तद्योगात्पाक्षिकः श्राद्धो नैष्ठिकः साधकस्तथा ॥ २ ॥

अर्थात्—पक्ष, चर्या और साधन इन भेदों से धर्म के तीन भेद महर्षि लोगों ने कहे हैं। इन तीनों धर्मों के धारण करने से पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इस तरह श्रावक के भी तीन भेद होते हैं।

मैत्र्यादिभावनावृद्धं त्रसप्राणिवधोज्झनम् ।

हिंस्यामहं न धर्मादौ पक्षः स्यादिति तेषु च ॥ ३ ॥

अर्थात्—अब सविस्तर तीनों धर्मों का वर्णनं किया जाता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ इन चार प्रकार की भावनाओं से वृद्धि को प्राप्त हुवे को और दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रियादि जीवों के वध के छोड़ने को, तथा धर्म के लिये भी कभी जीवो के नहीं मारने को पक्ष कहते हैं।

सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः ।

अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षीह पाक्षिकः ॥ ४ ॥

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि, अतिचार सहित मूल गुण और अणुव्रत का पालन करने वाला, जिन भगवान् की पूजनादि में अनुरागी तथा आगे २ ज्यादा व्रतों के धारण करने की इच्छा करने वाला पाक्षिक श्रावक कहा जाता है।

दोषं संशोध्य संजातं पुत्रेऽन्यस्य निजान्वयम् ।

त्यजतः सद्य चर्यास्यान्निष्ठावान्नामभेदतः ॥ ५ ॥

अर्थात्—पहले कृषि आदि के आरम्भ से जो २ दोष उत्पन्न हुवे हैं उन्हें ठीक २ प्रायश्चित्तादि से शोधन करके अपने घर को छोड़ने वाले को चर्या नामक धर्म होता है। नाम भेद से उसे निष्ठा-वान् भी कहते हैं।

दृष्ट्यादिदशधर्माणां निष्ठा निर्वहणं मता।
तया चरति यः स स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुकः ॥ ६ ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र और उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन, ब्रह्मचर्य इनके पालन करने की निष्ठा (श्रद्धा) करके जो युक्त होता है वह नैष्ठिक कहा जाता है।

स्यादन्तेऽन्नेहकायानामुज्झनाद्ध्यानशुद्धिता।
आत्मनः शोधनं ज्ञेयं साधनं धर्ममुत्तमम् ॥ ७ ॥

अर्थात्—मरण समय में अन्न और शरीरादिकों में ममत्व को छोड़कर और ध्यान की शुद्धि से अपने आत्मा को शुद्ध करने को साधन नाम उत्तम धर्म कहते हैं।

ज्ञानानन्दमयात्मानं साधयत्येष साधकः।
श्रितापवादलिङ्गेन रागादिक्षयतः स्वयुक् ॥ ८ ॥

अर्थात्—जो राग द्वेषादिकों का नाश हो जाने से अपवादलिङ्ग को धारण करके समाधि मरण करने वाले अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का साधन करते हैं वे साधक श्रावक कहे जाते हैं।

भावार्थ—सन्यास पूर्वक मरण करने वाले साधक श्रावक कहे जाते हैं।

इति पीठिका.

देशयमघ्नकोपादिक्षयोपशमभावतः।
श्राद्धो दर्शनिकादिस्तु नैष्ठिकः स्यात्सुलेश्यकः ॥ ९ ॥

अर्थात्—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ

के क्षयोपशम होने से दर्शन प्रतिमा आदि को धारण करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है उसके पीत पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं में से कोई लेश्या होती है।

प्रारब्धो घटमानश्च निष्पन्नो योगवद्यमः।
यस्याऽऽर्हतस्य स त्रेधा योगीव देशसंयमी ॥१०॥

अर्थात्—जिस तरह साधु पुरुषों के प्रारब्ध योग, घटमान योग और निष्पन्न योग ये तीन योग होते हैं उसीतरह अर्हन्त भगवान् को ही देव मानने वाले के प्रारब्ध (आरंभ किया हुआ) देशसंयम, घटमान (सम्पादन किया जाने वाला) देशसंयम और निष्पन्न (पूर्णताको प्राप्त हुआ) देशसंयम ये तीन देशसंयम होते हैं। उसे देशसंयमी कहते हैं।

आद्यो दर्शनिकः श्राद्धो द्वितीयो व्रतिको मतः।
सामायिकी प्रोषधोपवासकृत्स्याच्चतुर्थकः ॥११॥
सचित्तदिवामैथुनविरतौ ब्रह्मचारिकः।
आरंभपरिग्रहानुमतान्मुक्तास्तथोद्दिष्टात् ॥१२॥

अर्थात्—पहली प्रतिमा को धारण करने वाला दर्शनिक श्रावक कहा जाता है। दूसरी प्रतिमा को धारण करने वाला व्रतिक कहा जाता है। इसीतरह तीसरी प्रतिमा के धारण करने वाले को सामायिकी कहते हैं। प्रोषधोपवास का करने वाला चौथा श्रावक कहा जाता है। सचित्त विरति पांचमी प्रतिमा का धारण करने वाला होता है। छटी प्रतिमा का धारण करने वाला दिन में मैथुन का त्यागी होता है। सातवीं प्रतिमा को धारण करने वाला ब्रह्मचारी कहा जाता है। आठवीं प्रतिमा वाला आरम्भ का त्यागी होता है। नवमीं प्रतिमा का धारक परिग्रह का त्यागी होता है। दशमी प्रतिमा का धारक संसार सम्बन्धि कृषि विवाहादिकार्यों में मन, वचन, काय से सम्मति देने का त्यागी होता है। ग्यारमीं प्रतिमा का धारक अपने निमित्त से बनाये हुवे भोजन का त्यागी होता है।

एकादशोपासकेषु षडाद्या गृहिणोऽधमाः।
वर्णिनोऽन्ये त्रयो मध्या उत्कृष्टौ भिक्षुकौ परौ ॥१३॥

अर्थात्—इन ग्यारा प्रतिमाओं के धारण करने वालों में आदि के छह जघन्य श्रावक कहे जाते हैं। ब्रह्मचारी आरंभत्यागी और परिग्रहत्यागी ये तीन मध्यम श्रावक कहे जाते हैं और बाकी दो प्रतिमाओं के धारण करने वाले उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते हैं। इन्हें सामान्यता से उत्कृष्ट भिक्षुक भी कहते हैं।

पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शनः।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्च्चकः ॥१४॥

मलात्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः।
न्याय्यां वार्त्तां वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः ॥१५॥

अर्थात्—पाक्षिक श्रावक सम्बन्धि आचारादिकों से जिसने अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध कर लिया है। जो संसार और विषयादि से विरक्त है। सदा अर्हन्त भगवान् की पूजनादि करने वाला है। मूल गुणों के दोषों का सर्वथा नाश करके आगे की प्रतिमाओं के धारण करने में उत्कंठित तथा अपने शरीर की स्थिति के लिये न्याय युक्त आजीविका का करने वाला है वही दर्शनिक (दर्शन प्रतिमा का धारक) कहा जाता है।

विषयानजस्रं हेयाञ्ज्ञानतोऽप्यर्हदाज्ञया।
मोक्तुं मोहादशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१६॥

अर्थात्—जिन भगवान् की आज्ञा से विषयादि निरन्तर छोड़ने योग्य हैं ऐसा जानता हुआ भी चारित्र मोह के उदय से उन के छोड़ने को असमर्थ है। उसी के गृहस्थ धर्म की योग्यता है।

तावदाज्ञां जिनेन्द्रस्य श्रद्दधद्वधमुज्झितुम्।
अष्टौ मूलगुणान्याति यः पीठं धर्मपादपे ॥१७॥

अर्थात्—जिन भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिंसा के छोड़ने के लिये जो आठ मूल गुणों को धारण करता है समझना चाहिये उस पुरुष ने धर्म रूप वृक्ष के ऊपर चढ़ने के लिये मूल स्थान को अपने अधीन कर लिया है।

मद्यमांसमधुत्यागं पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
सातिचारं बुधा आहुरष्टौ मूलगुणानिति ॥१८॥

अर्थात्--अतिचार से युक्त मद्य, मांस मधु (सहत) तथा पञ्च उदुम्बर फल के त्यागने को महर्षि लोग आठ मूल गुण कहते हैं।

मद्यद्रवमया जीवा म्रियन्ते स्थावरास्त्रसाः ।
अनेके मद्यपानेन तस्मान्मद्यं परित्यजेत् ॥१९॥

अर्थात्—अब पहले ही मद्य के पीने से क्या २ हानियें होती हैं उन्हें बताकर उसके छोड़ने का उपदेश देते हैं-मद्य के पीने से मद्य में उत्पन्न होने वाले स्थावर और त्रस जीवों का घात होता है, इस लिये मदिरा को कभी नहीं पीना चाहिये।

दैवाद्यदि समुद्भूता मद्यविन्दुलवेऽङ्गिनः ।
प्रसरन्ति तदा नूनं पूरयन्त्याखिलं जगत् ॥२०॥

अर्थात्—आचार्यों का कहना है कि दैव गति से, बहुत मद्य में तो रहे किन्तु एक बिन्दु के कणमात्र से उत्पन्न होने वाले जीव यदि फैलने लगे तो सारे संसार को पूर्ण कर देंगे।

मूर्च्छा कम्पः श्रमः खेदो वैमुख्यं रक्तदृष्टिता ।
गतिभङ्गादयोऽन्येपि दोषाः स्युर्मद्यपानतः ॥२१॥

अर्थात्—मद्य के पीने से केवल जीवों का ही घात होता है सो ही नहीं है किन्तु मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रों का लाल होना, तथा गमन करने के समय पावों का इधर उधर गिरना इत्यादि अनेक दोष होते हैं।

रथ्यायां पतितो मत्त आगत्य श्वा तदानने ।
श्वेवद्यदि विलभ्रान्त्या ब्रूतेऽन्यं देहि मे ॥२२॥

अर्थात्—मदिरा के पीने से उन्मत्त होकर मनुष्य जब कभी गलियों में गिर पड़ता है। तब बिल की शङ्का से कुत्ता उसके मुंह में मूतने लगता है तो वह उन्मत्त कहता है कि मुझे और देओ।

मद्यपो मातरं ब्रूते त्वमेहि त्वां रमे भृशम् ।
भार्यांश्च तव पुत्रोऽहं स्तनपानेन पालय ॥२३॥

अर्थात्—मदिरा के पीने वाले जीवों का योग्यायोग्य विचार तो कहां चला जाता है इसका हम उपपादन ही नहीं कर सकते। देखो ! मदिरा का पीने वाला अपनी माता से कहता है कि तुम इधर आओ तुमारे साथ मैं विषय सेवन करूं। और अपनी स्त्री से कहता है कि अयि जननि ! मैं तुम्हारा पुत्र हूं मुझे अपने स्तनों का दूध पिला कर पालो।

सज्जनानङ्गजान्बन्धून् शत्रूनिव सुमारयेत् ।
क्रुद्धः सन् गृहभांडानि स्फोटयत्याशु यष्टिना ॥२४॥

अर्थात्—मद्य का पीने वाला विचारे सज्जन पुरुषों को तो अपने लड़के लड़की की माफक और अपने बन्धु लोगों को शत्रु की तरह अत्यन्त मारता है। तथा क्रोधी होकर अपने ही घर के वर्तन वगैरह को शीघ्र ही लकड़ी से फोड़ डालता है।

मृत्वैति नरके घोरं मद्यपानेन पापधीः ।
चक्षुःस्पन्दामिति यत्र न सुखं जायतेऽङ्गिनाम् ॥२५॥

अर्थात्—मदिरा का पीने वाला वह पापात्मा अपने दुष्कर्मों के फल से मर कर घोर दुःखों के प्रधान स्थान नरक में जाता है। जहां नेत्रों के निमेष लगने मात्र भी जीवों को सुख नहीं होता है।

भावार्थ—जितनी आयु नरक में होती है उतनी आयु पर्यन्त निरन्तर घोर दुःखों की वेदना नरक में सहन करनी पड़ती हैं।

तन्मुखेऽन्यो ज्वलत्ताम्रद्रवं क्षिप्त्वा वदन्ति च ।
पिब मद्यमिदं पाप रोचतेऽद्यापि ते भृशम् ॥२६॥

अर्थात्—नरकों में मद्य पीने वाले जीवों के मुख में नारकी लोग जलते हुवे तांबे को डाल कर कहते हैं कि रे पापी ! इस मद्य को पी तुझे तो मद्य वहुत रुचिकर लगता है।

ततो निर्गत्य तिर्यक्षु पीडितेषु क्षुदादिभिः ।
परस्परविरुद्धेषु सहते वेदनामसौ ॥२७॥

अर्थात्—वह जीव नरकों में अनेक तरह के दुःखों को भोग कर आयु के अन्त में नरकों से निकल कर तिर्यञ्च योनि में पशु पर्याय को धारण करता है जिस पर्याय में क्षुधा तृषा, शीत, उष्ण, ताड़न, छेदन, भेदन आदि अनेक प्रकार की बाधायें निरन्तर बनी रहती हैं। इतने पर भी परस्पर विरुद्ध पर्याय में और भी दुष्कर दुःखों की वेदनायें सहन करनी पड़ती हैं।

कश्चिन्मत्तेन भिल्लेन रुद्धो गङ्गां व्रजन्द्विजः ।
मद्यमांसाङ्गनास्वेकतमं चेद्भोक्ष्यसे तदा ॥२८॥

मुञ्चे नो चेन्निहन्मि त्वां श्रुत्वाऽसावित्यचिन्तयत् ।
भक्ष्यं मासं न जीवाङ्गाद्भिल्ली सेव्याऽधमा च नो ॥२९॥

तस्माद्गुडोदकाद्युत्थं मद्यं पीत्वा व्रजाम्यतः ।
पीतं तेन ततो भ्रान्त्या तद्द्वयं चाऽभजत्त्वसौ ॥३०॥

अर्थात्—किसी समय एक ब्राह्मण गङ्गा स्नान के लिये जाता था रास्ते में उसे एक उन्मत्त भील मिला, भीलने ब्राह्मण से कहा कि यदि तुम मद्य मांस अथवा स्त्री इन तीन वस्तुओं में से किसी एक का उपभोग करोगे तो मैं तुम्हे आगे जाने के लिये छोडूंगा यदि मेरा कहना नहीं करोगे तो मैं इसी समय तुम्हें मार दूंगा। इस बात को सुन कर ब्राह्मण महाराज बिचार में पड़ गये उन्हों ने सोचा अब क्या करना चाहिये। अखीर में उन्हों ने निश्चय किया कि— मांस तो जीवों के मारने से उत्पन्न होता है इसलिये योग्य नहीं है और यह भिल्लनी नीच जाति है इस लिये यह भी ब्राह्मणों के सेवन करने के योग्य नहीं है। हां बचा मद्य सो यह तो गुड़ जलादि से बनाया जाता है। इससे उसके पीने में कोई हानि नहीं है। इसी भ्रान्ति से उस ने मद्य को पी लिया। मद्य के पीते ही उसने मांस तथा उस भिल्लनी का भी उपभोग किया।

भावार्थ—मद्य एक ऐसा पदार्थ है जो नहीं करने योग्य कामों में भी सहसा प्रवृति करा देता है इसलिये मद्य का त्याग करना चाहिये।

मत्वेति दोषवश्याऽयं मद्यं चित्तभ्रमप्रदम्।
चित्तभ्रमेण मत्तोऽसौ कान्यकार्याणि नाऽऽदरेत् ॥३१॥

अर्थात्—अब ग्रन्थकार मद्य के वर्णन को संकोचित करके उपदेश देते हैं कि—इस तरह अनेक प्रकार के दोषों के स्थान भूत और चित्त में भ्रान्ति को पैदा करने वाले मद्य को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उन्मत्त पुरुष चित्त की भ्रान्ति से किन २अनर्थों को नही करते हैं।

इहाऽमुत्रेति तन्मत्वा दुःखदं यस्त्यजेत्रिधा।
तत्सम्बन्धमकुर्वाणः स स्यान्मद्यव्रती जनः ॥३२॥

अर्थात्—इस तरह मद्य को दोनों लोकों में दुःख का देने वाला समझ कर जो मद्य को छोड़ते हैं अथवा मन, वचन और काय से मद्य का सम्बन्ध तक भी नहीं होने देते हैं वेही मद्य व्रती (मदिरा के छोड़ने वाले) कहे जाते हैं।

इति मद्यदोषाः

वीभत्सु प्राणिघातोत्थं कृमिमूत्रमलाविलम्।
स्पृष्टुं द्रष्टुं सतां नार्हं तन्मांसं भक्ष्यते कथम् ॥३३॥

अर्थात्—अब मांस के भक्षण करने में दोषों को बताकर उस के त्याग करने का उपदेश देते हैं—जिस के देखने मात्र से आत्मा में ग्लानि पैदा होती है। जो जीवों के मारने के बिना उत्पन्न ही नहीं होता तथा कीडे, मूत, पुरीष (विष्टा) इत्यादि महा अपवित्र पदार्थों से युक्त होता है। जिसे सज्जन पुरुष देखना तक अच्छा नहीं समझते उसका स्पर्श तो दूर रहे, वही मांस खाने के योग्य कैसे हो सकता है? दुष्ट लोग उसे भी खा जाते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है।

पाषाणाज्जायते नैवं न काष्ठान्न मृदादितः।
पशुघातोद्भवं सद्भिस्तन्मांसं कथमश्यते ॥३४॥

अर्थात् —मांस न तो पाषाण से उत्पन्न होता है और न काष्ठ से तथा मिट्टी आदि से पैदा होता है जिस से वह पवित्र और

खाने के योग्य समझा जाय ? किन्तु विचारे निरपराध जीवों के वध करने से होता है इसलिये सज्जन पुरुष उस के भक्षण करने को कैसे उत्तम समझ सकते हैं। भावार्थ—मांस सर्वथा त्यागने योग्य है।

यस्याऽहं मांसमद्म्यत्र भेत्य मां स समत्स्याति ।
एतां मांसस्य निर्युक्तिमाहुः सूरिमताह्लिकाः ॥२५॥

अर्थात्—अब ग्रन्थ कार मांस शब्द की निर्युक्ति बतलाते हैं- इस लोक में जिन २ जीवों का मैं मांस खाता हूँ पर लोक में वे भी मेरे मांस को खावें" बड़े २ महर्षि लोग मांस शब्द की इस तरह निर्युक्ति करते हैं। गे

फलसस्यादिवद्भक्ष्यं मांसं नो दोषवद्वदेत् ।
कश्चिदेवं तमाहार्यो नेत्थं भेदं निशामयम् ॥२६॥

अर्थात्—कदाचित् कोई मांस के विषय में यों कहने लगे कि फल तथा धान्य वगैरह जिस तरह खाने के योग्य है उसी तरह मांस भी खाने के योग्य है। उस में किसी तरह का दोष नहीं। ऐसे लोगों के प्रति बुद्धिमान् पुरुषों को उत्तर देना चाहिये कि यह कहना तुम्हारा ठीक नहीं है उसे सुनो !

द्विधा जीवा विनिर्दिष्टा जङ्गमस्थावरा बुधैः ।
जङ्गमेष्वस्तिमांसत्वं फलत्वमितरेषु च ॥२७॥

अर्थात्—बुद्धिमान् लोगों का कहना है कि जङ्गम (चलने फिरने वाले) और स्थावर इस तरह जीवों के दो भेद हैं। उन में जङ्गम जीवों का मांस होता है। और स्थावरों में फल होते हैं।

यद्यन्मांसमिह प्रोक्तं स स जीवोऽस्त्यसंशयम् ।
यो यो जीवो न तत्तद्धि मांसं सर्वं इति श्रुतम् ॥३८॥

अर्थात्—इस संसार में जो २ मांस कहा जाता है वह निश्चय से जीव है और जो २ जीव है वह मांस नहीं है। ऐसा सर्वत्र सुना जाता है।

यद्वत्पितास्ति गोधोऽत्र * स सर्वःपितृको न हि ।
आम्रवृक्षोऽस्ति वृक्षो न सर्वोप्याम्रमयः किल ॥३९॥

अर्थात्—जिस तरह पिता गोत्र हो सकता है परन्तु गोत्र मात्र पिता नहीं हो सकता। उसी तरह आम्र के वृक्ष को तो वृक्ष कह सकते हैं परन्तु वृक्ष मात्र को आम्र वृक्ष नहीं कह सकते। इसी तरह मांस को जीव कह सकते हैं परन्तु जीव मात्र को मांस नहीं कह सकते यही कारण है कि स्थावर यद्यपि जीव कहे जाते हैं परन्तु उन में मांसत्व व्यवहार नही होता। जैसे धान्य. फलादि पदार्थ हैं।

पेश्यां मांसस्य पक्वायामपक्वायां निगोतजाः ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते सद्यः सन्मूर्च्छिनो नराः ॥४०॥

अर्थात्—मांस पिंड चाहे पका हुआ हो अथवा अपका हुआ उस में निरन्तर निगोदिये जीव तथा सन्मूर्च्छन (अपने आप पैदा होने वाले) जीव उत्पन्न होते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। इस से मांस सत्पुरुषों के खाने योग्य नहीं है।

उत्पत्तिस्थानसाम्यत्वाद्भक्ष्यं मांसं तु दुग्धवत् ।
यो वक्तीत्थं स संबोध्य एभिर्वाक्यैर्जिनोदितैः ॥४१॥

अर्थात्—कदाचित् मांस के सम्बन्ध में कोई यों कहने लगे कि—जिस तरह दुग्ध उत्पन्न होता है उसी तरह मांस की भी उत्पत्ति है।

भावार्थ—मांस का और दुग्ध का उत्पत्ति स्थान तो समान है फिर दुग्ध तो खाने के योग्य है और मांस नहीं इसे कौन मानेगा ? ऐसे पुरुषों के प्रति जिन भगवान् के बचनों का आश्रय लेकर यों उत्तर देना चाहिये।

ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी ।
विषद्रोः पत्रमारोग्यकृन्मूलं मृतिकृद्भवेत् ॥४२॥

अर्थात्—ऊपर जो दुग्ध और मांस की उत्पत्ति एक स्थान से

---

* गोध की जगहें गोत्र ऐसा पाठ ठीक जचता है पाठक दूसरी प्रति से इस का निर्णय करें हमारे पास दूसरी प्रति नहीं थी।

बताकर दुग्ध के भी सेवन को अयोग्य बताया है वह ठीक नहीं है इसी बात को इस श्लोक में सिद्ध करते हैं कि—दुग्ध तो गृहण करने के योग्य है परन्तु मांस ग्रहण के योग्य नहीं है इसमें हम क्या कहें बस्तु की गति ही अनादि से इस प्रकार है। यही बात इस उदाहरण से स्पष्ट की जाती है—विष के वृक्ष का पत्र तो रोगों को दूर करने वाला होता है और उसका मूल (जड़) मृत्यु का देने वाला होता है। जिस तरह एकही वृक्ष से पत्र और मूल की उत्पत्ति होने पर भी दोनों की गति विचित्र है उसी तरह मांस और दुग्ध के विषय में भी समझना चाहिये।

पशुर्न हन्यते नैव हान्यते नैव दृश्यते।
अन्यथा भक्षणे नैव दोषो मांसस्य विद्यते ॥४३॥

अर्थात्—पशु को न तो स्वयं मारते हैं न उसे दूसरे लोगों के द्वारा मराते हैं और न मरा हुआ देखते हैं जब ये तीनों बातें नहीं देखी जाती हैं फिर मांस के खाने में कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—तयार मांस के खाने में कोई दोष नहीं कहा जा सकता।

योवक्तीति तमाहार्यो मृतस्यापि स्वयं पले।
स्पृष्टे स्याद्धिंसको यत्र भक्षिते तत्र किं न हि ॥४४॥

अर्थात्—जो लोग ऊपर की तरह कहने वाले हैं बुद्धिमान् पुरुषों को उन लोगों के लिये यों उत्तर देना चाहिये—यदि तुम्हारे कहने को माना जाय तो अपने आप से मरे हुवे जीव के मांस का स्पर्श करने मात्र से जब हिंसक हो जाता है तो उसके भक्षण में क्या हिंसक नहीं कहा जायगा ? किन्तु अवश्य कहा जायगा।

योऽत्ति मांसं स्वपुष्ट्यर्थं तस्मिन्निह पलाशिनि।
दयाधर्मः कुतो वन्हिदग्धवृक्षे फलादिवत् ॥४५॥

अर्थात्—जो अपनी पुष्टि के लिये जीवों के कलेवर (मांस) का भक्षण करते हैं उन पुरुषों में दयाधर्म का अङ्कुर भी नहीं होसकता जैसे अग्नि से जले हुवे वृक्ष में फल पुष्प की उत्पत्ति नहीं होसकती।

मातापित्रादिसम्बन्धो भवे जातोऽङ्गिभिः सह ।
तेन ते मारिताः सर्वे पशून्मारयितामिषे ॥४६॥

अर्थात्—इस संसार में इस जीव के जीवों के साथ अनेक वक्त माता पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्री, आदि अनेक सम्बन्ध हुवे हैं। इसलिये जिसने मांस की लोलुपता से बिचारे निरपराध दीन पशुओं को मारा है समझना चाहिये उसने अपने माता, पिता, आदि को ही मारा है।

तृणांशः पतितश्चाक्षि यस्य दुःखायते तराम् ।
ज्ञातदुःखोऽपि हा हन्ति शस्त्रेण श्वापदान्स किम् ॥४७॥

अर्थात्—नेत्रों में गिरे हुवे तृण की वेदना को जानते हुवे भी दुष्ट लोग बिचारे निरपराध पशुओं के गले पर छुरी क्यों चलाते हैं इसबात का बहुत खेद है।

यः स्वमांसस्य वृद्ध्यर्थं परमांसानि भक्षति ।
जिह्वारसग्रहग्रस्तस्तच्चारित्रेण पूर्यताम् ॥४८॥

अर्थात्— जो लोग जिह्वा के रस की लालसा में फंसकर अपने मांस की वृद्धि के लिये दूसरे जीवों के मांस को खाते हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उन दुष्ट पुरुषों के दुश्चरित्रों का वर्णन हम नहीं कर सकते। उनके इतने ही चारित्रों से पूरा पड़े।

सोऽधमो नरकं गत्वा भुक्त्वा दुःसहवेदनाम् ।
तिर्यग्गतौ ततः पापाद्भ्रमीति भवार्णवे ॥४९॥

अर्थात्—मांस के खाने वाले नीच पुरुष नरक में जाकर और वहां नाना तरह की दुःसह वेदनाओं को भोग कर नरक से निकलते हैं फिर उसी पाप से तिर्यञ्च गति में भ्रमण करते रहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उन पापी पुरुषों के लिये यह भव समुद्र बहुत गहन है।

भावार्थ—मांस के पाप से इस भव समुद्र में भ्रमण करते ही रहते हैं।

बुद्ध्वेति दोषवद्धीमान्मुञ्चेद्योगैः कृतादिभिः ।
तत्संगमपि यः सोऽत्र मांसत्यागव्रती भवेत् ॥५०॥

अर्थात्—इस तरह मांस को दुःख और पाप का मूल कारण समझ कर जो बुद्धिमान् मन, वचन, काय, और, कृत, कारित अनुमोदना से मांस तथा मांस के स्पर्श तक को छोड़ देते हैं। वेही लोग मांस छोड़ने वाले (मांस त्याग व्रती) कहे जा सकते हैं।

अत्रान्तरे शृणु श्रीमन् श्रेणिकं गौतमोऽवदत् ।
येन प्राप्तं जिनोद्दिष्टं मांसनिर्वृतितः फलम् ॥५१॥

अर्थात्—इसी अवसर में भगवान गौतम् स्वामी महाराज श्रेणिक से कहते हुवे कि—हे श्रीमन् ! जिसने मांस के छोड़ने से जिन भगवान् के कहने के अनुसार फल पाया है उसकी कथा को तुम सुनो।

आसीत्खदिरसाराख्यः किरातो विन्ध्यकानने ।
समाधिगुप्तिनामानं मुनिं दृष्ट्वा ननाम सः ॥५२॥

अर्थात्—विन्ध्याटवी मे खदिरसार नामक एक भील रहता था। एक दिन उसने श्री समाधिगुप्त मुनिराज को देखा और उन्हें प्रणाम किया।

मुनिनोचे तदा भिल्लो धर्मलाभोस्तुते वर ।
को धर्मस्तस्य लाभः कः पृष्टस्तेन पुनर्मुनिः ॥५३॥

अर्थात्—उस समय मुनि राज ने उस भील से कहा कि—तुझे धर्म लाभ हो। "तुझे धर्म लाभ हो" इन बचनों को जब भील ने सुना तब फिर मुनि राज से पूछा। महाराज ! आपने जो धर्म लाभ कहा वह धर्म क्या है ? और उसका लाभ क्या है ?

धर्मो मांसादिनिर्वृत्तिस्तत्प्राप्तिर्लाभ उच्यते ।
ततः स्वर्गादिजं सौख्य प्राप्यते हेलया नरैः ॥५४॥

अर्थात्—इस तरह भील के प्रश्न को सुन कर मुनिराज ने फिर कहा कि—मांस, मदिरा, मधु आदि अपवित्र पदार्थों के त्यागने को धर्म कहते हैं और इनके त्याग रूप धर्म की प्राप्ति होने को लाभ कहते हैं इस धर्म को जो पुरुष धारण करते हैं उन्हें स्वर्गादिको के उत्तम २ सुख तो संकल्प मात्र से मिलते हैं।

निशम्य चिन्तयाद्भिल्लो नालं तन्मोक्तुमस्म्यहम् ।
क्रियते किं ? तदाऽऽकूतं मत्वेयूत्चे स भिक्षुणा ॥५५॥

अर्थात्—मांस के छुड़ाने रूप श्री मुनिराज के वचनों को सुन कर विचारा भील विचार मे पड़ गया कि मांस के छोड़ने को तो मैं समर्थ नहीं हूं अब क्या करना चाहिये ? मुनिराज ने झट से उसके अभिप्रायों को समझ कर भील से कहा ।

काकमांसं त्वया पूर्वं भक्षितं वत्स ! वा न वा ।
अद्य यावन्न मे भुक्तं तद्व्रतं तर्हि गृह्यताम् ॥५६॥

अर्थात्—हे वत्स ! तैंने पहले कभी काक का मांस खाया है वा नहीं ? इन बचनों को सुन कर भीलने कहा—महाराज ! मैंने अभी तक काक का मांस नही खाया । यह सुन कर फिर मुनि राज ने कहा कि—यदि तैंने काक का मांस नही खाया है तो अब से काक के मांस को छोड़ दे ।

यत्किञ्चिन्मुच्यते वस्तु तत्तन्नियमपूर्वकम् ।
यदा तदा भवेद्धर्मो न धर्मो नियमं विना ॥५७॥

अर्थात्—यद्यपि तैंने काक का मांस नहीं खाया है परन्तु इस से तेरे व्रत नही हो सकता क्योंकि किसी वस्तु का जो छोड़ना होता है वह नियम पूर्वक होता है और जब नियम होता है तब ही धर्म होता है क्योंकि नियम के विना धर्म हो ही नही सकता ।

अनुक्ता नैव लभ्येत धनेदत्तेऽपि कस्यचित् ।
धनं दत्वा निजं वृद्धिर्वणिग्भिः किन्न तूच्यते ॥५८॥

अर्थात्—ऊपर की ही बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—किसी को धन के देने पर भी जब तक उससे व्याज आदि का निर्द्धार नही किया जाता तब तक दिये हुवे धन की वृद्धि नहीं होती । यही कारण है कि धनवान् लोग द्रव्य के उधार देते समय व्याज वगैरह का निश्चय कर लेते हैं । उसी तरह नियम के विना वस्तु का छोड़ना लाभकारी नही हो सकता इसलिये किसी वस्तु का त्याग नियम पूर्वक करना चाहिये ।

इति लात्वा व्रतं तस्य प्रणम्य स्वगृहं गतः ।
कालान्तरे समुत्पन्नस्तस्य रोगोऽति दुःसहः ॥५९॥

अर्थात्—इस तरह मुनिराज के वचनों को सुनकर उस भील ने व्रत को गृहण किया और मुनि राज को नमस्कार करके अपने घर गया । कुछ समय के बाद उस भील के अत्यन्त दुःसह रोग उत्पन्न हुआ ।

कुटम्बेन तदाऽऽहूतो भिषग्विज्ञाय तद्रुजम् ।
तेनोक्तं काकमांसेन विना रोगो न शाम्यति ॥६०॥

अर्थात्—भील के रोग को दिनों दिन बढ़ता हुआ देख कर उसके घर वालों ने रोग की शान्ति के लिये वैद्य को बुलाया। वैद्य ने रोग की परीक्षा करके कहा कि यह रोग जब तक इसे काक का मांस न खिलाया जायगा तब तक कभी शान्त नहीं होगा ।

प्राणा यान्तु न भक्षामि तत्कापीत्यवदद्दृढी ।
व्रतभङ्गोऽत्र दुःखाय प्राणा जन्मनि जन्मनि ॥६१॥

अर्थात्—जब भील ने सुना कि काक के मांस के विना रोग नहीं जायगा तब वह बोला कि—चाहे मेरे प्राण भले ही चले जायं परन्तु मैं काक का मांस कभी नही खाऊंगा। क्योकि प्राणो का नाश तो केवल यहीं दुःख के लिये होगा और व्रतभङ्ग तो जन्म जन्म में दुःखों का देने वाला है ।

तपोवनसमीपे यद्गृहीतं तद्व्रतं मया ।
प्राणान्तेऽपि न तत्त्याज्य त्यागे पुरुषता कुतः ॥६२॥

अर्थात्—श्री मुनिराज के पास जो मैंने व्रत लिया है उसे प्राणों के चले जाने पर भी नहीं छोड़ूंगा । अरे गृहण किये हुये व्रत को छोड़ देने में क्या पुरुषत्व कहा जा सकता है ?

श्रुत्वेति तैः कृतो मन्त्रः कथमप्यस्त्यसौ पलम् ।
विना मित्रोपदेशेन किं भक्षाति कृतव्रतः ॥६३॥

अर्थात्—घर वालो ने समझा कि यह किसी तरह काक का मांस नहीं खाने का है इसलिये फिर उन्होंने विचार किया कि यह

व्रती मित्र के कहे विना काक का मांस नहीं खायगा इसलिये इस के मित्र को बुलाना चाहिये।

तदा तत्स्वसृनाथाय श्रीसौरपुरवासिने।
सूरवीराय तैर्लेखोऽदाय्यैतव्यं लघु वया ॥६४॥

अर्थात्—उस समय घर वालो ने श्रीसौरपुर के रहने वाले उसकी बहन के प्राणप्रिय सूरवीर के बुलाने के लिये पत्र भेजा और उसमें लिखा कि तुम जल्दी आओ।

लेखदर्शनमात्रेण स चचाल निजात्पुरात्।
पथाऽयान्दृष्टवान्यक्षीं रुदन्तीं वटपादपे ॥६५॥

अर्थात्—सूरवीर भी पत्र के देखने मात्र से अपने नगर से चला। मार्ग में आता हुआ किसी वट के वृक्ष के नीचे किसी यक्षी को रोती हुई देखी।

तेन पृष्टा तदा का त्वं कथं रोदिषि सुन्दरि।
अहं यक्षी स ते श्यालो भर्त्ता मे भविता व्रतात् ॥६६॥

अर्थात्—उसने उस रोती हुई यक्षी से पूछा कि हे सुन्दरि! तू कौन है और यहां क्यों रोती है? सूरवीर के बचनों को सुनकर यक्षी बोली कि मैं तो यक्षी हूँ और वह तुम्हारा साला खदिरसार व्रत के प्रभाव से मेरा स्वामी होगा।

गत्वाऽधुना तकं मांसं भोजयित्वा न यिष्यसि।
नरकं रोदिमीत्येवं श्रुत्वेति निजगाद सः ॥६७॥

अर्थात्—इसलिये तुम वहां जाकर और उसे काक का मांस मत खिलाना इसी से रोती हूं।

भावार्थ—यदि तुम उसे काक का मांस खिला दोगे तो उस के व्रत का भङ्ग हो जायगा और उसी व्रत भङ्ग के पाप से वह तो नरक चला जायगा फिर मेरा पति नहीं होने पावेगा। इसलिये रोती हूँ कि तुम उसे काक का मांस मत खिलाना। इस प्रकार उस यक्षी के बचन को सुनकर सूरवीर यों कहने लगा।

श्रद्धेहि यक्षि ! नो तस्य भोजयामि न मे वचः । *
तामाश्वास्य क्रमेणाऽयाद्भिल्लपल्लीं च तद्गृहम् ॥६८॥

अर्थात्--हे यक्षि ! तुम हमारे वचनों पर विश्वास करो मैं कभी उसे काक का मांस नही खिलाऊंगा। इस तरह उस यक्षी को विश्वास दिला कर वह सूरवीर क्रम से उस भील के ग्राम मे जाकर उसके घर पर पहुंचा।

प्रियश्यालक ! काकस्य मांसं भुङ्क्ष्वाऽऽमयापहम्।
तत्परीक्षार्थमेतत्स उक्तवान्त वचो मुहुः ॥६९॥

अर्थात्--हे प्रियश्याल ! अनेक तरह के रोगों को दूर करने वाले काक के मांस को क्यों नही खाते हो ? तुम्हें अवश्य खाना चाहिये। इसके बाद सूरवीर ने फिर उसकी परीक्षा करने के लिये बराबर काक के मांस को खाने के लिये आग्रह किया।

उवाच तं गदी मे त्वं सुहृत्प्राणसमोऽसमः ।
निन्द्यवाक्यन्तु वा वक्तुं युक्तं स्यादिति किं तव ॥७०॥

अर्थात्—इस तरह सूरवीर के वचनों को सुनकर वह भील बोला तुम मेरे प्राणों के समान अत्यन्त प्रिय मित्र हो तुम्हें ऐसे निन्द्य वचन कहना योग्य है ? भावार्थ—मित्रों का तो यह धर्म होता है कि कुमार्ग में चलने वाले मित्रों की कुमार्ग से रक्षा करें और तुम तो मुझे उल्टा कुमार्ग मे गिराना चाहते हो यह बात तुम्हें योग्य है क्या ?

ज्ञात्वा दृढतरं मार्गवृत्तान्तं स तदाऽऽह तम् ।
श्रुत्वा जग्राह सर्वं स श्रावकव्रतमुत्तमम् ॥७१॥

अर्थात्—जब सूरवीर ने समझा कि यह अपने धारण किये हुये व्रत से कभी च्युत नहीं होगा तो मार्ग में यक्षी सम्बन्धि जो वृत्तान्त बीता था उसे यों कह सुनाया। इस वृत्तान्त को सुनकर

---

* इस श्लोकार्ध में एक 'नो' का तात्पर्य समझ मे नहीं आता। 'नो' की जगह 'तत्' पाठ हो तो अच्छा है।

भील को और दृढ श्रद्धान हो गया। उसी से उसने और सब श्रावक के व्रत को ग्रहण किये।

जीवतान्ते स सौधर्मे देवोऽभूत्सुरसत्तमः।
व्रतप्रभावतः किं किं प्राणिनां नोपजायते ॥७२॥

अर्थात्—मरण के अन्त में फिर वह भील सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव हुआ ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस संसार में अथवा स्वर्गादि में और कौन ऐसा पदार्थ है जो व्रत के प्रभाव से नहीं होता है।

सूरवीरः क्रियाप्रान्ते परलोकस्य तस्य तु।
व्याघुटन्तेन मार्गेण तद्यक्षीमूचिषामिति ॥७३॥

अर्थात्—वह सूरबीर भी अपने साले की पारलौकिक सम्बन्धि क्रिया के अन्त में, जिस मार्ग से वह आया था उसी मार्ग से जाता हुआ उस यक्षी से बोला।

सुभगे किं स ते भर्त्ता जातो वा नाऽभिधेहि तत्।
सोवाच व्रतमाहात्म्यात्सौधर्मे न च मे पतिः ॥७४॥

भावार्थ—हे सुभगे! वह भील तुम्हारा प्राणनाथ हुआ या नहीं तुम ठीक कहो? सूरबीर के बचन को सुन कर यक्षी ने कहा-वह व्रत के माहात्म्य से सौधर्म स्वर्ग का देव हुआ है। मेरा स्वामी नहीं हुआ।

दिव्यान्भोगानिदानीं स स्वप्सरोभिर्भुनक्त्यलम्।
अविच्छिन्नाञ्जरातङ्कभयचिन्तादिवर्जितान् ॥७५॥

अर्थात्—वह सौधर्म स्वर्ग का देव इस समय अपनी देवाङ्गनाओं के साथ रोग, भय, चिन्ता आदि व्याधियों से रहित स्वर्ग के भोगों को निरन्तर भोगता है।

यक्षी वाक्यात्स सद्धर्मे श्रद्धावान्संगृहीतवान्।
समाधिगुप्तिसंज्ञस्य मुनेरन्ते गृहीव्रतम् ॥७६॥

अर्थात्—यक्षी के वचनों को सुन कर के सूरवीर भी अपनी

बुद्धि को जिन धर्म में दृढ़ करके उन्हीं समाधिगुप्ति मुनि के पास गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार किया।

अनुभूय सुरः सौख्यं सागरद्वयमैन्द्रियम्।
अभूः कुणिकभूपस्य श्रीमत्याः श्रेणिकः सुतः॥७७॥

अर्थात्—इस के बाद दो सागर पर्यन्त स्वर्ग जनित उत्तम उत्तम सुखों को भोग कर कुणिक नामक राजा और श्रीमती महाराणी के श्रेणिक नामक पुत्र हुवा।

इत्यार्षादिमतेन अथ श्रेणिकादिचरित्रानुसारेण—

(ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उक्त कथा प्राचीन मुनियों के अनुसार श्रेणिक चरित्र आदि ग्रन्थों से लिखी गयी है।)

सोऽपि कालेन तत्रैव स्वर्गे भूरिद्धिनायकः।
व्रतप्रभावतो राजन्वांछितार्थप्रदायिनि॥७८॥

अर्थात्—कुछ काल के बाद वह सूरवीर भी मनोवांछित सुखादि के देने वाले उसी स्वर्ग में व्रत के प्रभाव से ऐश्वर्य का स्वामी देव हुआ।

बुभुजाते सुखं दिव्यं द्वावपि स्नेहनिर्भरौ।
अप्सरोभिर्मनोऽभीष्टं स्वेच्छया सागरद्वयम्॥७९॥

अर्थात्—परस्पर अत्यन्त स्नेह से युक्त वे दोनों देव अपनी अपनी देवाङ्गनाओं के साथ इच्छा पूर्वक मनोवांछित स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते हुवे।

इह जम्बन्तरीपेऽस्मिन्क्षेत्रे भरतनामनि।
सूरकान्ताभिधोदेशः श्रिया देवकुरूपमः॥८०॥

अर्थात्—इस जम्बुद्वीप के भरत क्षेत्र में सूरकान्त नामका देश है। अपनी बढ़ी हुई शोभा से देवकुरु भोगभूमि से किसी तरह कम नहीं है।

प्रत्यन्तनगरं तत्र चतुर्वर्णसमाश्रितम्।
नीत्यादिगुणसम्पन्नस्तत्रेशो मित्रसंज्ञकः॥८१॥

अर्थात्—उस सूरकान्त देश मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि से शोभित प्रत्यन्त नाम का नगर है। उस नगर में राजनीति आदि अनेक प्रकार की राजविद्या को जानने वाला मित्रसंज्ञक नाम का राजा राज्य करता था।

खदिरादिचरः स्वर्गादेत्य तस्याऽभवत्सुतः।
समित्राम्भोरुहां मित्रो यः सुमित्रो निजाख्यया ॥८२॥

अर्थात्—वह खदिरसार भील का जीव सौधर्म स्वर्ग से आकर मित्र राजा के सुमित्र नामक पुत्र हुआ। वह सुमित्र अपने सुमित्र रूप कमलों के प्रफुल्लित करने के लिये वास्तव में मित्र (सूर्य के समान) था।

भावार्थ—जिस तरह सूर्य के उदय होने से कमल विकसित होते हैं उसी तरह इस सुमित्र के देखने से सब बन्धु लोगों का हृदय आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता था।

रूपेण हृदयोद्भूतः कान्त्येन्दुः स्वधिया गुरुः।
विद्याभ्यासं प्रकुर्वन्स चिक्रीड पितृमन्दिरे ॥८३॥

अर्थात्—लोकों को आश्चर्य के करने वाले अपने रूप से कामदेव के समान, मनोहर शरीर की कान्ति से चन्द्रमा के समान और अप्रतिम (असाधारण) बुद्धि से बृहस्पति के समान वह बालक सुमित्र विद्याभ्यास को करता हुआ अपने जनक के मन्दिर (गृह) में क्रीडा करता था।

अमात्यनन्दनोऽन्योऽपि सुरस्तत्रैव जातवान्।
सुषेणाख्योऽतिसौन्दर्यकलाविज्ञानपारगः ॥८४॥

अर्थात्—उसी प्रत्यन्त नगर में वह सूरवीर का जीव अत्यन्त सुन्दरता, कला, विज्ञान, आदि अनेक गुणों का जानने वाला सुषेण नामक, मन्त्री पुत्र हुआ।

राजमन्त्रिसुतौ स्नेहनिर्भरत्वमुपागतौ।
अतिष्ठतां सदैकत्र स्नानाऽऽसनक्रियादिषु ॥८५॥

अर्थात्—उन दोनों राजपुत्र और मन्त्रिपुत्रों का परस्पर अत्यन्त अनुराग हो गया। यहां तक कि उन दोनों का बैठना, उठना, स्नान करना, भोजन करना आदि सब साथ मे होता था।

भावार्थ—उन दोनों में परस्पर इतना प्रेम हो गया था कि एक के विना देखे एक को चैन नहीं पड़ता था।

जग्मतुः केलिबाप्यान्तौ जलक्रीडार्थमेकदा।
राजन्यैर्बुहुनेपथ्यैः सवयोभिः समं परैः ॥८६॥

अर्थात्—एक दिन वे दोनों मित्र अपने समान आयु आदि से मनोहर अनेक क्षत्रिपुत्रों के साथ जल क्रीडा करने के लिये क्रीडा करने की वापिकाओं के ऊपर गये।

मज्जनोन्मज्जनोभ्यां तौ प्लवनैरब्जताडनैः।
व्यधत्तां खेलनं वाप्यामन्योन्यं कलभाविव ॥८७॥

अर्थात्—वे दोनों मित्र वापिकाओं में डूबना, निकलना, तैरना एक के ऊपर एक का कमलों का फेकना इसी तरह अनेक प्रकार की क्रीडायें, जैसे बालक परस्पर में करते हैं उसी तरह परस्पर में करने लगे।

ईर्ष्ययाऽसौ सुषेणेन न्यक्षेपि क्वचिदंभसि।
अगाधे दैवतो भीत्या निर्गत्य स पलायितः ॥८८॥

अर्थात्—इतने में मंत्रि के पुत्र सुषेण ने द्वेष बुद्धि से स्वमित्र को कहीं बहुत गहरे जल के भीतर डाल दिया। और आप इस कुकर्म के भय से वहां से झट निकल कर कहीं पर भाग गया।

इसी प्रसंग में ग्रन्थकार एक नीति लिखते हैं—

एकमेकं सहन्ते नो तिष्ठन्त्येकाकिनोऽपि नो।
गर्दभा वृषभा अश्वाः कितवाः सुभगोऽर्भकाः ॥८९॥

अर्थात्—गधे, बैल, घोड़े धूर्तलोग (दूसरों को ठगने वाले) बुद्धिमान और बालक ये एक को एक नहीं देखते हैं और न एक के पास एक बैठते हैं।

भावार्थ—नहीं कह सकते इन लोगों का स्वभाव ऐसा क्यों होता है जो एक को एक अच्छा नहीं लगता।

इतः पुण्यात्स पानीयान्निर्गतो राजनन्दनः ।
समागत्य निजं धाम्नि क्रीडां कुर्वन्न्यवास्थितः ॥९०॥

अर्थात्—इधर वह राजपुत्र सुमित्र अपने भवान्तर में कमाये हुवे किसी बड़े भारी पुण्य कर्म के उदय से उस अगाध जल से ज्यों त्यों निकल कर अपने मकान पर आया ओर फिर भी पहले के समान क्रीड़ा करने लगा।

महत्काले व्यतिक्रान्ते दधौ राज्यं सुमित्रकः ।
गृहीतवांस्तपो जैनं सुषेणाश्चिरशङ्कया ॥९१॥

अर्थात्—इसी तरह उन दोनों मित्रों का बहुत काल व्यतीत हुआ। फिर सुमित्र को जब राज्य भार मिला तब सुषेण ने सोचा कि अब इसे राज्य प्राप्त हो गया है यह मुझे मार कर अवश्य अपना वैर निकालेगा इसी शङ्का से सुषेण जिन दीक्षा को गृहण करके मुनि हो गया।

निर्ग्रन्थवृत्तिमादाय धृतपञ्चमहाव्रतः ।
परीषहसहस्तेपे घोरं मध्याह्नभानुवत् ॥९२॥

अर्थात्—परीग्रह रहित मुनि व्रत को धारण करके जिस ने पञ्च महा व्रतों को धारण किये हैं ऐसा वह सुषेण मुनि नाना प्रकार की कठिन से कठिन परीषहों को सहन करता हुआ अत्यन्त दुर्धर तप को करने लगा। जैसे मध्यान्ह काल में सूर्य दुष्कर रूप से तपता है।

आसनस्थेन भूपेन मुनिर्दृष्टः परिभ्रमन् ।
अन्यदा पुरि भिक्षार्थं मध्याह्ने क्षीणविग्रहः ॥९३॥

अर्थात्—किसी समय महाराज सुमित्र ने अपने नगर में आहार के लिये मध्यान्ह काल में घूमते हुवे उन्हीं सुषेण मुनि को देखे। जिनका शरीर अनेक प्रकार के तपश्चरणादि के करने से अत्यन्त क्षीण (कृश) हो गया है।

पप्रच्छ स्वाङ्गरक्षं स कश्चित्कोऽसौ मुनीश्वरः ।
श्रुत्वेति निजगादेशं भटो देव निशम्यताम् ॥९४॥

मित्र- अर्थात्—महाराज ~~सुषेण~~ ने मुनि को देखकर अपने किसी शरीर रक्षक नौकर से पूछा कि यह कौन मुनिनाथ हैं? महाराज के वचनों को सुनकर वह अङ्ग रक्षक बोला—महाराज इन मुनि के सम्बन्ध की सब बातें कहता हूं आप सुनो ।

सुषेणो मन्त्रिपुत्रोऽयं तव प्राणसमः सुहृत् ।
त्यक्त्वा मोहमृषिर्जातो राजन्मासोपवासकृत् ॥९५॥

अर्थात्—हे देव ! जिन मुनि को आप अपने नयनों से देख रहे हैं वह और कोई नहीं हैं किन्तु तुम्हारे प्राणों के समान परम मित्र आप के मन्त्रि के पुत्र सुषेण हैं । इस समय संसार के मूल कारण मोह को छोड़ कर एक २ महीने के उपवासों को करने वाले मुनि हुवे हैं ।

गाम्भीर्येण सरिन्नाथं योधैर्येण सुरालयम् ।
जिगाय तपसा सूरं निसङ्गत्वेन मारुतम् ॥९६॥

अर्थात्—महाराज ! ये कोई ऐसे साधारण मुनि नहीं हैं किन्तु अपनी गम्भीरता से समुद्र को, धैर्य से सुमेरु पर्वत को, अपने घोर तप से सूर्य को, और निसङ्ग पने से (परिग्रह करके रहित होने से) वायु को जीत लिया है ।

जगत्सूरोऽपि यं दृष्ट्वा शङ्कते निजचेतसि ।
एतादृशं तपःकर्तुं कोऽलं स्यादिह तं विना ॥९७॥

अर्थात्—जिन मुनि के तपश्चरण को देख कर जगत का सूर्य भी अपने मन में यह सन्देह करता है कि अहो ! इस जगत में इस प्रकार तप करने को इन मुनि को छोड़ कर और कौन समर्थ कहा जा सकेगा ।

पारणार्थं समायातो विपिनादधुना मुनिः ।
प्राणाः स्युर्न विनाऽऽहारं स्थिराः कर्तुं तपोविधिम् ॥९८॥

अर्थात्—वेही श्री सुषेण मुनिराज आज एक महीने के उपवास के अनन्तर पारणा करने के लिये नगर में पधारे हैं। क्योंकि जब तक प्राणों को आहार का अवलम्बन न मिलेगा तबतक वे तप करने के लिये स्थिर कभी नहीं हो सकते।

तद्गीःसुधां निपीयाऽसौ भूपोऽमुञ्चन्मुदश्रुणी।
उत्थायासनतः पादौ तस्य भक्त्याऽनमत्तदा ॥९९॥

अर्थात्—महाराज सुषेण ने जब उस शरीर रक्षक के अमृत के समान बचनों को सुनें उसी समय उनके लोचनों से आनन्दाश्रु गिरने लगे। और उसी समय अपने सिंहासन से उठ कर भक्ति पूर्वक मुनिराज के चरण कमलों को नमस्कार किया।

भो! मित्र! दर्शनात्तेऽहं वद्बधेऽब्धिरिवेन्दुतः।
कृत्वा प्रसादमेहि त्वं गृहं राज्यं विधेहि मे ॥१००॥

अर्थात्—अयमित्र! आज मैं तुम्हारे पवित्र दर्शनों से चन्द्रमां के उदय होने से जैसे समुद्र बढ़ता है उसी तरह वृद्धि को प्राप्त हुआ हूं। इसलिये मेरे पर प्रसन्न होओ और इस सम्पत्ति शालि राज्यलक्ष्मी को तथा इस गृह को स्वीकार करो।

एष देशः श्रियां देशः पुरियन्त्वलकोपमा।
अमी गजा अमी अश्वाः कान्ताः कान्ता अमूस्तव ॥१०१

अर्थात्—देखो! यह देश तो एक तरह लक्ष्मी का देश (स्थान) है और यह पुरी कुबेर की अलकावली (अमरावती) नगरी के समान है। ये हाथी हैं ये घोडे हैं और ये अतिशय सुन्दरी स्त्रिये हैं। यह सब साम्राज्य आपही का है।

अहं राज्यधुरं धर्त्तुमसमर्थोतिदुर्द्धराम्।
अतो गृहाण भोमित्र! राज्यं राजशतानतम् ॥१०२॥

अर्थात्—अयदीन दयाल! मैं अकेला अत्यन्त दुर्द्धर इस राज भार के धारण करने को समर्थ नहीं हूं। इसलिये सैकडो राजा लोग जिसकी आज्ञा को धारण करते हैं ऐसे इस राज्य को आप मेरी प्रार्थना से स्वीकार करो।

निर्भारोऽस्मि प्रसादत्ते तथा कुरु सुनिश्चितम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनिनोचेऽसावितिस्नेहपरायणः ॥१०३॥

अर्थात्—हे भगवन् ! अब आप के अनुग्रह से इस राज्य के भार से सर्वथा भार रहित हूं । इसलिये मेरी प्रार्थना के अनुसार इस राज्य को ग्रहण करो । अपने मित्र सुमित्र के ऐसे वचनों को सुनकर सुषेण मुनिराज अत्यन्त प्रेम पूर्वक यों कहते हुवे ।

भो ! भो ! कुवलयेन्दो ! त्व स्वराज्यं कुरु निश्चलम् ।
तपः कुर्वन्नहं क्षीणो नालं जेतुमरीनिमान् ॥१०४॥

अर्थात्—अय इस पृथ्वी मंडल को चन्द्रमा के समान आल्हाद के देने वाले सुमित्र ! इस राज्य का निश्चलता पूर्वक तुमही पालन करो क्योंकि मैं तो दुष्कर तप के करने से बिल्कुल असक्त हो गया हूँ इसलिये इन शत्रु लोगों को नही जीत सकूंगा !

आदौ स्वादूनि राजेन्द्र ! विरामे कटुकानि च ।
इन्द्रियाणां सुखानीह विषाश्लिष्टाशतानि वा ॥१०५॥

अर्थात्—हे राजन् ! ये इन्द्रियों के सुख पहले तो कुछ अच्छे से मालूम पड़ते हैं परन्तु अन्त समय में बिल्कुल कड़वे हैं । अथवा यों कहो कि विष से युक्त जैसा भोजन ऊपर से मनोहर सा दीखता है परन्तु वास्तव में प्राणों का घातक है वैसे ही ये इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख हैं ।

चेत्तृप्यन्तीन्धनैर्वह्निर्नदीपूरैः पयोनिधिः ।
सन्तुष्यति तदा जीवः पञ्चाक्षविषयाऽऽमिषैः ॥१०६॥

अर्थात्—हे राजन् ! यदि अग्नि की इन्धन (काष्ठ) से अथवा समुद्र की अनेक नदियों से पूर्त्ति हो जावे तभी इन पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धि विषय रूपी मांस से इस जीव की तृप्ति मान सकता हूं ।

भावार्थ—अग्नि आदि की काष्ठादिकों से न कभी तृप्ति हुई है और न होगी उसी तरह इन विषयों के सम्बन्ध में समझना चाहिये ।

भोगिभोगोपमान्भोगान्राज्यं पादरजः समम् ।
धनञ्च निधनं प्रायं ज्ञात्वा कोऽज्ञो विमुह्यति ॥१०७॥

अर्थात्—हे राजेन्द्र ! सर्प के शरीर के समान विषयादिकों को, चरणों की धूल के समान राज्य को, और धन को बहुधा निधन (दरिद्र) रूप समझ कर कौन ऐसा मूर्ख होगा जो इन विषयादि में मोह करेगा ?

तरामि भववाराशिं प्रसादात्ते नरेश्वर !
निराश्रवतपोवाहं समारुह्यातिदुस्तरम् ॥१०८॥

अर्थात्—हे नरेश्वर ! छिद्र रहित तप रूपी नाव में बैठ कर अत्यन्त दुर्लंघ्य इस संसार समुद्र के पार को प्राप्त होऊंगा ।

भावार्थ—अब तो हमने संसार के नाश करने के लिये तप ग्रहण कर लिया है इस लिये संसार से हमें कुछ प्रयोजन नहीं है ।

उक्त्वेति मौनमालम्ब्य यावत्तिष्ठति भिक्षुकः ।
तावन्नृपो जगादेति सस्नेहं भक्तितो मुनिम् ॥१०९॥

अर्थात्—इतना कहकर जब मुनिराज चुप हो रहे उसी समय महाराज सुमित्र स्नेह पूर्वक मुनिराज से इस तरह प्रार्थना करने लगे।

त्वं मे प्राणसमो मित्रः पात्रं माञ्च कृतार्थय ।
फलवत्स्याच्च राज्यं मे भुक्त्यर्थं गृहमाव्रज ॥११०॥

अर्थात्—हे मुनिराज ! आप मेरे प्राणों के समान मित्र हैं इसलिये मुझ सरीखे दीन पात्र को कृतार्थ करो। और तबही यह मेरा राज्य सफल होगा इस कारण घर को चलो ।

मुनिराह पुनश्चारु यदुक्तं जिनशासने ।
उद्दिष्टं भोजनं नार्हं महाव्रतभृतां प्रभो ॥१११॥

अर्थात्—सुमित्र के इस तरह के वचनों को सुनकर मुनिराज फिर बोले—हे राजन् ! जिन भगवान् ने महाव्रत के धारण करने वाले यतीश्वरों के लिये उद्दिष्ट भोजन अयोग्य बताया है ।

भावार्थ—यदि मुनि लोग समझलें कि यह भोजन हमारे उद्देश्य से बनाया है तो उसे वे कदाचित् न करें।

अलाभो मेऽद्य सञ्जात इति बुध्यन्मुनीश्वरः ।
क्षमयित्वा धरानाथं गच्छति स्म वनं लघु ॥११२॥

अर्थात्—इसी कारण आज हमारे लिये भोजन का अन्तराय हुवा है ऐसा कहते हुवे राजा को क्षमा करके वे मुनि शीघ्रता से वन को चल गये।

तदा पौरजनानाह राजेति शृणुत प्रजाः ।
अयं यतीश्वरः साधु पात्रं मे सज्जनस्तथा ॥११३॥

अर्थात्—जब राजा ने देखा कि मुनिराज चले गये तब सम्पूर्ण पुरवासी लोगों को राजा ने कहा ! हे प्रजा के लोगो ! मैं कुछ कहना चाहता हूं उसे तुम सुनो। ये मुनिराज सुषेण अत्यन्त उत्कृष्ट पात्र हैं तथा मेरे प्राणों के समान मित्र हैं।

दत्ते योऽस्मै गृही भुक्तिं तज्जन्म सफलं भवेत् ।
पारणाहेऽतएवाऽस्मैदाताऽस्म्यन्यो न कश्चन ॥११४॥

अर्थात्—इसलिये जो गृहस्थ इनके लिये आहार दान देता है उस का जन्म सफल होता है। इस कारण आप से मैं प्रार्थना करता हूं कि इनके पारणा के समय में मैं ही दाता हूं और कोई इन्हें दान न दें।

भावार्थ—ये मेरे अत्यन्त प्राणप्रिय मित्र हैं इसलिये इन्हें आहार मैं ही देऊंगा आप लोग न दें।

मासे गते पुनर्भुक्त्यै प्रविवेश पुरिं यदि ।
तदा राज्ञा न दृष्टोऽसौ लोकैर्दृष्टोप्यनादृतः ॥११५॥

अर्थात्—जब मुनिराज राजा के पास से लौट कर वन में चले गये वहां फिर एक महीने के उपवास की प्रतिज्ञा लेली। जब मास पूर्ण हुवा तब फिर मुनिराज आहार के लिये नगर में आये। उस समय राजा ने मुनिराज को नहीं देखे और पुर के लोगों ने देखे

भी थे परन्तु उन्होंने आहार नहीं दिया क्योंकि राजा की आज्ञा ही ऐसी थी।

मन्यमानो महालाभं पापकर्मनिवर्हणम् ।
व्याघुट्य स वनं गत्वा पुनर्मासतपोऽग्रहीत् ॥११६॥

अर्थात्—यद्यपि अबकी भी मुनिराज को आहार नहीं मिला तौभी परिणामों को किसी प्रकार विचलित न करके उल्टी पाप कर्मों की निर्जरा होने से बड़ाभारी लाभ समझ कर वन में चले गये और फिर भी एक महीने के उपवास की प्रतिज्ञा लेली।

एवं तृतीयवेलायां प्रमत्तं राजवारणम् ।
उपद्रवन्तं लोकानां दृष्ट्वा व्याघुटितो मुनिः ॥११७॥

अर्थात्—इसी तरह एक महीने के पूर्ण होने पर मुनिराज फिर भी आहार के लिये नगर में आये परन्तु अब की बार उन्होंने देखा कि एक उन्मत्त राज का हाथी पुर के लोगों को त्रास दे रहा है इसे देख कर फिर भी मुनि बन को जाने लगे।

व्याघुटन्तं तमालोक्य प्रोवाचाऽध्वनि कश्चन ।
हा हा किं कृतमेतेन राज्ञा नाऽस्येदृशं हितम् ॥११८॥

अर्थात्—जब लोगों ने देखा कि मुनिराज आहार के विना ही फिर वनको लौट कर जाते हैं तब कितने लोग मार्ग में यों कहने लगे। हाय! हाय! इस राजा ने क्या अनर्थ किया जो ऐसे कठिन २ तपके करने वाले और चतुर्मासोपवासी मुनि के लिये न तो आप आहार देता है और न दूसरे लोगों को देने देता है क्या यह बात इसके लिये योग्य है?

राज्यचिन्ताऽऽकुलो राजा स्वयं दत्ते न भोजनम् ।
अस्मै निवारिताः सर्वे नागरा ददतोऽपि च ॥११९॥

अर्थात्—राज्य की चिन्ताओं से आकुल होकर न तो आप मुनिराज को आहार देता है और जो विचारे पुरवासी लोग देना चाहते है उन्हें भी मना कर दिया है।

इति श्रुत्वा वचस्तस्य तपःक्षीणो व्रती पथि ।
क्रोधेन कम्पमानाङ्गः सहसा स्खलितस्तदा ॥१२०॥

अर्थात्—तप से अत्यन्त कृश शरीर को धारण करने वाले उन मुनि ने जब मार्ग में लोगों के ऐसे वचनों को सुने उसी समय उनका शरीर क्रोध से धूझने लगा और शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पड़े।

मारयेयं पुरो भूपं यद्यस्ति तपसः फलम् ।
कृत्वा निदानमीदृक्षं मृत्वाऽसौ व्यन्तरोऽभवत् ॥१२१॥

अर्थात्—पृथ्वी पर गिरते ही मुनि बोले कि यदि तप का कुछ भी फल है तो पहले ही इस राजा को मारूं । इस प्रकार अपने आत्मस्वभाव को घात करने वाले निदान को करके मरे और मरकर व्यन्तर देव हुवे ।

महाफलं तपः कृत्वा निदानं योऽकरोन्मुनिः ।
तुषखण्डेन विक्रीतं रत्नं तेन जडात्मना ॥१२२॥

अर्थात्—महर्षियों का कहना है कि मुनि ने निदान तो किया किन्तु यों कहो कि तुष के टुकड़े को लेकर रत्न को बेच दिया है।

भावार्थ—जिस तप का फल मोक्ष है जिससे फिर कभी इस असार संसार में भ्रमण नहीं करना पड़ता है उसे मुनि ने निदान करके निष्फल खो दिया । इसलिये भव्य पुरुषों को चाहिये कि धर्म के आश्रय कभी निदान न करें ।

श्रुत्वा कोलाहलं राजा तदा नागरिकैः कृतम् ।
मुमुक्षोर्मृतिमाबुध्येत्यात्मानं निन्दति स्म सः ॥१२३॥

अर्थात्—मुनि के मरने का पुरवासी लोगों में बड़ा कोलाहल हुआ उसके सुनने से राजा को मालूम हुआ कि मेरे आहार के न देने से मोक्ष के इच्छा करने वाले मुनिराज की मृत्यु होगई है । ऐसा समझ कर राजा अपने आत्मा की बहुत निन्दा करने लगा ।

मुनिदानं मया हा ! हा ! विस्मृतं राज्यचिन्तया ।
पापात्मना जना अन्ये निषिद्धा हन्त किं कृतम् ॥१२४

अर्थात्—हाय ! हाय ! ! मुझ पापी से बड़ा अनर्थ किया गया जो राज्य सम्बन्धि कार्य में फँस कर मुनिराज को दान देना भूल गया । खैर ! इतनाही नहीं किन्तु जो लोग बिचारे आहार देना चाहते थे उन्हें भी मैंने मना करदिया । हाय ! हाय ! यह मैंने क्या अनर्थ किया ?

तपो विना कथं पापं क्षपाम्येतद्विचिन्तयत् ।
राज्यं त्यक्त्वा तपोऽग्राहि तेन जैनं महात्मना ॥१२५॥

अर्थात्— महाराज सुमित्र ने इस महापाप के घोर फल से भय भीत होकर सोचा कि इस पाप को तप के विना कभी नाश नहीं कर सकता ऐसा विचार करके उसी समय महात्मा सुमित्र ने सम्पूर्ण राज्य भार को छोड़ कर जिन भगवान् के शासन के अनुसार तप को ग्रहण किया ।

कियत्कालं तपः कृत्वा सोढ्वाऽनेकपरीषहान् ।
मृत्वा व्यन्तरराजोऽभूत्पाकतो निजकर्मणः ॥१२६॥

अर्थात्—मुनिराज सुमित्र कितने काल पर्यन्त घोर तपश्चरण करके और अनेक दुःसह परीषहों को शान्त भाव से सहन करके इस विनश्वर शरीर को छोड़ कर अपने किये हुवे कर्मों के फल से व्यन्तर देवों के इन्द्र हुवे ।

आयुरन्ते ततश्च्युत्वा ह्युपश्रेणिकभूपतेः ।
इन्द्राण्याश्च सुतोऽभूस्त्वं श्रेणिकः साम्प्रतं नृपः ॥१२७॥

अर्थात्—आयु के पूर्ण होने पर व्यन्तर पर्याय से निकल कर उपश्रेणिक राजा और उसकी इन्द्राणी नाम की राणी के श्रेणिक नामक तू पुत्र हुवा है और इस समय राजा है ।

सूरवीरेण या दृष्टा रुदन्ती यक्षिका वटे ।
क्रमशश्चेलनां विद्धि तां जातां निजभामिनीम् ॥१२८॥

अर्थात्—और सूरवीर ने वट वृक्ष के नीचे जो रोती हुई उस यक्षिणी को देखी थी । हे राजन् ! उसे क्रम से चेलना नाम की अपनी रानी समझो ।

यः सुषेणचरो भौमो निदानी वर्ततेऽमरः ।
कोणिकाख्याङ्गजस्तेद्विट् चेलनाया भविष्यति ॥१२९॥

अर्थात्—और निदान का करने वाला वह सुषेण मुनि जो इस समय व्यन्तर देव है वही तुम्हारा कोणिक नामक पुत्र होगा परन्तु वास्तव में उसे तुम अपना शत्रु समझो ।

सामर्थ्यं प्राप्य राज्यं ते सग्रहीता प्रतापिकः ।
शस्त्रपञ्जरमध्ये च क्षिप्त्वा त्वां मारयिष्यति ॥१३०॥

अर्थात्— तुम्हारे राज्य का ग्रहण करने वाला और प्रतापवान् वह कोणिक, राज्य सामर्थ्य को पाकर तुम्हें शस्त्रों के पींजरे में बन्द करके मारेगा ।

ततस्त्वं यास्यसि श्वभ्रमाद्यं सीमन्तसंज्ञकम् ।
भुक्त्वा दुःखं कियत्कालमत्राद्यो भविता जिनः ॥१३१॥

अर्थात्—इसके बाद मरकर तुम सीमन्त नामक पहले नरक में जाओगे । कितने काल पर्यन्त नरकों के दुखों को भोग कर इसी भरत क्षेत्र में पहले महापद्म नामक तीर्थंकर होओगे ।

इति श्रुत्वा नराधीशो भूतभाविभवावलीम् ।
आत्मीयां सम्मदाश्रूणि मुमोचेति वितर्कयन् ॥१३२॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक इस तरह अपनी बीती हुई और आगे होने वाली संसार परम्परा को सुनकर नेत्रों से आनन्दाश्रु छोड़ने लगे और यों विचारते हुवे ।

जीवस्त्वनाद्यपेक्षातो नरकेऽनन्तशो गतः ।
बहुदुःखप्रदे पापान्महारौरवनामनि ॥१३३॥

अर्थात्—यह जीव अनादि काल की अपेक्षा से पाप कर्मों के उदय से घोर दु खों के देने वाले महारौरव नाम नरक में अनन्तवार गया है । और वहां असह्य दुःखों को भोगे हैं ।

स धन्यो नरकावासो यस्मान्निर्गत्य तीर्थकृत् ।
भविष्यामि शिरोघात इवाऽन्धस्य निधानकः ॥१३४॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक विचार करते हैं कि वह नरक में भी जाना अच्छा है जहां से निकल कर तीर्थंकर होऊंगा । यह तो यों समझना चाहिये कि किसी अन्धे के मस्तक में एक तरफ से चोंट लगी और एक तरफ उसे खजाना दीख गया ।

भिल्लः खदिरसाराख्यः सौधर्मे विबुधस्ततः ।
सुमित्रनृपतिर्भौमः श्रेणिको नारको जिनः ॥१३५॥

अर्थात्—अब क्रम से खदिरसार और सूरवीर की जन्म परिपाटी बतलाते हैं-जो खदिरसार भिल्ल था वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ इसके बाद सुमित्र नाम राजा हुआ पश्चात् व्यन्तर देव हुआ फिर तुम श्रेणिक हुवे हो अब यहां से प्रथम नरक में उत्पन्न होओगे और वहां से प्रथम तीर्थंकर होओगे ।

सूरवीराभिधानेशः सौधर्मप्रभवोऽमरः ।
मंत्रिपुत्रः सुषेणाऽऽख्यो व्यन्तरः कोणिको नृपः ॥१३६॥

अर्थात्—और जो सूरवीर था वह पहले तो व्रत के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ वहां से निकल कर सुषेण नाम मंत्रिपुत्र हुआ । सुषेण इसी पर्याय में मुनि होकर निदान के फल से व्यन्तर देव हुआ । वहां से आकर कोणिक राजा ~~हुआ है~~ । होगा

इति पिशितनिवृत्तिफलं निवेदितं तवपुरः समासेन ।
अधुना मधुनाहत्यं यथा तथा शृणु नराधीश ॥१३७॥

अर्थात्—हे राजन् ! इस तरह मांस के त्यागने से जो फल हुआ उसे संक्षेप से तुम्हारे सामने हमने कहा । इस समय जिस तरह मधु के छोड़ने में प्रवृत्ति हो उसी तरह मधु के दोषों का वर्णन किया जाता है ।

इति मांसत्यागोपदेशः ।

मक्षिकावालकाण्डोत्थमत्युच्छिष्टं मलाविलम् ।
सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं तन्मधु स्यात्कथं वरम् ॥१३८॥

अर्थात्–जो मधु (सहत) मक्खियों के छोटे २ बच्चों से उत्पन्न होता है, जो एक तरह से जीवों का उच्छिष्ट है, जो मल (पुरीषादि) अपवित्र पदार्थों से युक्त होता है, और जिसमें जन्तुओं के समूह के समूह रहते हैं वही मधु कैसे भक्षण के योग्य हो सकता है ?

भावार्थ—सहत महा अपवित्रता तथा जन्तुओं का स्थान है इसलिये आत्महित के चाहने वालों को छोड़ने योग्य है।

ग्रामान्द्वादश कोपेन यो दहेदिति लौकिकम् ।
ततोऽधिकतरः पापः स यो हन्त्यत्र माक्षिकम् ॥१३९॥

अर्थात्—यह लौकिक कहावत है—जो क्रोध से बारह ग्रामों को जलावे कहीं उससे भी अधिक पाप उन्हें लगता है जो पुरुष मक्षिकाओं के स्थान (जिस में सहत भरा हुआ रहता है) का घात करते हैं।

माक्षिका कुरुते यत्र विष्ठां तत्स्याद्घृणास्पदम् ।
तन्मयं मधु यस्यात्र लेह्यं तच्चरितं महत् ॥१४०॥

अर्थात्—अब सहत की उत्पति को बताते हैं—मक्खियें जहां विष्टा करती हैं वह जगहें वास्तव मे ग्लानि के पैदा करने का स्थान होती है तो उसी विष्टा स्वरूप मधु (सहत) को जो लोग अच्छा और सेवन के योग्य बताते हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उन पापी पुरुषों का चरित्र बड़ा भारी है। हम कहां तक वर्णन करें।

तदेकबिन्दुशः खादन्नघं बध्नाति यो नरः ।
सप्तग्रामीं दहन्पापं यच्चतोप्यधिकं हि तत् ॥१४१॥

अर्थात्—ऐसे अपवित्र सहत की एक बिन्दुमात्र का खाने वाला पुरुष जितना पाप उपार्जन करता है ग्रन्थकार का कहना है कि वह पाप सातग्रामों के जलाने वाले के पाप से भी अधिक पाप है।

यत्र सन्मूर्छिनः सूक्ष्मास्त्रसाः स्थावरका अपि ।
जायन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तेन म्रियन्ते तत्कथं हितम् ॥१४२॥

अर्थात्–जिस मधु में सन्मूर्च्छन (अपने आप उत्पन्न होने वाले) सूक्ष्म, त्रस (द्विन्द्रियादि) तथा स्थावर जीव उत्पन्न हो

जाते हैं और अन्तर्मुहूर्त में मर जाते हैं वह मधु (सहत) कैसे उत्तम समझा जाय ?

भावार्थ—जिसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते रहते हैं तथा मरते हैं वह मधु उत्तम पुरुषों के सेवन करने योग्य कभी नहीं हो सकता।

मधुभक्षणतो हिंसा हिंसातः पापसम्भवः ।
ततः श्वभ्रादिजं दुःखं हेतोस्तत्त्यजताद्गुणी ॥१४३॥

अर्थात्—मधु के वर्णन को संकोचित करके उसके छोड़ने का उपदेश देते हैं—सहत के भक्षण करने से पहले तो जीवों की हिंसा होती है हिंसा से पाप कर्मों का बन्ध होता है और पाप के फल से नरकों में घोर दुःखों की बेदनायें सहन करना पड़ती हैं। इसलिये इस सहत के भक्षण को उत्तरोत्तर दुःखों का कारण समझ कर उसके छोड़ने में विलम्ब नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—सहत भी एक तरह से जीवों का कलेवर है इस लिये उसे कभी नहीं खाना चाहिये।

इति मधुदोषाः

मधुवन्नवनीतं च वर्जनीयं जिनागमे ।
यत्राऽर्द्धप्रहरादूर्द्धं जायन्ते भूरिशस्त्रसाः ॥१४४॥

अर्थात्—महर्षि लोगों का उपदेश है कि जैन शास्त्रों में जिस तरह मधु (सहत) के त्यागने का उपदेश है उसी तरह नवनीत (मक्खन) के भी छोड़ने का उपदेश है। क्योंकि-नवनीत में आधे प्रहर के ऊपर अनेक त्रस जीव पैदा होजाते हैं।

उदुम्बरवटप्लक्षफल्गुपिप्पलजानि च ।
फलानि पञ्चबोध्यान्युदुम्बराख्यानि धीमताम् ॥१४५॥

अर्थात्—उदुम्बर वृक्ष, वटवृक्ष, प्लक्षवृक्ष कठुमर वृक्ष और पिप्पल वृक्ष इनसे उत्पन्न होनेवाले फलों को पांच उदुम्बर फल कहते हैं।

प्रत्यक्षं यत्र दृश्यन्ते बादरा बहवस्त्रसाः ।
स्थावराः सन्ति सूत्रोक्तास्तत्त्याज्यं फलपञ्चकम् ॥१४६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—जिन पञ्च उदुम्बर फलों में आंखों के सामने असंख्याते बादर और त्रस जीव देखे जाते हैं तथा स्थावर तो कितने हैं उनकी तो हम गणनाही नहीं कर सकते उनका जिसतरह जिन भगवान् ने शास्त्रों में वर्णन किया है उसी तरह श्रद्धान करना चाहिये । ये पञ्चोदुम्बर फल जीवों की राशि हैं इसलिये इन्हें छोड़ना चाहिये ।

पलभुक्षु दया नास्ति न शौचं मद्यपासु च ।
उदुम्बराशिषु प्रोक्तो न धर्मः सौख्यदो नृषु ॥१४७॥

अर्थात्—जो लोग मांस के खाने वाले हैं उनमें कभी दया का लेश भी नहीं होसकता । जो लोग मदिरा के पीने वाले हैं उनमें शौच (पवित्रता) की कभी स्वप्न में भी संभावना नहीं कर सकते । तथा जो लोग पञ्चोदुम्बर फल के खाने वाले हैं ग्रन्थकार का कहना है कि उन पुरुषों में सुख को देनेवाला धर्म कभी देखने में नहीं आवेगा ।

भावार्थ--मद्य, मांस, मधु, नवनीत, और पञ्चोदुम्बर फल इनका सेवन महादुःखदायी है इसलिये जो पुरुष अपनी आत्मा को दुःखों से अछूता रखने की इच्छा करते हैं उन्हें इनबुरी वस्तुओं का त्याग करना चाहिये ।

इति पञ्चफलदोषाः

अथ मद्यादीनामतीचारानाह—

(ऊपर जो मद्य मांसादि के छोड़ने का उपदेश दे आये हैं अब उनके अतीचारों का वर्णन करते हैं)

मद्यत्यागव्रती सर्वं त्यजेत्सन्धानकं त्रिधा ।
पुष्पितं काञ्जिकं चासौ मथितादिव्यहोपितम् ॥१४८॥

अर्थात्—मदिरा के त्यागी पुरुषों को मन वचन काय से

सन्धानक (सर्व प्रकार के मादक वस्तु, आचार वगैरह) पुष्पित (जिन पदार्थों पर फूलन चढ़ गई हो) काञ्जी (सड़े हुवे चावल आदि का मांड़) तथा दो दिन के बाद का तक्र (छाछ) दही इत्यादि पदार्थें नहीं खानी चाहियें ।

इतिप्रायेषु भाण्डेषु गतं स्नेहजलादिकम् ।
हिंगुक्वथितमन्नादि दोषा मांसव्रते मताः ॥१४९॥

अर्थात्—जो लोग मांस के त्यागी हैं उन्हें चमड़े के भाजनादिकों में रखे हुवे तैल, जल, हींग, काढा, अन्न आदि पदार्थों का सेवन नही करना चाहिये ।

भावार्थ—चर्म के वरतनों में रखे हुवे पदार्थों का सेवन मांस त्याग व्रत में दोष का उत्पन्न करने वाला है ।

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्नाञ्जनाय मधु स्पृशेत् ।
मधुत्यागव्रती सोऽयं प्रोक्तस्तु परमागमे ॥१५०॥

अर्थात्—जो लोग मधु (सहत) का त्याग किये हुवे हैं उन्हें बहुधा करके पुष्प नहीं खाने चाहिये तथा अञ्जन के लिये मधु का स्पर्श तक भी नहीं करना चाहिये ।

अज्ञातफलमद्यान्नो नाऽशोधितफलानि च ।
शिम्बीवल्लादिकान्येष नो पञ्चोदुम्बरव्रती ॥१५१॥

अर्थात्—जो लोग पञ्चोदुम्बर फल के त्यागी हैं उन्हें अजान फल नही खाने चाहिये। तथा उसी तरह नही शोधे हुवे (नहीं विदारे हुवे) सुपारी आदि फल, शिम्बीफल वल्ला आदि फल नहीं खानें चाहिये ।

मद्यादिस्पृष्टभाण्डेषु पतितं भोजनादिकम् ।
नाऽद्यात्तद्विक्रियादीनि न कुर्यात्तद्व्रतान्वितः ॥१५२॥

अर्थात्—जिन पुरुषों को मदिरा मांस, मधु आदि पदार्थों का त्याग है उन्हे मदिरा आदि अपवित्र पदार्थों के स्पर्श हुवे वरतनों में रखा हुआ भोजन नहीं करना चाहिये और न इन वस्तुओ का व्यापार करना चाहिये ।

मद्यादिभक्षिकानारीर्न रमेत च तद्व्रती ।
तद्भक्ष्यकुनरादीनां स्पर्शने भोजनं त्यजेत् ॥१५३॥

अर्थात्—मद्य मांसादि के खाने वाली स्त्रियों के साथ मदिरा आदि पदार्थों के छोड़ने वाले पुरुषों को विषय सेवन नहीं करना चाहिये। तथा मदिरा मांसादि खाने वाले पुरुष यदि भोजन का स्पर्श करलेंतो उसी समय भोजन छोड़ देना चाहिये।

अन्येऽपि ये त्वतीचारा मद्यादीनां जिनागमे ।
गुरूपदेशतो ज्ञात्वा त्याज्यास्तेऽपि मनीषिभिः ॥१५४॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि मद्य मांसादिके कितने अतिचार तो हमने लिखे हैं इनके सिवाय और भी अतिचार जिन भगवान् ने कहे हैं उन्हें गुरू~~सम्पर्क~~ से समझ कर त्यागना चाहियें।
केउपदेश

इत्यष्टौ मूलगुणाः

पुनस्तानेव प्रकारान्तरेणाऽऽह—

आप्तपञ्चनुतिर्जीवदया सलिलगालनम् ।
त्रिमद्यादिनिशाहारोदुम्बराणां च वर्जनम् ॥१५५॥

अर्थात्—देववन्दना, जीवों की दया पालना, जल का छानना, मदिरा का त्याग, मांस का त्याग, सहत का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग तथा पांच उदुम्बर फल का त्याग ये भी आठ मूल गुण हैं।

अष्टौ मूलगुणानेतान्केचिदाहुर्मुनीश्वराः ।
तत्पालने भवत्येष मूलगुणव्रतान्वितः ॥१५६॥

अर्थात्—कितने इन ऊपर की आठ बातों के स्वीकार करने को आठ मूल गुण कहते हैं और इन्हीं का पालन करने वाला मूल गुणो का धारण करने वाला कहा जाता है।

द्विमुहूर्त्तात्परं वार्यगालनं गालनव्रते ।
कुवस्त्रगालनं नाऽर्च्यः शिष्टन्यासोऽपरत्र च ॥१५७॥

अर्थात्—दो मुहूर्त्त के बाद जल का नहीं छानना, मलीन

वस्त्र से जल का छानना, जिस छन्ने से जल छाना गया था उसके बाकी के जल (जिवाणी) को पृथ्वी आदि के ऊपर डाल देना अथवा जिस जलाशय का वह जल है उसकी जिवाणी को उसी जलाशय में न डाल कर किसी दूसरे में डालदेना (नदी के जलको बावडी में और बावडी के जल को नदी में डालदेना) ये जल गालनव्रत के अतीचार हैं।

दिवाद्यन्त्ये मुहूर्त्तेऽपि रात्रिभोजनवर्जिनः।
रोगच्छेदे घृताम्रादिभक्षणे तस्य दुष्यति ॥१५८॥

अर्थात्—जिन पुरुषों के रात में भोजन करने का त्याग है उन्हें दिन के पहले मुहूर्त्त में अथवा अन्त के मुहूर्त्त में रोगादिकों के दूर करने के लिये भी घृत आम आदि वस्तुओं का भक्षण नहीं करना चाहिये क्योंकि इन वस्तुओं का भक्षण रात्रिभोजन त्याग व्रत में दोष का उत्पन्न करने वाला है।

द्यूतक्रीडापलं मद्याऽऽखेटस्तेयपरस्त्रियः।
वेश्येति व्यसनान्याहुर्दुःखदानीह योगिनः ॥१५९॥

अर्थात्—जूवा का खेलना, मांस का खाना, मद्य का पीना, शिकार का खेलना, चोरी का करना, परस्त्री का सेवन करना और वेश्या का सेवन करना ये सातों व्यसन दुःखों के देने वाले हैं ऐसा मुनिलोगों का कहना है।

द्यूताद्राज्यविमुक्तोऽभूद्विख्यातो धर्मनन्दः।
पलाद्बकनृपोऽधोगाद्यादवा मद्यतः क्षताः ॥१६०॥

अर्थात्—जूवा के खेलने से युधिष्ठिर महाराज को अपने राज्य को तिलाञ्जलि देना पड़ी थी। मांस के खाने से बक नामक किसी राजा को नरक का बास भोगना पड़ा था। मदिरा के पीने से यादव लोग नष्ट होचुके हैं।

ब्रह्मदत्तोऽभवद्दुःखी मज्जित्वाऽऽखेटतोऽर्णवे।
भूत्वाहिः पतितो वह्नौ स्तेयाच्छ्रीभूतिवाडवः ॥१६१॥

अर्थात्—शिकार के खेलने से ब्रह्मदत्त समुद्र में डूबकर अनेक

नरक के दुःखों को भोगे । चोरी के करने से शिवभूति ब्राह्मण सर्प होकर अग्नि में गिरा ।

दशास्योऽङ्गना दोषान्मृत्वाऽगाद्वालुकाप्रभाम् ।
धनं भुक्त्वाऽन्वभूद्दुःखं वेश्यातश्चारुदत्तकः ॥१६२॥

अर्थात्—परस्त्री के दोष से तीन खंड का स्वामी रावण मर करके वालुकाप्रभा नाम तीसरे नरक में गया । और वेश्या के सेवन करने से बत्तीस करोड़ दीनार का स्वामी चारुदत्त अनेक दुःखों को भोगे ।

एकैकव्यसनेनेत्थं जीवोऽमुत्रेह दुःखितः ।
सर्वाणि सेवमानः को दुःखी स्यान्न महानपि ॥१६३॥

अर्थात्—अब ग्रन्थकार कहते हैं कि देखो ! एक २ व्यसनों के सेवन से जो २ दुःखी हुवे हैं उनके उदाहरण नेत्रों के सामने हैं तो जो सातों व्यसनों के सेवन करने वाले हैं उनकी क्या दशा होगी यह हम नहीं कह सकते ।

अथ द्यूताद्यतिचारानाह—

(अब जूवा आदि सातों व्यसनों के क्रम से अतीचारों का वर्णन करते हैं)

होडाद्यपि विनोदार्थं मनसो द्यूतवर्जिनः ।
दूषणं द्वेषरागौ हि भवन्तौ पापकारणम् ॥१६४॥

अर्थात्—जो लोग जूवा के खेलने का त्याग किये हुवे हैं उनके लिये अपने मन के विनोद के अर्थ शर्त्त आदि का लगाना भी दूषण का स्थान है । क्योंकि इससे होने वाले जो रागद्वेष हैं वे केवल पाप बन्ध के कारण होते हैं ।

भावार्थ—जूवा के त्याग करने वालों को शर्त्त आदि भी नहीं लगाना चाहिये ।

मुद्राचित्राम्बराद्येषु न्यस्तपाणिभिदादिकम् ।
कुर्यान्नमुक्तपापर्द्धिस्तज्जनेऽपि हि निन्दितम् ॥१६५॥

अर्थात्—जिन पुरुषों को शिकार के खेलने का त्याग है उन्हें

वस्त्र, भित्ति, काष्ठ आदि के ऊपर लिखे हुवे चित्रों को अथवा मिट्टी आदि के बने हुवे चित्रों के हाथ पांव आदि नहीं तोड़ने चाहिये । यहां चित्रों से पशु मनुष्य आदि रूप में बने हुवे अथवा लिखे हुवे से प्रयोजन है ।

न गृह्णीयाद्धनं जीवदायादाद्राजतेजसा ।
नापह्नुवीत दायं वा चौर्यव्यसनशुद्धिभाक् ॥१६६॥

अर्थात्— अब अचौर्य व्रत के अतीचार कहते हैं—जिन लोगों को चोरी का त्याग है उन्हें चाहिये कि वे अपने कुटुम्ब में भाई बन्धु आदि जो लोग हैं उनसे राज्यादि के जोर से धन को नहीं छीने और न धन को छिपावे ।

अब परस्त्री त्यागव्रत के अतीचार कहते हैं—

अन्यस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिसमीहकः ।
कुमारीरमणं मुञ्चेद्गान्धर्वादिविवाहकम् ॥ १६७ ॥

अर्थात्—जो दूसरों की स्त्रियों के साथ विषयादि के करने का त्याग किये हुवे हैं उन्हें चाहिये कि वे बालिका (अविवाहिता) के साथ विषय न करें तथा गान्धर्व विवाहादिक भी उन्हें नहीं करना चाहिये यहां पर यह भी शङ्का कि, कुमारी के साथ में विषय न करके विवाहिता के साथ में करना चाहिये क्या ? न होनी चाहिये क्योंकि-विवाहिता के साथ रमण करने का तो उसने त्याग ही किया है ।

अब वेश्या त्यागव्रत के अतीचार कहते हैं—

वेश्यात्यागी त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं कुसङ्गतिम् ।
वृथा भ्रमणमेतस्याः सद्मादिगमनादि च ॥ १६८ ॥

अर्थात्—वेश्या त्याग व्रती को गीत, वाद्य और नृत्य इनमें आसक्ति तथा खोटे पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिये । तथा वेश्याओं के मकानादि के उपर व्यर्थ भ्रमण तथा गमन भी नहीं करना चाहिये ।

योऽयं दर्शनिकः प्रोक्तः सचातीचारगः स्थिरः ।
स्वाचारे क्वचन स्यात्तत्पाक्षिकः परमार्थतः ॥ १६९ ॥

अर्थात्—दर्शन प्रतिमा के धारण करने वाले के व्रतों में कभी २ अतिचार लगता रहता है इसलिये वास्तव में उसे पाक्षिक श्रावक ही कहना चाहिये।

तद्वत्सव्रतिकादिश्च दार्ढ्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन्।
प्राप्नोति पूर्वमेवार्थात्पदं नैव तदुत्तरम् ॥१७०॥

अर्थात्—जिस तरह दर्शन प्रतिमा के धारण करने वालों के व्रतों में कभी २ अतीचार लगते हैं उसी तरह व्रतप्रतिमा आदि प्रतिमाओं के धारण करने वालों के व्रतों में अतीचार लगने से उन्हें भी जिस प्रतिमा में अतीचार लगा है उसके पूर्व की प्रतिमा के धारण करने वाले कहना चाहिये वे लोग उत्तरप्रतिमा के धारक कभी नहीं कहे जा सकते।

अनारंभं वधं चोज्झेदारंभं नोत्कटं चरेत्।
स्वाचाराऽप्रातिकूल्येन लोकाचारे प्रवर्त्तयेत् ॥१७१॥

अर्थात्—कृषि आदिक जिन में जीवों की बहुत हिंसा होती है उन्हें छोड़नी चाहिये और ऐसा कोई प्रचुर आरंभ भी नहीं करना चाहिये जिस में जीवों की बहुत हिंसा होती हो। तथा लोकाचार (स्वामीसेवा, क्रय, विक्रय वगैरह) इस तरह से करना चाहिये जिस में अपने व्रतादि में किसी तरह की बाधा न आवे।

निःपादेयत्तमां भार्यां धर्मे स्नेहं परं नयन्।
सा जडा विपरीता वा धर्मात्पातयते नृणाम् ॥१७२॥

अर्थात्—अपनी स्त्री के साथ बहुत प्रेम बताता हुआ उसे धर्म में अत्यन्त दृढ़ करै। क्योंकि यदि स्त्री निरी मूर्खा होगी अथवा अपने विचारों से विरुद्ध होगी तो समझिये कि निश्चय से मनुष्य को वह धर्म से च्युत करदेगी।

पत्युः स्त्रीणामुपेक्षैव वैरभावस्य कारणम्।
लोकद्वयं हितं वाञ्छन्स्तदपेक्षेत तां सदा ॥१७३॥

अर्थात्—आचार्यों का कहना है कि—पति और स्त्रियों की परस्पर की उपेक्षा ही तो आपस में वैर का कारण होजाती है इसलिये

जिन्हें अपने दोनों लोक सुधारना है उन्हें चाहिये कि वे सदा स्त्रियों की अपेक्षा करें।

अब यह बात कहते हैं कि स्त्रियों को अपने प्राणप्रिय के साथ में किस तरह वर्ताव करना चाहिये—

नित्यं पतिमनीभूय स्थातव्यं कुलस्त्रिया।
श्रीधर्मशर्मकीर्त्तीनां निलयो हि पतिव्रता ॥१७४॥

अर्थात्—जो अच्छे कुल की स्त्रियें हैं उन्हें चाहिये कि वे निरन्तर अपने स्वामी के अनुसार चलें क्योंकि जो पतिव्रता स्त्रियें होती हैं उन्हें आचार्यों ने धर्म, सुख और कीर्त्ति इनका प्रधान स्थान बताया है।

श्रयेत्कायमनस्तापशमान्तं भुक्तिवत्स्त्रियम्।
नश्यन्ति धर्मकामार्थास्तस्याः खल्वतिसेवया ॥१७५॥

अर्थात्—जबतक क्षुधा की बाधा शान्त नहीं होती है तभी तक भोजन किया जाता है। क्षुधा की बाधा के मिट जाने पर भी जो लोग लोलुपता से अधिक भोजन कर लेते हैं उन्हें सिवाय दुःख के और कुछ नहीं होता। उसी तरह जबतक शरीर और मन का ताप न मिटे तभी तक स्त्री का सेवन करना चाहिये। क्योंकि इस नियम को छोड़ कर जो लोग स्त्री का सेवन करने वाले हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उन लोगों के धर्म अर्थ काम सभी तरह नष्ट हो जाते हैं।

यत्नं कुर्वीत तत्पत्न्यां पुत्रं जनयितुं सदा।
स्थापयितुं सदाचारे त्रातुं च स्वमिवापथात् ॥१७६॥

अर्थात्—मनुष्यों को चाहिये कि स्त्री में पुत्र होने की सदा चेष्टा करते रहें। तथा उस पुत्र को सदाचार में लगाने के लिये तथा अपने समान कुमार्ग से रक्षण करने के लिये भी प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—पुत्र को इस तरह शिक्षण वगैरह देना चाहिये जिससे वह खोटे पुरुषों की संगति करके अपने पवित्र मानव जन्म को अकल्याण की ओर लगाकर दोनों लोक बिगाड़ने न पावे।

सदपत्ये गृही स्वीयं भारं दत्वा निराकुलः।
सुशिष्ये सूरिवत्प्रीत्या प्रोद्यमेत परे पदे ॥१७७॥

अर्थात्—जिस तरह आचार्य अपने पट्टका भार किसी उत्तम शिष्य को देकर आप निराकुल होजाते हैं उसी तरह गृहस्थ भी अपने सद्गुणी पुत्रको गृह सम्बन्धी सब भार प्रीति पूर्वक देकर और सर्व तरह से निराकुल होकर उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न शील (उद्यमी) होवे।

तापापहान् श्रीजिनचन्द्रपादा—
नाश्रित्य धर्मे प्रथमे कियन्तम्।
कालं स्थिरीभूय विरज्य भोगा—
न्मेधाविकोऽयं व्रतिकः पुनः स्यात् ॥१७८॥

अर्थात्—जो पुरुष इस संसार रूप भयंकर आताप के नाश करने वाले श्री जिनदेव के चरण कमलों का आश्रय लेकर और कितने काल पर्यन्त प्रथम धर्म (दर्शनप्रतिमा) में स्थिर रहकर पश्चात् विषय भोगादि से विरक्तहोता है। बुद्धिमान वह पुरुष इसके बाद व्रतप्रतिमा का धारक कहा जाता है।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडित मेधाविना
विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे दर्शनप्रतिमावर्णनो
नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥ ५ ॥

सदृग्मूलगुणः साम्यकाम्यया शल्यवर्जितः ।
पालयन्नुत्तरगुणान्निर्मलान्व्रतिको भवेत् ॥ १ ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सहित मूलगुणों का धारण करने वाला, माया, मिथ्या और निदान इनतीन प्रकार की शल्य से रहित तथा रागद्वेष के नाश की इच्छा से जो अतीचार रहित उत्तर गुणों को पालन करता है उसे व्रतिक अर्थात् व्रत प्रतिमा का धारण करने वाला कहना चाहिये।

* यैर्युक्तान्यव्रतानीव दुःखदानि व्रतान्यपि ।
शल्यानीव व्रती तानि हृदो निष्काशयेत्ततः ॥ २ ॥

अर्थात्—जिस तरह अव्रत दुःख के देनेवाले हैं उसी तरह जिन मिथ्यामतियों ने व्रतों को भी दुःख के देने वाले वर्णन किये हैं।

भावार्थ—नाम तो व्रत है और उनमें नानाप्रकार के हिंसा आदि पापों के करने का उपदेश दिया है ऐसे व्रतों के लिये ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसे पाप के कारण व्रतो को हृदय से दूर करदेना चाहिये। जिस तरह पावों में लगा हुआ कांटा दुःख का कारण होने से निकाल कर अलग करदिया जाता है।

अब शल्यको अनुपादेय होने से उसके छोड़ने का उपदेश देते हैं—

गोरसाभावतो नैव गोमान्गोभिर्यथा भुवि ।
तथा निःशल्यत्वाभावाद्व्रतैः स्यान्न व्रती जनः ॥ ३ ॥

अर्थात्—जिस के यहां दूध दही वगैरह तो नहीं है और गायें सैकड़ों बंधी हैं परन्तु वह केवल गाय मात्र के होने से इस संसार में गोवाला नहीं कहला सकता। उसी तरह जब तक माया मिथ्या आदि शल्य का अभाव न होगा तब तक चाहे उसके व्रत भले ही हां परन्तु वह व्रती नही कहला सकता। इसलिये व्रती पुरुषों को शल्य के छोड़ने में प्रयत्न करना चाहिये।

---

* पुस्तक में युक्तानि पाठ है परन्तु "प्रोक्तानि" पाठ ठीक मालूम पड़ता है।

निःशल्योऽस्ति व्रती सूत्रे सशल्यो व्रतघातकः ।
मायामिथ्यानिदानाख्यं त्रयं तत्त्यजतु त्रिधा ॥ ४ ॥

अर्थात्—जैन शास्त्रों में शल्य रहित पुरुष को "निशल्यो व्रती" इसलक्षण के अनुसार व्रती (व्रतका धारण करने वाला) कहा है। और शल्य सहित पुरुष को व्रतका घात करने वाला कहा है। इसलिये माया, मिथ्या और निदान इनशल्यों को मन, वचन, और काय से छोड़ना चाहिये।

तत्राऽणुव्रतसंज्ञानि गुणशिक्षाव्रतानि च ।
पञ्चत्रिचतुराणीति स्युर्गुणा द्वादशोत्तरे ॥ ५ ॥

अर्थात्—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत इस तरह ये बारह उत्तर गुण समझना चाहिये।

विरतिः स्थूलवधादेस्त्रियोगैः करणैस्त्रिधा ।
अननुमतैर्वा पञ्चाऽहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥ ६ ॥

अर्थात्—स्थूलहिंसा, स्थूलअसत्य, स्थूलचोरी, स्थूलअब्रह्म, स्थूलपरिग्रह इनसे, मन वचन और काय से न करना, न कराना तथा न करते को अच्छा कहना, इस तरह विरक्त होने को पांच अणुव्रत कहते हैं। तथा सम्मति को छोड़ कर भी अणुव्रत होते हैं।

भावार्थ—यह है जो गृहवास से सर्वथा विरक्त हो गये हैं वे तो, किसी कार्य में भी अपनी सम्मति नहीं देते हैं। परन्तु जो गृहादि से सर्वथा विरक्त नहीं है उन्हें पुत्रादि के विवाहादि में अथवा किसी और गृहकार्य में सम्मति देनी पड़ती है जिनका सम्मति के विना काम ही नहीं चलता उनके सम्मति के रहने पर भी अणुव्रत होते ही हैं।

अहिंसा सत्यकं स्तेयत्यागमब्रह्मवर्ज्जनम् ।
परिग्रहपरीमाणं पञ्चधाणुव्रतं भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, अब्रह्म (परस्त्री) का त्याग और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, सोना, चांदी आदि दश प्रकार के परिग्रह का प्रमाण करना ये पांच अणुव्रत कहे जाते हैं।

त्रसानां रक्षणं स्थूलदृष्टसंकल्पनागसाम् ।
निःस्वार्थं स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥ ८ ॥

इस श्लोक का पूर्वार्द्ध हमारी समझ में ठीक २ नहीं आया है परन्तु द्वीन्द्रियादि त्रसजीवों के रक्षण का इसमें उपदेश है। समन्तभद्रस्वामी ने भी श्रावकाचार में जहां अहिंसा अणुव्रत का लक्षण लिखा है वहां ऐसे ही लिखा है वह यों है—

"संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः" ॥

भावार्थ—मन वचन काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के वध का संकल्प पूर्वक त्याग करने को बुद्धिमान लोग अहिंसाणुव्रत कहते हैं" तथा प्रयोजन से शेष पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पति काय इन पञ्च प्रकार के स्थावर जीवों की रक्षा करने को अहिंसाणु व्रत कहते हैं।

भावार्थ—संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा के त्याग को तथा कार्य भाग से शेष स्थावर जीवों की रक्षा करने को अहिंसाणु व्रत कहते हैं।

यतः प्राणमयो जीवः प्रमादात्प्राणनाशनम् ।
हिंसा तस्यां महद्दुःखं तस्य तद्वर्ज्जनं ततः ॥९॥

अर्थात्—यह बात हम ऊपर लिख आये हैं कि अहिंसाणुव्रत के पालन करने वालों को संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का त्याग तथा अपने प्रयोजन से शेष स्थावर जीवों का रक्षण करना चाहिये। यह रक्षण का उपदेश इसीलिये दिया गया है कि प्राणमय (प्राणों का समुदाय) तो जीव कहलाता है और प्रमाद (असावधानता) से प्राणों का नाश होना वही हिंसा कहलाती है। तथा हिंसा के होने से अत्यन्त दुःख होता है इसी से हिंसा के त्याग का उपदेश है।

कितने लोगों का कहना है कि जो जीव दुःख पाता हो, पापी हो

दुष्ट हो जिससे दूसरे जीवों को तकलीफ़ होती हो ऐसे मनुष्य तथा सिंह, व्याघ्र, सर्प, विच्छू आदि जीवों को मार देना चाहिये। जिन लोगों की ऐसी श्रद्धा है उन लोगों के समाधान के लिये नीचे के श्लोक से स्पष्ट करते हैं—

सुखी दुःखी न हिंस्योऽत्र न पापी न च पुण्यभाक्।
कश्चित्तेन यतो दुःखं मरणान्नमहत्परम् ॥१०॥

अर्थात्—इस संसार में सुखी, दुःखी, पापी, अथवा पुण्यवान् कोई भी क्यो न हो किसी को नही मारना चाहिये। क्योंकि मरण को छोड़ कर इस जीव को और कोई बड़ा दुःख नहीं है।

भावार्थ—दुःख, सुख का होना अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से है। जिस जीव ने जो कर्म उपार्जन किया है वह उसे अवश्य भोगना ही पड़ेगा उसे मारो अथवा कुछ करो वह उस कर्म के बिना भोगे कभी नही छूटने का है। फिर व्यर्थ उसके मारने से भी क्या होगा? उल्टा अपने ही लिये दुःख का कारण है। भगवान् उमास्वामी महाराज ने इसी सम्बन्ध मे श्रावकाचार मे एक जगह लिखा है कि—

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैर्न कथं भवेत् ॥

भावार्थ—यदि किसी से कहा जाय कि तुम मर जाओ! इतने कहने मात्र से ही यह जीव अत्यन्त दुःखी होता है तो जो बडे २ कठोर शस्त्रो से मारा जायगा फिर उसे दुःख क्यों न होगा? इस पर बुद्धि मानों को विचारना चाहिये।

कदाचित् यहां कोई यह शंका करे कि यह अहिंसाणुव्रत का उपदेश तो बहुत ठीक है परन्तु तुम लोग जो जिन मन्दिर बनवाते हो प्रतिष्ठा करवाते हो उसमे बहुत हिंसा होती है वहां तुम्हारा अहिंसाणुव्रत कहां चला जायगा? इसी प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि—

जिनालयकृतौ तीर्थयात्रायां बिम्बपूजने।
हिंसा चेत्तत्र दोषांशः पुण्यराशौ न पापभाक् ॥११॥

अर्थात्—जिन मन्दिर के बनवाने में तीर्थों की यात्रा करने में तथा प्रतिष्ठादि महोत्सवों के करवाने में यदि हिंसा होती है तो उसे दोष का अंश (बहुत अल्प) कहना चाहिये और न वह पुण्य के समूह में पाप का कारण होता है।

कायेन मनसा वाचा न त्रसानां बधः कचित् ।
कार्यः कृतकारितानुमोदनैर्दुःखदायकः ॥१२॥

अर्थात्—मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से, दुःख को देने वाला त्रस (द्वीन्द्रियादि) जीवों का बध (हिंसा) कभी नहीं करना चाहिये।

सन्तोषालम्बनाद्यः स्यादल्पारंभपरिग्रहः ।
यत्नवान्निष्कषायोऽसावहिंसाणुव्रतं श्रयेत् ॥१३॥

अर्थात्—संसार के यथार्थ स्वरूप को जानकर सन्तोष वृत्ति को धारण करके जो पुरुष थोड़े आरंभ का करने वाला, थोड़े परिग्रह को रखने वाला, प्रयत्नशील (उद्योगी) और कषाय से रहित होता है वही अहिंसाणुव्रत का पात्र होता है।

बन्धनं ताडनं छेदोऽतिभारारोपणस्तथा ।
अन्नपाननिरोधश्च दुर्भावात्पञ्चव्यत्ययाः ॥१४॥

अर्थात्—जीवों को बांधना, ताड़न करना, उनके शरीराव-यवों का छेदना, बहुत भार का उनके ऊपर लादना तथा उनके अन्न-पान का निरोध करना ये पांच खोटे परिणामो के वश में अहिंसाणुव्रत के अतीचार होते हैं। अहिंसाणु व्रत के धारी को इन के छोड़ने में पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

अब इस बात को कहते हैं कि अतीचार का क्या स्वरूप है?

नहन्मीतिव्रतं कुप्यान्निकृपत्वान्न पाति न ।
भनक्त्यघ्नन्भंशघातत्राणादीतिचरत्यधीः ॥१५॥

अर्थात्—जिस समय यह जीव क्रोध से युक्त होता है उस समय परिणामों को निर्दय होने से अहिंसाणुव्रत का पालन नहीं करता

है। क्योंकि अहिंसाणु व्रती के लिये निर्दय वृत्ति होना ठीक नहीं है। तथा न उस व्रत का सर्वथा नाश ही कर देता है। क्योंकि व्रत का नाश उसी समय कह सकते हैं जब वह साक्षात् जीवों की हिंसा करता हो सोतो नहीं करता है। किन्तु उसने अपने खोटे अभिप्रायों से केवल बन्ध ही किया है इसलिये उसने अहिंसा व्रत का उल्लंघन किया है। इसी उल्लंघन को अतीचार कहते हैं।

भावार्थ—क्रोधी पुरुष की निर्दय वृत्ति होने से उससे अहिंसाणुव्रत का पालन नहीं होता है और न सर्वथा व्रत का भङ्ग ही होता है क्योंकि स्वयं तो वह हिंसा नहीं करता है। किन्तु अपने खोटे भावों से केवल बन्ध करके अहिंसाणु व्रत का उल्लंघन अवश्य कर देता है इसी उल्लंघन का नाम अतीचार समझो।

हिंस्यहिंसकहिंसास्तत्फलं चालोच्य निश्चयात्।
हिंसां त्यजेद्यथा नैव प्रतिज्ञाहानिमाप्नुयात् ॥१६॥

अर्थात्—हिंस्य, हिंसक, हिंसा, तथा हिंसा का नरकादि दुर्गति रूपफल इन सबका ठीक २ विचार करके हिंसा को उसरीति से छोड़नी चाहिये जिस से अपनी की हुई प्रतिज्ञा की हानि न होने पावे।

हिंस्याः प्राणा द्रव्यभावाः प्रमत्तो हिंसको मतः।
प्राणविच्छेदनं हिंसा तत्फलं पापसंग्रहः ॥१७॥

अर्थात्—द्रव्यप्राण और भावप्राण ये तो हिंस्य (घात करने के योग्य) होते हैं। प्रमाद करके युक्त पुरुष हिंसक (जीवों का मारने वाला) होता है। प्राणों का शरीर से वियोग होने को हिंसा कहते हैं और पाप का संग्रह हिंसा का फल है।

कषायादिप्रमादानां विजेता प्रथमव्रती।
सदोदयां दयां कुर्यात्पापान्धतमसे रविम् ॥१८॥

अर्थात्—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, राज्यकथा, चोरकथा, देशकथा और भोजन कथा ये चार कथा आदि पन्द्रह प्रकार प्रमाद आदि का जीतने वाला प्रथम प्रतिमा का धारक

श्रावक पापरूप गाढान्धकार के नाश के लिये अन्धकार के नाश करने वाली सूर्य की प्रभा के समान उत्तम दया को करै।

अहिंसाव्रतरक्षायै मूलव्रतविशुद्धये।
कुरुते विरतिं रात्रौ चतुर्भुक्तेर्महामनाः ॥१९॥

अर्थात्—जिन पुरुषों ने अहिंसाणु व्रत को धारण किया है उन्हें चाहिये कि उस व्रत की रक्षा के लिये और मूल व्रत की दिनों दिन विशुद्धि (निर्मलता) होने के लिये रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करें।

भावार्थ—रात्रि में भोजन करने वालों के जीवों का रक्षण कभी नहीं होसकता और जब जीवों का रक्षण ही न होगा तब प्राणि रक्षण व्रत के धारण करने वाले भी वे नहीं होसकते। इसीलिये रात्रि भोजन के त्याग का उपदेश है जिस में उनके धारण किये हुवे व्रत की रक्षा होसके।

* दिननालीद्वयादर्वाग्योऽत्त्यनस्तमिकः सकः।
तत्परं योऽधमस्तेन त्यक्तं किं रात्रिभोजनम् ॥२०॥

अर्थात्—जो पुरुष दो घटिका दिन के पहले भोजन करते हैं वे रात्रि भोजन त्याग व्रत के धारक कहे जाते हैं। इसके बाद जो भोजन करने वाले हैं वे अधम (नीच) हैं। ऐसे पुरुष रात्रि भोजन के त्यागी कहे जा सकते हैं क्या ?

भावार्थ—रात्रिभोजन के त्यागी भी यदि दो घड़ी दिन के बाद भोजन करें तो वे रात्रि भोजन के त्यागी नहीं कहे जा सकते। इसी से दो घड़ी दिन के पहले भोजन करने का उपदेश है।

---

* इसी विषय में पद्मनन्दि स्वामी ने श्रावकाचार में लिखा है—

वासरस्य मुखे चान्ते विमुच्य घटिकाद्वयं।
योऽशनं सम्यगाधत्ते तस्यानस्तमितव्रतम् ॥

तात्पर्य यह है कि—जो पुरुष दिन ऊगने की तथा दिन अस्त होने की दो घड़ी को छोड़ कर भोजन करते हैं वेही रात्रिभुक्त त्याग व्रत के धारक हैं। इसनियम के विरुद्ध चलने वाले रात्रि भोजन के छोड़ने वाले होकर भी वे रात्रिभुक्त त्यागी नहीं कहे जासकते।

रात्रौ चरन्ति लोकोक्तिरधमा रजनीचराः।
तत्र भुक्तिः कृता येन भुक्तं तैस्तेन निश्चितम् ॥२१॥

अर्थात्—यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि रात्रि के समय में नीच राक्षसादि लोग भ्रमण करते रहते हैं तो जिस पुरुष ने रात्रि में भोजन किया है उसने नियम से उनके साथ भोजन किया है।

अतिसूक्ष्मास्त्रसा यत्र पतन्त्यागत्य भोजने।
दीपं पश्यतो भुक्तौ तेपि भुक्ता न सन्ति किम् ॥२२॥

अर्थात्—रात्रि में भोजन करते समय दीपक को देखकर, उसके प्रकाश से अनेक छोटे २ जन्तु आकर भोजन में गिरते रहते हैं तो क्या रात्रि में भोजन करने वाले पापी पुरुषों ने उनजीवों का भक्षण नहीं किया होगा ऐसा कहा जा सकता है ? कभी नहीं।

अब यह बात कहते हैं कि रात्रि भोजन से केवल धर्म का ही घात होता हो सो भी नहीं है किन्तु शरीर सम्बान्धि हानि यें भी बहुत होती हैं—

मक्षिका वमनाय स्यात्स्वरभङ्गाय मूर्द्धजः।
यूका जलोदरे विष्टिः कुष्ठाय गृहकोकिली ॥२३॥

अर्थात्—रात्रि में भोजन करते समय मक्खी यदि खाने में आजाय तो उससे वमन (उल्टी) होती है। यदि केश (वाल) खाने में आजाय तो स्वर का नाश हो जाता है। यदि यूक (जूवां) खाने में आजाय तो जलोदर आदि रोग उत्पन होते हैं। और यदि गृह कोकिली (विस्मरी—छिपकली) खाने में आजाय तो उससे कोढ़ आदि उत्पन्न होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को रात्रि में भोजन करने का त्याग करना चाहिये।

भुक्तावित्यादिदोषालिर्नक्तं प्रत्यक्षमीक्ष्यते।
वार्त्ता पापस्य का तत्र वर्ण्यते ज्ञानिभिर्यदि ॥२४॥

अर्थात्—इस तरह अनेक प्रकार के दोष रात्रि के भोजन करने से आखों के सामने देखे जाते हैं तो बुद्धिमान पुरुष उसके पाप की वार्त्ता का कहां तक वर्णन करें।

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि रात्रि के भोजन से इतना पाप होता है जिसका वर्णन किसी तरह हम नही कर सकते। इसलिये बुद्धिमानों को स्वयं इसके दोषों का पर्यालोचन करके इसे त्यागना चाहिये।

न श्राद्धं दैवतं कर्म स्नानं दानं न चाहुतिः।
जायते यत्र किं तत्र नराणां भोक्तुमर्हति ॥२५॥

अर्थात्—जब रात्रि में श्राद्ध, देवकर्म, स्नान, दान और आहुति आदि कर्म नही होते हैं तो रात्रि में क्या मनुष्यों के लिये भोजन योग्य कर्म कहा जा सकेगा ? कभी नही।

यो मित्रेऽस्तंगते रक्ते विदध्याद्भोजनं जनः।
तद्द्रोही स भवेत्पापः शवस्योपरि चाशनम् ॥२६॥

अर्थात्—जो पुरुष सूर्य को अस्त हो जाने पर भोजन करते हैं उन पापी पुरुषों को सूर्य द्रोही समझना चाहिये तथा उनलोगों ने रात्रि में भोजन क्या किया ? किन्तु उन्हें मुर्दों के मृतक शरीर के ऊपर भोजन करने वाले कहना चाहिये।

रात्रिभोजनपापेन दुर्गतिं यान्ति जन्तवः।
रोगा दरिद्रिणः क्रूरा दृश्यन्ते तेऽपि तेन वै ॥२७॥

अर्थात्—रात्रि में भोजन करने के पाप से जीव दुर्गति को जाते हैं यह बात ठीक है। यही कारण है कि-संसार में कितने रोगी हैं, कितने दरीद्री हैं, कितने महाभयंकर आकृति को धारण करने वाले क्रूर है। इत्यादि अनेक तरह के दुःखों से पीड़ित देखे जाते हैं यह पाप का फल नही तो क्या है ?

इसी सम्बन्ध में एक छोटी सी कथा का सारांश दिखाते हैं—

स्ववधूं लक्ष्मणः प्राह मुञ्च मां वनमालिके।
कार्ये त्वां लातुमेष्यामि देवादिशपथोऽस्तु मे ॥२८॥

पुनरुचे तयेतीशः कथमप्यप्रतीतया।
ब्रूहिचेन्नैमि लिप्येऽहं रात्रिभक्तेरघैस्तदा ॥२९॥

अर्थात्—यह कथा श्री पद्मपुराण में प्रसिद्ध है—कि—जिस समय वनमाला नाम की कोई राजकुमारी लक्ष्मण के गुण तथा रूप सौन्दर्यादि के सुनने से उनके दास्यत्व को अङ्गीकार कर लिया था।

भावार्थ—हृदय में उन्हें अपना स्वामी बना लिया था। परन्तु किसी कारण से उसे मालूम हुआ कि अब लक्ष्मण का दर्शन मुझे न होगा इसी आवेग से उसने सोचा कि फिर मेरा भी इस जग में जीना निस्सार। है ऐसा विचार कर उसने अपने दिल में मरण की ठानली। एक दिन घर के लोगों की वन क्रीडा के बहाने से आज्ञा लेकर वन में गई। वहाँ रात्रि के समय और लोगों को निद्रा में अचेत छोड़ कर आप किसी वृक्ष की शाखा पर अपने अन्तरीय वस्त्र की फांसी लटका कर मरना चाहा। यह सब चरित्र वहां आये हुवे लक्ष्मण ने देखा और सोचा कि यह मेरेही विरह में अपने प्यारे प्राणों को शरीर से जुदा करना चाहती है। ऐसा समझ कर करुणा बुद्धि से उसके पास आकर कहा—वनमाले! यह अनर्थ मत कर देख यह मैं (लक्ष्मण) हूं। वनमाला जैसा लक्ष्मण का कीर्त्तन सुनाथा उसी तरह उन्हें देख बहुत प्रसन्न हुई। क्रम से यही बात उसके पिता को मालूम हुई पिता ने लक्ष्मण का सादर शहर में प्रवेश करा कर उसके साथ मे वनमाला का विवाह करदिया। विवाह के कितने दिनोंबाद जब रामचन्द्र लक्ष्मण ने उस नगर से जाना चाहा उसी समय वनमाला लक्ष्मण से कहती है—हे प्राणनाथ! मुझ अनाथिनी को यहीं अकेली छोड़ कर जो आप जाने का विचार करते हो तो मुझ विरहिणी का क्या हाल होगा? इसी अवसर में लक्ष्मण की उक्ति के विषय में ये श्लोक हैं। इनका तात्पर्य यह है।

हे वनमाले! तुम मुझे छोड़ो जाने दो हमारे अभीष्ट कार्य के होजाने पर मैं तुम्हे लेने के लिये अवश्य आऊंगा। यदि तुम्हे मेरे वचनों का विश्वास न होतो मैं हिंसा आदि दोष की प्रतिज्ञा लेता हूं।

भावार्थ—यदि मैं अपने वचनों को पूरा न करूं तो जो दोष हिंसादि के करने से लगता है उसी दोष का मैं भागी होऊं।

इसबात को सुनकर वनमाला फिर लक्ष्मण से बोली—अगर

मुझे आप के आने में कुछ सन्देह है इसलिये आप यह प्रतिज्ञा करें कि यदि मैं न आऊं तो रात्रिभोजन के पाप का भोगने वाला होऊं।

भावार्थ—जो पाप रात में भोजन करने वालों को लगता है उसी ही पाप के भोगने वाला होऊं तो आपको जाने के लिये कह सकती हूं।

यहां आप लोग ध्यानदें कि हिंसा आदि के पाप से भी रात्रि भोजन का कितना पाप अधिक होता है इसीलिये रात्रि भोजन के त्याग का उपदेश है। आत्महित के इच्छक पुरुषों को रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिये।

मातङ्गी चित्रकूटेऽभूद्रात्रिभुक्तिनिवृत्तितः ।
स्वभर्त्रा मारितोत्पन्ना नागश्री सागरात्मभूः ॥३०॥

अर्थात्—चित्रकूट पर्वत पर अपनी स्त्री को किसी चंडाल ने मारी थी उसने रात्रि में भोजन त्याग कर दिया था। ग्रन्थकार कहते हैं कि इसी रात्रि भोजन के त्याग के फलसे वह मातंगी सागर दत्त सेठ की नागश्री नाम पुत्री हुई थी।

पूर्वाह्ने भुज्यते देवैर्मध्याह्ने ऋषिपुङ्गवैः ।
अधमैर्दानवैः सायं निशायां राक्षसादिभिः ॥३१॥

अर्थात्—देवता लोग तो प्रातःकाल में भोजन करते हैं मध्याह्न काल में साधुलोग आहारलेते हैं नीचदानव लोग सायंकाल मे भोजन करते हैं और राक्षसादि भयङ्कर लोग रात्रि में भोजन करते हैं

भावार्थ—रात्रि में भोजन करना राक्षासादि दुष्ट लोगों का काम है इस लिये बुद्धिमानों को रात्रि में भोजन का त्याग करना चाहिये।

वर्या भुञ्जन्त्येकशोऽह्नि मध्या द्विः पशवोऽपरे ।
ब्रह्मोघास्तद्व्रतगुणा न जानाना अहर्निशम् ॥३२॥

अर्थात्—उत्तम लोग तो दिन में एक वक्त ही भोजन करते हैं मध्यम श्रेणि के पुरुष दिन मे दो वक्त भोजन करते हैं। और पशु

तथा राक्षसादि लोग रात्रिभोजन त्याग व्रत के माहात्म्यको नहीं जानते हुवे दिनरात भोजन करते रहते हैं।

भावार्थ—उत्तम पुरुषों को दिन में ही भोजन करना चाहिये क्योंकि रात्रि भोजन करने वाले नीच पुरुष कहे जाते हैं।

दिवाद्यन्तमुहूर्त्तौ योऽत्ति त्यक्त्वा रात्रिवत्सदा।
स्वजन्मार्द्धं नयन्सोऽत्रोपवासैर्वर्ण्यते कियत् ॥३३॥

अर्थात्—जो पुरुष रात्रि भोजन के समान दिन के आदि मुहूर्त्त तथा अन्तिम मुहूर्त्त को छोड़ कर भोजन करता है तथा इसी तरह अपने आधे जन्म को उपवास से व्यतीत करता है उस भव्यात्मा दयालु का हम कहाँ तक वर्णन करें।

भावार्थ—रात्रि में भोजन का त्याग करने वाले भव्य पुरुष आधे जन्म के उपावास के फल भोगने वाले होते हैं।

वस्त्रेणातिसुपीनेन गालितं तत्पिबेज्जलम्।
अहिंसाव्रतरक्षार्थै मांसदोषापनोदने ॥३४॥

अर्थात्—अपने अहिंसाणुव्रतकी रक्षा के लिये मांस के दोष को नाश करने के अर्थ अत्यन्त गाढ़े वस्त्र से छाना हुआ जल पीना चाहिये।

अम्बुगालितशेषं तन्न क्षिपेत्क्वचिदन्यतः।
तथा कूपजलं नद्यां तज्जलं कूपवारिणि ॥ ३५ ॥

अर्थात्—जल छानने के वाद जो उस छन्ने मे वाकी जल (जिवाणी-विनछनी) वचता है उसे जमीन वगैरह पर न डाले तथा कूवे का जल नदी में और नदी का जल कूवे मे भी न डाले।

तदर्द्धप्रहराद्दूर्ध्वं पुनर्गालितमाचेत।
शौचस्नानादिकुर्यान्न पयसा गालितं विना ॥३६॥

अर्थात्—तथा आधे प्रहर के वाद फिर जल छान कर काम में लावे और शौच तथा स्नानादि विना छाने हुवे जल से न करें।

अतिप्रसंगनिक्षेप्तुं वृद्धिं नेतुं तपस्तथा ।
व्रतसस्यव्रती भुक्तेरन्तरायानवेद्दही ॥३७॥

अर्थात्—आगे होने वाली दुरवस्था के दूर करने को, तथा तप बढ़ाने के अर्थ गृहस्थों को चाहिये कि-व्रतरूप धान्य के ऊपर छिलके के समान भोजन में आने वाले अन्तरायों को छोड़े ।

बहुभिः कीटकाद्यैः संश्लिष्टमन्नं परित्यजेत् ।
मृतजीवैश्चजीवद्भिर्विवेकुं यन्न शक्यते ॥३८॥

अर्थात्—अनेक मरे हुवे तथा जीते हुवे जीवों से युक्त जो अन्न हो उसे कभी नहीं खाना चाहिये । वह अन्न दयालु पुरुषों के खाने योग्य नहीं है ।

आर्द्रचर्मास्थिमांसासृक्सुराविष्टाङ्गिहिंसनाम् ।
दृष्ट्वाऽऽहारं न भुञ्जीत व्रतशुद्धः कदाचन ॥३९॥

अर्थात्—जो लोग व्रत करके शुद्ध हैं अर्थात् व्रतों के धारण करने वाले हैं उन्हें चाहिये कि—गीलाचर्म, हड्डी, मांस, खून, मदिरा विष्टा तथा जीव हिंसा देखने पर आहार उसी समय छोड़दे ।

भावार्थ—व्रती पुरुषो को अपवित्र पदार्थों के देखने बाद आहार छोड़ देना चाहिये ।

चर्मादिपशुपश्चाक्षव्रतमुक्तरजस्वला—
रोमपक्षनखादीनां स्पर्शनाद्भोजनं त्यजेत् ॥४०॥

अर्थात्—चर्म आदि अपवित्र पदार्थ, पञ्चेन्द्री पशु, व्रत रहित पुरुष, रजस्वला तथा रोम, पक्ष नख आदि पदार्थों का स्पर्श होने से भोजन छोड़ देना चाहिये ।

श्रुत्वा मांसादिनिन्द्याहां मरणाक्रन्दनस्वरम् ।
वह्निदाहादिकोत्पातं न जिमेद्व्रतशुद्धये ॥४१॥

अर्थात्—मांस, मदिरा, अस्थि, मरण, रोने की आवाज, वह्निदाह तथा उत्पात आदि सुन ने के वाद, व्रतशुद्धि चाहने वालों को भोजन नहीं करना चाहिये ।

पलं रुधिरमित्यादीदृक्षं स्यादिति चिंतनात् ।
व्रतिनो भोक्तुमर्हन्नो प्रत्याख्यातादनात्तथा ॥४२॥

अर्थात्—भोजन करते समय मांस, रुधिर, मदिरा, अस्थि आदि पदार्थ ऐसे होते हैं ऐसा स्मरण होने से तथा त्यागे हुवे भोजन से, व्रति लोगों को भोजन नहीं करना चाहिये।

अब मौन रखने का उपदेश करते हैं—

तथामौनं विधातव्यं व्रतिना मानवर्द्धनम् ।
वाग्दोषहानये द्वेधा कादाचित्कं सदातनम् ॥ ४३ ॥

अर्थात्—व्रती पुरुषों को अपने वचन दोष दूर करने के लिये काल की अवधि तक अथवा आजीवन पर्यन्त इस तरह दो प्रकार मौन धारण करना चाहिये।

भोजनं पूजनं स्नानं हदनं मूत्रणं तथा ।
आवश्यकं रतिं नार्याः कुर्यान्मौनेन तद्व्रती ॥४४॥

अर्थात्—मौनव्रत धारण करने वालों को भोजन, जिन भगवान की पूजन, स्नान, शौच, मूत्र आवश्यक (सामायिकादि षट्कर्म) स्त्रियों के साथ रमण ये सब कार्य मौन पूर्वक करना चाहिये।

हुंकारो हस्तसंज्ञा च भुक्तौ भ्रूचापचालनम् ।
गृद्ध्यै पुरो नु च क्लेशो न कार्यो मौनधारिणा ॥४५॥

अर्थात्—मौन व्रत के धारण करने वालों को भोजन करते समय लोलुपता के अर्थ हुँकार, हाथ से किसी प्रकार का संकेत, भ्रूआदिको चलाना तथा क्लेश आदि नहीं करना चाहिये।

साधुर्मौनान्मनःशुद्धिं लभते शुक्लदायिनीम् ।
युगपद्वाक्यसिद्धिं च त्रैलोक्यानुग्रहानुगाम् ॥४६॥

अर्थात्—साधु पुरुष (मुनि) इसी मौन व्रत के प्रभाव से शुक्ल ध्यान को प्राप्त करने वाली मनःशुद्धि तथा तीन लोक में अनुग्रह करने वाली वचन शुद्धि को एक साथ प्राप्त होते हैं।

मौने कृते कृतस्तेन श्रुतस्य विनयो ह्यतः ।
तेन सम्प्राप्यते ज्ञानं केवलं केलाच्छिवः ॥४७॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—जिस पुरुष ने मौनव्रत धारण किया है उसने मौनव्रत ही धारण नही किया है किन्तु इसके साथ ही श्रुत (शास्त्र) का भी विनय किया है । इसलिये मौन व्रत धारण करने वाले नियम से पहले लोकालोक के प्रकाशक केवल ज्ञान को प्राप्त होकर फिर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

उद्योतनं मखेनैकघंटादानं जिनालये ।
कादाचित्कालिके मौने निर्व्वाहः सर्वदातने ॥४८॥

अर्थात्—जिन पुरुषों ने काल की मर्यादा लिये मौनव्रत धारण किया है उन्हें जिन पूजनादि उत्सव करके मौनव्रत का उद्यो तन (उद्यापन) करना चाहिये । तथा जिनालय में एक घंटा दान देना चाहिये । और जिन महात्मा पुरुषों ने आजीवन के लिये मौन-व्रत धारण किया है उन्हें तो बस आजीवन पर्यन्त ठीक रीति से उस का पालन करना चाहिये उनके लिये यही उद्यापन है ।

॥ इति प्रथमाणुव्रतम् ॥

सभ्यैः पृष्टोऽपि न ब्रूयाद्विवादे ह्यलीकं वचः ।
भयाद्द्वेषाद्गुरुस्नेहात्स्थूलं सत्यमिदं व्रतम् ॥४९॥

अर्थात्—सभ्य पुरुषों के पूछने पर भी विवाद में किसी के भय से द्वेष से तथा अपने पिता आदि के स्नेह से झूंठ वचन नहीं बोलने को स्थूल सत्य व्रत कहते हैं ।

कुमारीभूगवालीकं वित्तन्यासापलापवत् ।
न सत्याणुव्रती ब्रूयाद्धिंसावत्प्राणिबाधनम् ॥५०॥

अर्थात्—सत्याणुव्रती पुरुषों को—हिंसा के समान जीवों को दुःख देने वाली कुमारी अलीक (कन्या सम्बन्धी झूंठ) भूअलीक (पृथ्वी सम्बन्धी झूंठ) गवालीक (गाय सम्बन्धी झूंठ)

नहीं बोलना चाहिये। तथा दूसरे की रखी हुई धरोहर के सम्बन्ध- में भी भूल से झूंठ नहीं बोलना चाहिये।

इन तीनों प्रकार के झूंठ वचन का सागारधर्मामृत के अनुसार खुलासा करते हैं—

कुमारी अलीक—यह कन्या दूसरी जाति की होने पर भी हमारी जाति की है अथवा सजातीय होने पर भी हमारी जाति की नहीं है। इसी तरह कन्या में जो गुण दोष हैं उनका नहीं बताना अथवा न होने पर भी बताना इत्यादि। कुमारी अलीक इसशब्द से केवल कु- मारी, का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये यह तो उपलक्षण मात्र है किन्तु कुमारी, कुमार (बालक) तथा और कोई द्विपद मनुष्यादि इन सबका ग्रहण समझना चाहिये।

भू अलीक—जमीन, वृक्ष, अथवा और कोई स्थावर पदार्थ जो सरासर दूसरे के हैं उन्हें अपने कहना अथवा अपने होने पर भी अपने नही कहना इत्यादि यहाँ भी भू यह शब्द उपलक्षण है इस से स्थावर पदार्थ मात्र का ग्रहण है।

गवालीक—गाय आदि चतुष्पाद जीवों में गुण अथवा दोष रहने पर भी कहना कि नहीं है अथवा न रहने पर उनका अस्तित्व बताना इत्यादि—यहाँ भी गाय शब्द से सर्व चतुष्पद जीवों का ग्रहण समझना चाहिये। लोक में ये तीनो अलीक प्रसिद्ध हैं इस लिये इन तीनों के त्यागने का उपदेश है।

विशेष यह है कि सागर धर्मामृत में " कूटसाक्षी " और ग्रहण- किया है इसलिये खोटी गवाही भी नहीं देना चाहिये।

> धर्मेण दूषितं वाक्यं स्वान्यापदि च यद्भवेत्।
> तत्सत्यमपि न ब्रूयात्सत्याणुव्रतधारकः ॥८१॥

अर्थात्—सत्याणुव्रत के धारक पुरुषों को चाहिये कि जो वचन धर्म से विरुद्ध हो तथा जिसके बोलने से अपने ऊपर तथा दूसरों के ऊपर आपत्ति आती हो ऐसे सत्य वचन को भी न बोले।

> धार्मिकोद्धरणे जैनशासनोद्धरणे तथा।
> कदाचित्प्राणिरक्षार्थमसत्यं सत्यवद्वदेत् ॥८२॥

अर्थात्—किसी धर्मात्मापुरुष के ऊपर किसी तरह की आपत्ति अथवा और कोई बाधा आती हो तो उसके दूर करने के अर्थ, जिन धर्म के उद्धार के अर्थ तथा प्राणियों की जीव रक्षा के लिये असत्य को भी सत्य के समान बोलना चाहिये।

भावार्थ—जीवों की रक्षा वगेरह के लिये असत्य बोला हुआ भी सत्य की गणना में है।

तद्दोषाः पञ्च मिथ्योपदेशैकान्ताभिवादनम्।
कूटलेखक्रियान्यासाहृती साकारमंत्रभित् ॥५३॥

अर्थात्—ऊपर वर्णन किये हुवे सत्याणुव्रत के, झूंठा उपदेश देना, एकान्त में हुवे स्त्री पुरुषों के परस्पर के गुप्त कृत्य का—प्रगट करना, खोटा लेख करना, रखे हुवे द्रव्य का हरण करलेना, तथा संकेत आकारादि से दूसरों के अभिप्राय को जानकर उसे दूसरों को कहदेना तथा अपने मित्रादिकी गुप्त बार्ता प्रगट कर देना—ये पांच दोष (अतीचार) हैं इन्हें सत्याणुव्रत के धारक पुरुषों को छोड़ना चाहिये।

॥ इति द्वितीयाणुव्रतम् ॥

ग्रामादौ वस्तुचान्यस्य पतितं विस्मृतं धृतम्।
गृह्यते यन्नलोभात्तत्स्तेयत्यागमणुव्रतम् ॥५४॥

अर्थात्—लोभ के वशीभूत होकर ग्राम, मार्गादि में दूसरों की गिरी हुई, भूली हुई तथा धरी हुई वस्तु के नहीं ग्रहण करने को स्तेयत्याग नाम तीसरा अणुव्रत कहते हैं।

यतोऽपहरता द्रव्यं प्राणास्तत्स्वामिनो हृताः।
द्रव्यमेव जने प्राणा हिंसावत्तत्त्यजेत्ततः ॥५५॥

अर्थात्—यही कारण है कि जिस पुरुष ने दूसरों का धन हरण किया है उसने केवल धन ही नहीं हरण किया है किन्तु जिसका धन हरण किया है समझलो कि धन के साथ ही उस पापात्मा ने धन के मालिक के प्राणो को भी हरलिये हैं। क्योंकि

लोक में द्रव्य प्राणस्वरूप है । इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि हिंसा के समान दुःख देनेवाली चौरी का त्याग करें।

* सर्वभोग्यतृणाम्ब्वादेर्नाददीत ददीत नो ।
संक्लेशाभिनिवेशेन तृतीयाणुव्रती परम् ॥५६॥

अर्थात्--सर्व साधारण के उपभोग करने योग्य ऐसे तृण तथा जल आदि जो वस्तुएं हैं उन्हें भी स्वामी की आज्ञा के विना स्तेय-त्यागव्रत के धारक पुरुषों को न स्वयं लेना चाहिये और न लेकर दूसरों को देना चाहिये।

निधानादिधनं ग्राह्यं नास्वामिकमितीच्छया ।
अनाथं हि धनं लोके देशपालस्य भूपतेः ॥५७॥

अर्थात्—इस धन का कोई मालिक नहीं है ऐसा समझ कर जमीन में गड़ा हुआ आदि धन नहीं ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जो धन अनाथ होता है अर्थात् जिस धन का कोई स्वामी नही होता है वह धन उसदेश के राजा का समझा जाता है।

निधानादिधनग्राही सदोषश्चौरवद्ध्रुवम् ।
भूपेन विहितं दण्डं सहतेऽध्यक्षमीक्ष्यते ॥५८॥

अर्थात्—निधानादि धन को ग्रहण करने वाला पुरुष नियम से चोर के समान दोष करके सहित है । और उसे राजा का दिया हुआ दंड भोगना पड़ता है तथा काराग्रह मे जाना पड़ता है।

---

* सागारधर्मामृत में इसी विषय में यों लिखा है—

संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम् ।
अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥

अर्थात्—स्वामी की आज्ञा के विना अत्यन्त अल्प तृणादि पदार्थ भी विना दिया हुआ जो ग्रहण करते हैं अथवा दूसरों को देते हैं वे नियम से चोरी के दोष के भागी तस्कर हैं।

भावार्थ—स्तेयत्याग व्रत के धारक पुरुषों को स्वामी के विना कहे तृण तक भी नहीं लेना चाहिये।

मम स्याद्वा नवेति स्वं स्वमपि द्वापरावहम् ।
यदा तदा गृह्यमाणं जायते व्रतहानये ॥५९॥

अर्थात्—यह धन मेरा है अथवा नहीं है इस प्रकार सन्देह कराने वाला खास अपना भी धन जिस किसी समय ग्रहण किया हुआ स्तेयत्यागव्रत की हानि के लिये होता है।

भावार्थ—यह धन मेरा है अथवा नही इस प्रकार संशय कराने वाला खास अपना भी धन हो तो, उसे नही लेना चाहिये।

अतीचारा व्रते चाऽस्मिन् कर्दमा इव वारिणि ।
कथ्यमाना निवार्यन्तां तृतीयव्रतधारिणा ॥६०॥

अर्थात्—जिस प्रकार जल में कीचड़ होता है उसी तरह अचौर्य व्रत मे मलीनता के कारण, जिनका हम आगे वर्णन करते हैं ऐसे जो अतीचार हैं स्तेयत्यागव्रत के धारक पुरुषों को उन्हें छोड़ना चाहिये।

स्तेनसंगाहृतादानविरुद्धराज्यलङ्घनम् ।
हीनाधिकतुलामानं व्यापारप्रतिरूपकः ॥६१॥

अर्थात्—चोरी करने का उपाय बतलाना, चोरी का द्रव्य लेना, देशाधिपति की आज्ञा का उल्लंघन करना, तोलने के परिमाण (बाट) को हीनाधिक रखना।

भावार्थ—खरीदने के बाट अधिक तोल वाले रखना तथा बेचने के बाट न्यून रखना, और अधिक कीमत की वस्तु में थोड़ी कीमत की वस्तु मिलाना ये पांच स्तेयत्यागव्रत के अतीचार हैं चोरी के त्याग करने वालों को इनके छोड़ने में ध्यान देना चाहिये।

॥ इति तृतीयाणुव्रतम् ॥

स्मरपीडाप्रतीकारो ब्रह्मैव न रतिः स्त्रिया ।
इत्यविश्वस्तचित्तोऽसौ श्रयेत निजभामिनीम् ॥६२॥

अर्थात्—काम की पीडा के दूर करने का उपाय ब्रह्मचर्य का

धारण करना नहीं है किन्तु स्त्रियों के साथ में विषय करने से काम की पीड़ा दूर हो सकेगी इस तरह जिस पुरुष का चित्त अविश्वासी है उसे चाहिये कि वह अपनी स्त्री का ही सेवन करे।

भावार्थ—जिन पुरुषों को यह दृढ़ श्रद्धान है कि काम पीड़ा का नाश ब्रह्मचर्य के विना कभी नहीं हो सकता उन्हें तो अपनी स्त्री के साथ भी रमण करने की आवश्यक्ता नहीं है। परन्तु जिन्हें भ्रम से काम पीड़ा के नाश का उपाय स्त्रियों का सेवन मालूम पड़ता है उन्हें चाहिये वे अपनी स्त्री के सेवन में ही सन्तोष रक्खें और परस्त्री का त्याग करें।

परस्त्रीस्मरणं यत्र न कुर्यान्न च कारयेत्।
अब्रह्मवर्जनं नाम स्थूलं तुर्यं च तद्व्रतम् ॥६३॥

अर्थात्—जिन पुरुषों ने परस्त्री का त्याग करके स्वदार सन्तोष व्रत ग्रहण किया है उन्हें अपने किये हुवे व्रत की निर्मलता के लिये न तो कभी पर वनिताओं का स्मरण करना चाहिये और न दूसरों को स्मरण कराना चाहिये। इसे ही स्थूल परस्त्रीत्याग नाम चौथा अणुव्रत कहते हैं।

परदारकुचस्यादौ न चक्षुर्निक्षिपेदसौ।
क्षुब्धं चेन्नालमाकर्ष्टुं कर्दमे जरदुक्षवत् ॥६४॥

अर्थात्—परस्त्री त्यागव्रत के धारण करने वाले पुरुषों को चाहिये कि—दूसरों की स्त्री के स्तन मुख अथवा और किसी अङ्ग में अपने नेत्रों को कभी नहीं डाले।

भावार्थ—पर स्त्रियों की ओर विकार दृष्टि से कभी नहीं देखना चाहिये। क्योंकि क्षोभित (विकारयुक्त) नेत्रों का स्त्रियों की ओर से हटाना बहुत दुष्कर हो जाता है। जिस तरह कीचड़ में फँसे हुवे वृद्ध बैल का निकलना कठिन हो जाता है।

स्वनार्यामपि निर्विण्णः सन्ततौ कुरुते रतिम्।
शीतं तुनुत्सुर्वा वन्हौ ब्रह्मचारी न पर्वणि ॥६५॥

अर्थात्—स्वदार सन्तोषव्रत पालने वाले ब्रह्मचारी पुरुषों

को अपनी खास स्त्री में भी विरक्त होकर केवल सन्तति के लिये प्रीति करना चाहिये। जिस तरह शीत की बाधा के दूर करने के लिये अग्नि का सेवन किया जाता है । और अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वों में तो कभी विषय नही करना चाहिये ।

भावार्थ—स्त्रियों के साथ में विषय करने का प्रयोजन केवल सन्तति के लिये है । जबतक सन्तान न होगी तब तक गृहस्थ अपना भार किसी में देकर निराकुल नहीं हो सकता और निराकुलता प्राप्त हुवे विना आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति नही हो सकती। आचार्यों का यह उद्देश कभी नहीं है कि दिन रात स्त्रियों के राग में फँसकर उभय लोक में शुभ कर्म के ऊपर पानी फेर देना । गृहस्थों को इस विषय पर पूर्ण विचार रखना चाहिये।

स्वस्त्रियं रममाणोऽपि रागद्वेषौ भजत्यहो ।
सूक्ष्मान्योन्यङ्गिनोऽनेकान्हिनस्तीति स हिंसकः ॥६६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अपनी स्त्रियों के साथ में विषय सेवन करता हुआ भी राग और द्वेष को प्राप्त होता ही है। तथा योनिस्थान में उत्पन्न होने वाले अनेक छोटे २ जीवों को मारता है इसलिये वह हिंसक भी है।

मूर्च्छातृष्णाङ्गपीडानुबन्धकृत्तापकारकः ।
स्त्रीसंभोगः सुखं चेत्स्यात्कामिनां न ज्वरः कथम् ॥६७॥

अर्थात्—मूर्च्छा, तृष्णा तथा शरीर पीड़ा करने वाला और सन्ताप बढ़ाने वाला, स्त्रियों के साथ में किया हुआ विषय ही यदि कामी पुरुषों को सुख देने वाला हो तो फिर ज्वर क्यों नहीं सुख देने वाला माना जाता ?

भावार्थ—जिस तरह ज्वर में मूर्च्छा शरीर बाधा वगैरह होने से वह सुखोत्पादक नहीं हो सकता उसी तरह स्त्री संभोग में कभी सुख नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री सम्भोग भी तो मूर्च्छा तृष्णा तथा शरीर पीड़ादि करने वाला है। जो लोग स्त्री संभोग में सुख की कल्पना करते हैं समझना चाहिये कि वे खुजली की बीमारी को दूर करने के

लिये क्षारवस्तु के सेवन को अच्छा समझते हैं परन्तु वास्तव में यह उनका भ्रम है क्षारवस्तु के सेवन से खुजली कभी नहीं मिट सकती। किन्तु दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती जाती है। यही हाल स्त्री से सम्भोग करने में समझना चाहिये।

परस्त्रीं रममाणस्य क्रिया काचिन्न शर्मणे।
दृश्यतेऽसमरङ्गत्वादनवस्थितचित्ततः ॥६८॥

अर्थात्--समान प्रेम के न होने से अथवा चित्त हरवक्त आकुलित रहने से दूसरों की स्त्रियों के साथ में विषय करने वाले पुरुषों की कोई क्रिया सुख की कारण नहीं होती है।

भावार्थ—पति और पत्नी में एक प्रकारका स्वाभाविक विलक्षण प्रेम होता है वह प्रेम जारपति के साथ मे स्त्री का और स्त्री के साथ में उस जार पुरुष का नहीं हो सकता। दूसरे उन दोनों का चित्त सदैव काल स्थिर नहीं रहता है हरवक्त यह भय बना रहता है कि हमारे इस दुष्कर्म का भण्डा फोड़ न होजाय इसी से उनका कोई कर्म सुख कर नही होता है।

परदारनिवृत्तो यो यावज्जीवं त्रिधा नरः।
अद्भुतातिशयः सोऽपि किं वर्ण्य ब्रह्मचारिणः ॥६९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—जो पुरुष मन वचन काय से जीवन पर्यन्त परस्त्री से विरक्त रहता है वह भी आश्चर्य के करने वाले अतिशय (महिमा) से युक्त होता है फिर जो भव्य पुरुष सर्वथा ब्रह्मचारी (स्वस्त्री और परस्त्री से विरक्त) रहते हैं उनका तो हम वर्णन ही क्या करें।

सीतेव रावणं या स्त्री परभर्त्तारमुज्झति।
रूपैश्वर्यादिवर्य च सा गीर्वाणैरपीज्यते ॥७०॥

अर्थात्--जिस तरह सीता ने रावण को मन वचन काय से छोड़ा था उसी तरह जो स्त्री रूप लावण्य करके अत्यन्त सुन्दर भी परपुरुष को छोड़ देती है उसकी स्वप्न में भी कभी वाञ्छा नहीं करती है उसे देवता लोग भी पुजते हैं।

परविवाहकरणानङ्गक्रीडास्मरागमाः ।
परिगृहीतेत्वरिकागमनं सेतरं मलाः ॥७१॥

अर्थात्——परविवाह—दूसरों के पुत्र पुत्री का विवाह कराना, अनङ्गक्रीड़ा—जो विषय सेवन का अङ्ग है उसे छोड़ कर और दूसरे अवयवों से क्रीड़ा करना, स्मरागम—हरवक्त स्त्रियों के साथ विषय सेवन की अभिलाषा रखना, परिगृहीतेत्वरिकागमन—जो स्त्री विवाहिता है परन्तु उसका पति पिता अथवा और कोई नहीं है और वह गुप्तरूप से अथवा प्रगट रूप से दूसरे पुरुषों की इच्छा करती है उसे परिगृहीत इत्वरिका कहते हैं ऐसी स्त्री के यहां जाना, अथवा—अपरिगृहीत इत्वरिकागमन-वैश्यादिकों के यहां जाना ये पांच स्वदार सन्तोष व्रत के अतीचार हैं इन्हें परस्त्रीत्यागव्रत के धारण करने वालों को छोड़ना चाहिये ।

विशेष यह है कि - रत्नकरंड श्रावकाचार, पद्मनन्दि-श्रावकाचार तथा सागारधर्मामृत इत्यादि में जहां स्वदार सन्तोष व्रत के अतीचार लिखे हैं उन में इत्वरिकागमन सामान्यता से लिखा हुआ है और 'विटत्व' स्त्रियों के साथ हंसी वगैरह करना इस अतीचार का भी समावेश है। पं० मेधावी ने इस अतीचार को छोड़ कर परिगृहीत और अपरिगृहीत ऐसे इत्वरिका स्त्री के दो विकल्प करदिये हैं । परन्तु वास्तव में दोनों के होने से कोई हानि नही है । इसलिये दोनों उचित जान पड़ते हैं ।

॥ इति चतुर्थाणुव्रतम् ॥

चेतनेतरवस्तूनां यत्प्रमाणं निजेच्छया ।
कुर्यात्परिग्रहत्यागं स्थूलं तत्पञ्चमं व्रतम् ॥७२॥

अर्थात्——धन धान्यादि दशप्रकार वस्तुओं का अपनी इच्छा से जो प्रमाण करना है उसे स्थूलपरिग्रहत्याग नाम पांचमा अणुव्रत कहते हैं ।

क्रोधाद्यभ्यन्तरग्रन्थानुद्यतोऽपि निवारयेत् ।
क्षमाद्यैः क्षेत्रवास्त्वादीनल्पीकृत्य शनैः शनैः ॥७३॥

अर्थात्——क्षेत्र वास्तु, धन, धान्य, दासी, दास आदि बाह्य परिग्रह को धीरे धीरे घटा करके—उत्पन्न होने वाले-क्रोध, मान, माया, लोभ,

मिथ्यात्व, वेद राग, द्वेष, आदि चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह को भी क्षमादिको के द्वारा दूरकरे।

देशकालात्मजात्याद्यपेक्षया परिमाणयेत् ।
वास्त्वाद्यामृति कृशयेत्तदपि स्वेच्छया पुनः ॥७४॥

अर्थात्—वास्तु आदि वाह्य परिग्रह का देश, काल, आत्मा तथा जाति आदि की अपेक्षा से आजन्म पर्यन्त परिमाणकरे। परन्तु वह परिमाण भी अपनी इच्छा के अनुसार होना चाहिये।

अप्रत्ययतमोरात्रिर्लोभाग्निसमिधाहुतिः ।
सावद्यग्राहवाराशिस्तथापीष्टः परिग्रहः ॥७५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—यद्यपि यह परिग्रह अविश्वास रूप अन्धकार की रात्रि है लोभ रूप धग धग जलने वाली अग्नि के लिये ईन्धन (काष्ठ) की आहुति है तथा सावद्य (पाप) ग्राह (मगरमच्छादिक) के लिये जलराशि (समुद्र) के समान है। तौ भी संसारी लोगों के लिये इष्ट (अभिलषित) है।

भावार्थ—यद्यपि परिग्रह इस जीव को अनेक प्रकार दुःखों के प्राप्त कराने में प्रधान कारण है तथापि इसके विना लोक यात्रा का निर्वाह नहीं होता इसलिये स्वीकार करने के योग्य है।

यः परिग्रहसंख्यं ना निर्मलं रक्षति व्रतम् ।
लोभजिज्जयवत्पूजातिशयं लभते त्वसौ ॥७६॥

अर्थात्—लोभ को जीतने वाला जो पुरुष परिग्रह प्रमाण रूप पवित्र व्रत का पालन करता है ग्रन्थकार का कहना है कि परिग्रह के प्रमाण से जिस तरह 'जय' नामक किसी राजकुमार ने पूजा के महत्व को पाया था उसी तरह वह पुरुष भी लोक में पूजा के महत्व का भागी होता है।

परिग्रहाभिलाषाग्निं ज्वलन्तं चित्तकानने ।
विध्यापयेदसौ क्षिप्रं सन्तोषघनधारया ॥७७॥

अर्थात्—परिग्रहप्रमाणव्रत धारण करने वाले पुरुषों को अपने चित्त रूप वन में जलती हुई परिग्रह की अभिलाषा रूप

अग्नि को सन्तोष रूप मेघ की धारा से बहुत जल्दी बुझानी चाहिये।

भावार्थ—यदि अग्नि के शीघ्र बुझाने का प्रयत्न न किया जाय तो वह थोड़ी ही देर में बड़े २ नगरों का मटिया मेट कर देती है इसी तरह परिग्रह की इच्छा रूप जो अग्नि हमारे हृदय वन में निरन्तर जल रही है उसके बुझाने का जल्दी प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा बढ़ी हुई वह किन २ आपत्तियों का सामना करावेगी यह बात कहना जरा मुशकिल है।

प्रमाणातिक्रमो वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः।
हिरण्यस्वर्णयोर्द्व्यादिपादयोः कुप्यभाण्डयोः ॥७८॥

अर्थात्—वास्तु क्षेत्र, धन धान्य, चांदी सुवर्ण, द्विपद चतुष्पद तथा कुप्य भाण्ड इनके प्रमाण के उल्लंघन करने को अतीचार कहते हैं। यद्यपि इस श्लोक में कोई क्रिया दृष्टिपथ नहीं होती तथापि इसी श्लोक के नीचे परिग्रह परिमाणव्रत के अतीचार कहते हैं इस से जाना जाता है कि यह श्लोक अतिचार के लक्षण में है। इसी से हमने क्षेत्र वास्तु इत्यादि पदार्थों के परिमाण के उल्लंघन को अतीचार कहते हैं ऐसा अर्थ किया है। विशेष बात स्वाध्याय करने वाले सज्जन पुरुष ठीक करें।

वास्तुक्षेत्रादियुग्मानां पञ्चानां प्रमितिं क्रमात्।
योगाद्बन्धनतो दानाद्गर्भाद्भावान्न लंघयेत् ॥७९॥

अर्थात्—वास्तु और क्षेत्र का योग—अपने परिमाण किये हुवे वास्तु (घर) और क्षेत्र में दूसरे की जगहँ को मिलालेना, धन और धान्य का बन्धन—वेचने के प्रतिवन्ध से, चांदी और सोने का दान-दूसरों को देने से, द्विपद और चतुष्पद का गर्भ से, कुप्य औ भाण्ड का भाव (परिणाम)—अपनी की हुई परिमाण संख्या की अधिक वृद्धि करने से अतिक्रमण नही करना चाहिये। येही क्रम से परिग्रह परिमाण-व्रत के पांच अतीचार कहे जाते हैं इन्हीं के छोड़ने का उपदेश है।

अब अणुव्रती का लक्षण कहते हैं—

व्रतान्यमून्यस्मिन्विद्यन्ते चेत्यणुव्रती।
याति मृत्वा सहस्रारपर्यन्तममरालयम् ॥८०॥

अर्थात्—ऊपर कहे हुवे अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये पांच अणुव्रत जिस पुरुष में पाये जावें उसे ही अणुव्रती कहना चाहिये। अणुव्रत का धारण करने वाला पुरुष सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त जाता है।

देवायुष्कमयं मुक्त्वा वद्धान्याऽयुष्कमानवः।
प्राप्नोत्यणुव्रतं नैव नो महाव्रतमुत्तमम् ॥८१॥

अर्थात्—अणुव्रत धारण करने के पहले देवायु को छोड़ कर जिस के दूसरी गति की आयु का वन्ध हो गया है वह पुरुष कभी अणुव्रत तथा महाव्रत को प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस के अणुव्रत को धारण करने के पहले देवायु को छोड़ कर दूसरी गति की आयु का वन्ध हो गया है वह पुरुष अणुव्रतादि को धारण नहीं कर सकता।

वद्धायुष्को निजां मुक्त्वा गतिं नान्यत्र गच्छति।
द्विधा व्रतप्रभावेन देवीमेव गतिं यतः ॥८२॥

अर्थात्—जिसके अणुव्रत धारण करने के पहले दूसरी गति का वन्ध हो गया है वह पुरुष उस गति को छोड़ कर दूसरी गति में नहीं जाता। यही कारण है कि—अणुव्रत तथा महाव्रत के प्रभाव से देवगति ही को प्राप्त होता है।

जिनेन्दुपर्षज्जनमन्यमाना मेधाविनो ये व्रतपञ्चकं तत्।
प्रपाल्य सन्यासविधिप्रमुक्तप्राणाः श्रियस्ते द्युभवा लभन्ते॥८३॥

अर्थात्—जिन भगवान की सभा में बैठे हुवे लोगों से माननीय जो पुरुष ऊपर कहे हुए पांच प्रकार के अणुव्रतो का पालन करके सन्यास विधि पूर्वक अपने प्राणों का परित्याग करते हैं वे पुरुष स्वर्ग की लक्ष्मी के भोगने के अधिकारी होते हैं।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना
विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे व्रतस्वरूपवर्णनो
नाम षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

पञ्चाणुव्रतरक्षार्थं पाल्यते शीलसप्तकम् ।
शस्यवत्क्षेत्रवृद्ध्यर्थं क्रियते महती वृतिः ॥ १ ॥

अर्थात्—अहिंसादिक जो पांच अणुव्रत कह आये हैं उनका ठीक २ रक्षण होसके इसलिये तीनगुणव्रत और चारशिक्षाव्रत इस प्रकार सात शील पालन किये जाते हैं । जिस तरह धान्य युक्त क्षेत्र (खेत) की वृद्धि के लिये उसके चारों ओर कांटे की बाढ़ लगाई जाती है ।

भावार्थ—गुणव्रत और शिक्षाव्रत अणुव्रतों की रक्षा तथा वृद्धि के कारण हैं इसलिये इनका धारण करना आवश्यकीय है ।

गुणाय चोपकारायाऽहिंसादीनां व्रतानि तत् ।
गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥ २ ॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादि की वृद्धि के लिये तथा उपकार के लिये जो व्रत हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं वे गुणव्रत दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इस तरह तीन प्रकार हैं ।

दशदिक्ष्वपि संख्यानं कृत्वा यास्यामि नो बहिः ।
तिष्ठेदित्याऽऽमृतेर्यत्र तत्स्याद्दिग्विरतिव्रतम् ॥ ३ ॥

अर्थात्—दशोंदिशा में जाने की अवधि की संख्या करके उसके बाहर मैं नहीं जाऊंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके आमरण पर्यन्त जो उसी मर्यादा के भीतर ही रहना है । वही दिग्विरति व्रत कहा जाता है ।

वार्धिनद्यटवीभूध्रमर्यादा योजनानि च ।
विधाय तदविस्मृत्यै सीमां नात्येति कर्हिचित् ॥ ४ ॥

अर्थात्—किया हुवा दिग्विरति व्रत कभी विस्मरण न हो

इसलिये समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत तक की मर्यादा तथा योजन तक, की हुई सीमा का कभी भी उल्लंघन न करे।

तद्बहिः सूक्ष्मपापानां विनिवृत्तेर्महाव्रतम्।
फलत्यणुव्रतं तस्मात्कुर्यादेतदणुव्रती ॥ ५ ॥

अर्थात्—की हुई मर्यादा के बाहिर—सूक्ष्म पापों की सर्वथा निवृत्ति हो जाने से दिग्विरति व्रत के धारण करने वाले पुरुषों को ,महाव्रत का लाभ होता है। इसलिये अणुव्रत धारण करने वाले पुरुषों को यह दिग्विरतिव्रत धारण करना चाहिये।

नियमात्तद्बहिस्थानां त्रसस्थावरदेहिनाम्।
रक्षणं कृतमेतेन ततोऽदोऽर्हमिहोदितम् ॥ ६ ॥

अर्थात्—दिग्विरतिव्रत के धारण करने वालों ने—की हुई मर्यादा के बाहिर रहने वाले द्वीन्द्रियादि पञ्चेन्द्री पर्यन्त त्रस तथा पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पञ्च प्रकार के स्थावर जीवों की नियम से रक्षा की है इसलिये यह दिग्विरतिव्रत धारण करने के योग्य है।

अब दिग्विरतिव्रत के अतीचार कहते हैं—

मलपञ्चकमूर्द्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः।
क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधाने मोक्तव्यमेवतत् ॥७॥

अर्थात्—उर्द्धभागव्यतिक्रम—ऊपर जाने की जहांतक मर्यादा की है उससे अधिक ऊपर चढ़ना, अधोभागव्यतिक्रम—नीचे जहां तक जाने की अवधि की है उससे अधिक नीचे जाना, तिर्यग्भागव्यतिक्रम—इसी तरह तिर्यग्दिशा की जितनी मर्यादा की है उससे अधिक जाना, की हुई मर्यादा के बाहिर के क्षेत्र में जाने लगना, तथा की हुई मर्यादा भूलजाना ये पांच दिग्विरतिव्रत के अतीचार हैं। दिग्विरतिव्रत धारक पुरुषों को छोड़ने चाहिये।

इति दिग्विरतिव्रतम् ॥ १ ॥

अर्थः प्रयोजनं तस्याभावोऽनर्थः स पञ्चधा।
दण्डः पापाश्रवस्तस्य त्यागस्तद्व्रतमुच्यते ॥ ८ ॥

अर्थात्---अर्थ प्रयोजन (मतलब) को कहते हैं और जिस कार्य के करने में अर्थ (प्रयोजन) का अभाव हो।

भावार्थ-जिस कार्य के करने में अपना कोई मतलब न हो उसे अनर्थ कहते हैं। वह अनर्थ पांच विकल्प में विभाजित है। उस अनर्थ का जो दण्ड (पापाश्रव) उसे अनर्थदंड कहते हैं। और अनर्थदंड का जो त्याग (छोड़ना) यह अनर्थ दंडत्यागव्रत कहलाता है।

भावार्थ---अनर्थ दंड पाप का कारण है इस हेतु से त्यागने के योग्य है।

अब अपध्यान नाम अनर्थदंड का लक्षण कहते हैं—

वधो बन्धोऽङ्गच्छेदस्वहृती जयपराजयौ।
कथं स्यादस्य चिन्तेत्यपधानं तन्निगद्यते ॥ ९ ॥

अर्थात्---अमुक का मरण, बन्धन, शरीर छेद, धनका हरण, जय, अथवा पराजय कैसे हो इस प्रकार की चिन्ता होने को अपध्यान नाम अनर्थ दंड कहते हैं।

वधकारंभकादेशौ वाणिज्यातिर्यक्क्लेशयोः।
एभिश्चतुर्विधैर्योगैर्मतः पापोपदेशकः ॥१०॥

अर्थात्--जीवों के मारने का अथवा आरम्भ का उपदेश देना तिर्यञ्चों के व्यापार का अथवा और कोई क्लेस जनक व्यापार करने का उपदेश देना इनचारों के सम्बन्ध से पापोपदेश नाम अनर्थ दंड होता है।

शस्त्रपाशविषालाक्षीनीलीलोहमनःशिलाः।
चर्माद्यं नखिपक्ष्याद्या दानं हिंसाप्रदानकम् ॥११॥

अर्थात्---चक्कू, तलवार, जाल, अथवा और कोई शस्त्र, विष, लाक्षा (लाख) नील, लोह, मनःशिल (मैनशल) चर्म आदि वस्तु अथवा नखवाले पक्षी आदि जीव इनके दान देने को हिंसादान नाम अनर्थ दण्ड कहते हैं।

भूमिकुट्टनदावाग्निवृक्षमोटनसिञ्चनम्।
स्वार्थं विनाऽपि तज्ज्ञेयं प्रमादचरितं बुधैः ॥१२॥

अर्थात्—अपने प्रयोजन के विना पृथ्वी का खोदना, वन में तथा पर्वतों में अग्नि लगाना, वृक्षों का तोड़ना तथा सिञ्चन करना ये सब प्रमादचर्या नाम अनर्थदण्ड कहे जाते हैं।

यत्राऽधीते श्रुते कामोच्चाटनक्लेशमूर्च्छनैः ।
अशुभं जायते पुंसामशुभश्रुतिरिष्यते ॥१३॥

अर्थात्—जिन शास्त्रों को सुनने से अथवा पढ़ने से काम, उच्चाटन, क्लेश तथा मूर्च्छादि होते हैं और जिनसे जीवों को पाप बन्ध होता है। इसलिये उन खोटे शास्त्रों के श्रवण तथा पढ़ने को अशुभश्रुति नाम अनर्थदण्ड कहा है। इसी का दुःश्रुति अनर्थदण्ड नाम है।

एतत्पञ्चविधस्यास्य विरतिः क्रियतेऽत्र यत् ।
अनर्थदण्डविरतिस्तद्द्वितीयं गुणव्रतम् ॥१४॥

अर्थात्—इस प्रकार ऊपर कहे हुवे पांच प्रकार अनर्थदण्ड से जो विरक्त होना है उसे अनर्थदण्डविरति नाम दूसरा गुणव्रत कहते हैं।

तत्र कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यं वर्ज्यमुत्तमैः ।
भोगोपभोगानर्थक्यासमीक्ष्याधिकृती मलम् ॥१५॥

अर्थात्—कन्दर्प—स्त्रियों के साथ विषय सेवन की अभिलाषा से युक्त हास्य वचनों का बोलना, कौत्कुच्य—शरीर की खोटी २ चेष्टाये करना, मौखर्य्य—उन्मत्तपने से असम्बन्ध बहुत बोलना. भोगोपभोगानर्थक्य—अपने कार्य भाग से भी अधिक भोगोपभोग वस्तुओं का संग्रह करना, असमीक्ष्याधिकृती—अपने उपयोग का विचार न करके किसी कार्य को आवश्यक की अपेक्षा से भी अधिक करना ये पांच अनर्थदण्ड त्यागव्रत के अतीचार हैं। अनर्थ दण्ड के छोड़ने वाले भव्य पुरुषों को छोड़ना चाहिये।

इति अनर्थदण्डत्यागव्रतम् ॥ २ ॥

अथ भोगोपभोगपरिमाणव्रतमाह—

इयन्तं समयं सेव्यो मया भोगोपभोगकः ।
इयन्तो नाधिकाश्चिन्तेत्स भोगपरिमाणनम् ॥१६॥

अर्थात्—इतने काल पर्यन्त इतने भोग और उपभोगों को मैं काम में लाऊंगा। इनसे अधिक के सेवन की अभिलाषा नहीं करने वाले पुरुष भोगोपभोगपरिमाण व्रत को धारण कर सकते हैं।

अब भोग और उपभोग का अलग २ स्वरूप कहते हैं—

एकशो भुज्यते यो हि भोगः स परिकथ्यते।
मुहुर्यो भुज्यते लोके परिभोगः स उच्यते ॥१७॥

अर्थात्—इस संसार में जो पदार्थ एक ही वक्त भोगने में आता है वह भोग कहलाता है और जो बार २ भोग किया जाता है उसे परिभोग (उपभोग) कहते हैं।

तयोर्यत्क्रियते मानं तत्तृतीयं गुणव्रतम्।
ज्ञेयं भोगपरिभोगपरिमाणं जिनेरितम् ॥१८॥

अर्थात्—भोग और उपभोग के प्रमाण करने को जिन भगवान भोगपरिभोगपरिमाण नाम तीसरा गुणव्रत कहते हैं।

त्याज्यवस्तुनि तु प्रोक्तो यमस्तु नियमस्तथा।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयो नियमः कालसीमकृत् ॥१९॥

अर्थात्— छोड़ने के योग्य वस्तुओं में यम तथा निमय होता है। जीवन पर्यन्त त्यागने को यम कहते हैं और नियम काल की मर्यादा लिये होता है।

भोगे त्रसबहुप्रज्ञाघातके यम एव हि।
भोगोपभोगकेऽन्यत्र यमो नियमकोऽथवा ॥२०॥

अर्थात्—त्रसजीव तथा बुद्धि के नाश करने वाले जो भोग हैं उनमें तो यम ही होता है। और जो भोगोपभोग हैं उनमें यम भी होता है तथा नियम भी होता है।

द्विदलं मिश्रितं त्याज्यमामैर्दध्यादिभिः सदा।
यतः तत्र त्रसा जीवा विविधाः संभवन्त्यहो ॥२१॥

अर्थात्—कच्चे दही दूध तथा छाछ के साथ जिस धान्य की दो दाले होती हैं उसे नही खाना चाहिये। क्योंकि इसमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न होजाते हैं।

विशेष—द्विदल के विषय में कितने लोगों का मत है कि धान्य के सिवाय चारौली (चिरोंजी) आदि जिन २ और वस्तुओं की भी दो दालें होती हैं उन्हें भी कच्चे दूध आदि के साथ नहीं खाना चाहिये। इसे वे लोग काष्ठ द्विदल की कल्पना करते हैं। यदि यह बात किसी प्राचीन आर्षग्रन्थ में होतो उसके मानने में हमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है। परन्तु बिना शास्त्राधार के ऐसे विषय जरा विचार के योग्य हैं। हमने कितने और श्रावकाचारों में भी देखा परन्तु काष्ठ द्विदल का कहीं भी नाम तक नही मिला। इसलिये यदि यह कहें कि यह भेद केवल मन कल्पित है तो कोई अनुचित नही है।

प्रश्न—ऊपर के श्लोक में द्विदल सामान्य शब्द है उससे काष्ठ द्विदल का निषेध नहीं हो सकता। यदि धान्य वाचक कोई विशेष शब्द होता तो तुम्हारे कथन को ठीक मानलेते। इसके सिवाय और भी कितने ग्रन्थों में द्विदल की जगहँ सामान्य शब्द ही लिखा मिलता है इसलिये मालूम पड़ता है कि ग्रन्थकर्ताओं का सामान्य द्विदल शब्द से कोई विशेष प्रयोजन अवश्य है अन्यथा वे स्पष्ट करदेते।

उत्तर—हां यह बात ठीक है—कितने ग्रन्थों में द्विदल की जगहँ सामान्य शब्द लिखा है परन्तु उन सब का द्विदल अन्न के साथ में सम्बन्ध है। इसके लिये विद्वद्वर्य्य पं० आशाधर जी के ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं उन्होंने भी अपने मूल सागारधर्मामृत में तो द्विदल के निषेध में सामान्य द्विदल शब्द लिखा है परन्तु उसकी टीका में उन्होंने यों लिखा है—

" नाहरेत् न भक्षयेत् दयापरः किं तत् द्विदलं मुद्गमाषादिधान्यं किं विशिष्टम् आमगोरससंपृक्तम्' आमेन अनग्निपक्वेन गोरसेन क्षीरेण दध्ना अक्वथितक्षीरोद्भवदधिसंभूतेन तक्रेण च संपृक्तं मिलितं तद्धि बहुजन्त्वाश्रितमागमे श्रूयते इति "

भावार्थ—दयालु पुरुषों को कच्चे दूध दही तथा कच्चे दूध की बनी हुई छाछ के साथ मूंग उड़द, तूर (अरहर) आदि धान्य नहीं खाने चाहिये।

इस लेख से द्विदल का विषय स्पष्ट होजाता है अर्थात् कच्चे गोरस (दूध, दही, छाछ) से मिले हुवे दो दाल वाले धान्य नहीं खाना

चाहिये। शास्त्रों में इसी तरह देखने में आता है इसलिये शास्त्रानुसार श्रद्धान ही कल्याण कारी है।

प्रावृषि द्विदलं त्याज्यं सकलं च पुरातनम् ।
प्रायशः शाकपत्रं च नाहरेत्सूक्ष्मजन्तुमत् ॥२२॥

अर्थात्—वर्षा काल में सम्पूर्ण द्विदल धान्य मूंग, चना, उड़द अरहर, आदि तथा बहुधा करके पुराणा द्विदल धान्य नही खाना चाहिये। क्योंकि वर्षा समय में बहुधा करके इनमें जीव पैदा हो जाते हैं। द्विदल धान्य से यहां सारे धान्य का प्रयोजन है जिनकी दाल हो गई हैं उनके खाने में कोई दोष नहीं है। वैद्यक शास्त्र से सारे धान्य में बर्षा समय में भीतर अंकुर रहते हैं तथा त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह पत्रों वाला शाक भी नही खाना चाहिये। क्योंकि इसमें भी जीव उत्पन्न हो जाते हैं॥

हरिद्राशृङ्गवेरादिकन्दमार्द्रं त्यजेद्बुधः।
मूलं च विशमूल्यादि पत्रं नालीदलादिकम् ॥२३॥

अर्थात्—बुद्धिमान पुरुषों को हल्दी, अर्द्रक आदि गीला कन्द, पृथ्वी के भीतर होने वाले सकरकन्द गाजर तथा कन्दमूली आदि मूल तथा, पत्र कमल नाल आदि जो अभक्ष्य वस्तुएं हैं उन्हें सर्वथा छोड़नी चाहिये।

निम्बकेतकिमुख्यानि कुसुमानि न भक्षयेत् ।
यतस्तेषु प्रजायन्ते त्रसस्थावरजन्तवः ॥२४॥

अर्थात्—नीम, केतकी (केवड़ा) आदि के फूल भी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि फूलों में त्रस तथा स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं॥

शिम्बयोऽपि न हि ग्राह्यास्ता यतस्त्रसयोनयः ।
बहुशोऽमृतवल्ल्याद्यास्त्याज्याश्चानन्तकायकाः ॥२५॥

अर्थात्—शिम्बी भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि ये द्वीन्द्रियादित्रस जीवों की उत्पत्ति का स्थान हैं। और बहुधा करके अमृत वेल आदि वस्तुएं भी नहीं खानी चाहिये ये भी अनन्तकाय होती है॥

अनिष्टानुपसेव्ये ये ते चात्र व्रतयेत्सदा ।
अग्राह्यवस्तुनि त्यागो यतो हि भवति व्रतम् ॥२६॥

अर्थात्—जो वस्तु अनिष्ट है तथा सेवन करने के योग्य नहीं हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये । क्योंकि जो वस्तु सर्वथा अग्राह्य है उस के त्याग करने से व्रत होता है ।

भोगोपभोगसम्बन्धे स्थावराणां वधो भवेत् ।
तस्मादल्पीकृते तस्मिन्नल्पस्थावरहिंसनम् ॥२७॥

अर्थात्—भोगोपभोग वस्तुओं के सेवन से स्थावर जीवों का घात होता है इसलिये भोगोपभोग वस्तु कम करनी चाहिये । क्योंकि इसे कम करने से जीवों की हिंसा भी कम होगी ।

स्नानसद्गन्धमाल्यादावाहारे बहुभेदजे ।
प्रमाणं क्रियते यत्तु तद्भोगपरिमाणकम् ॥२८॥

अर्थात्—स्नान, गन्ध, माल्य, आहार आदि भेद से अनेक प्रकार जो भोग्य वस्तु हैं उनमें प्रमाण करने को भोगपरिमाणव्रत कहते हैं ।

वस्त्राभरणयानादौ वनिताशयनासने ।
विधीयते प्रमाणं तत्परिमाणप्रमाणकम् ॥२९॥

अर्थात्—वस्त्र, आभरण, वाहन, स्त्री, शय्या, आसन आदि जो उपभोग्य वस्तु हैं उन में प्रमाण करने को परिभोग (उपभोग) परिमाण व्रत कहते हैं ।

भावार्थ—जो वस्तु एक वक्त भोगी जाती है उसे भोग कहते हैं ऐसी वस्तुएं स्नान, भोजन, गन्ध आदि हैं । और जो कईवार भोगी जावें उसे उपभोग (परिभोग) कहते हैं ऐसी वस्तुएं आभूषण, वाहन, शय्या, आदि हैं ।

अब भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतीचार कहते हैं—

सचित्तं तस्य सम्बन्धं सन्मिश्राभिषवौ तथा ।
दुःपक्वभोजनं चैते मलाः पञ्च भवन्ति हि ॥३०॥

अर्थात्—सचित्त भोजन करना, सचित्त पदार्थ से सम्बन्ध हुआ भोजन करना, सचित्त वस्तु मिला हुआ भोजन करना, कुछ पका हुआ भोजन करना, अभिषव (द्रव) भोजन करना ये पाँच भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतीचार हैं भोगपरिभोगव्रती पुरुष को त्यागने चाहिये।

गुणैर्युक्तं व्रतं विद्धि गुणव्रतमितित्रयम्।
इदानीं शृणु भव्याग्र! शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥३१॥

अर्थात्—गुण सहित जो होता है वह तो व्रत कहलाता है और गुणव्रत तीन प्रकार होते हैं उनका वर्णन तो हम कर चुके। हे भव्य श्रेष्ठ श्रेणिक! अब चार प्रकार जो शिक्षाव्रत है उसका वर्णन करते हैं उसे तुम सुनो।

इति भोगोपभोगपरिमाणं तृतीयं गुणव्रतम् ॥

यस्माच्छिक्षाप्रधानानि तानि शिक्षाव्रतानि वै।
चत्वार्याश्रयतात्पौरप्रातिमाभ्यासहेतवे ॥३२॥

अर्थात्—शिक्षा जिन में प्रधान है वे शिक्षा व्रत कहलाते हैं उनके चार विकल्प हैं। आगे की प्रतिमाओं का अभ्यास बढ़ाने के अर्थ इन्हें धारण करना चाहिये।

देशावकाशिकं नाम ततः सामायिकं व्रतम्।
तत्प्रोषधोपवासोन्यदथितेः संविभागकम् ॥३३॥

अर्थात्—देशावकाशिक शिक्षाव्रत, सामायिक शिक्षाव्रत, प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत के भेद हैं।

अवक्रम से सविस्तर चारों शिक्षाव्रतों का खुलासा वर्णन करते हैं उस में पहले ही देशावकाशिक शिक्षाव्रत का वर्णन किया जाता है।

दिग्व्रताहृतदेशस्य यत्संहारो धनस्य च।
क्रियते सावधिः सीम्नां तत्स्याद्देशावकाशिकम् ॥३४॥

अर्थात्—दिग्व्रत में जो वहुत से देश का प्रमाण किया है उसकी सीमाका, काल की अवधिपर्यन्त संकोच करने को देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

भावार्थ—दिग्व्रत में किये हुवे देश प्रमाण की सीमा का काल की मर्यादा लेकर और भी संकोच करने को देशावकाशिक शिक्षा व्रत कहते हैं।

अद्य रात्रिर्दिवा वापि पक्षो मासस्तथा ऋतुः।
अयनं वत्सरः कालावधिमाहुस्तपोधनाः ॥३५॥

अर्थात्—आज, रात्रि, दिन, पक्ष, महीना, दो महीना, छह महीना तथा एक वर्ष इत्यादि भेद को मुनिलोग काल की अवधि कहते हैं।

मठद्वारिगृहक्षेत्रयोजनानां वनस्य च।
सीम्नां स्मरन्ति देशावकाशिकस्यान्वहं बुधाः ॥३६॥

अर्थात्—बुद्धिमान लोग मठ, वीथिका (गली) घर, क्षेत्र तथा योजन, वन पर्यन्त देशावकाशिक शिक्षाव्रत की सीमा कहते हैं।

देशावकाशिकेनासौ सीमाबाह्ये निवृत्तितः।
सूक्ष्मानामपि पापानां तदा महाव्रतीयते ॥ ३७ ॥

अर्थात्—देशावकाशिकव्रत के धारण करने से सीमाके वाहिर सूक्ष्म पापों की भी निवृति होने से वह श्रावक महाव्रती मुनि के समान समझा जाता है।

भावार्थ—यद्यपि वह मुनि है नहीं तथापि देशावकाशिक व्रत में जो सीमा की मर्यादा करली जाती है उसके वाहिर होने वाले पापकी निवृति होजाने से एक तरह उसे महाव्रती कहना चाहिये।

व्रतभङ्गोऽथवा यत्र देशे न जिनशासनम्।
क्वचित्तत्र न गन्तव्यं तदपीदं व्रतं भवेत् ॥ ३८ ॥

अर्थात्—जहां अपना व्रतभङ्ग होता हो तथा जिस देश में

जिनधर्म न हो उस देश में कभी नही जाना चाहिये। इसे भी देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

तेन तद्गमनाभावे व्रतरक्षा कृता निजा।
मिथ्यात्वाऽसङ्गतिश्चातः साध्वेतद्व्रतपालनम् ॥ ३९ ॥

अर्थात्—देशावकाशिक व्रत में की हुई मर्यादा के बाहिर जाने का अभाव हो जाने पर देशावकाशिक व्रत के धारण करने वालों ने अपने धारण किये हुवे व्रत की रक्षा की तथा मिथ्यात्व भी छोड़ा इसलिये देशावकाशिक व्रत को पालन करना योग्य है।

यत्र देशे जिनावासः सदाचारा उपासकाः।
भूरिवारीन्धनं तत्र स्थान्यं व्रतधारिणा ॥४०॥

अर्थात्—जिस देश में जिनालय हो, उत्तम २ आचरण के धारक श्रावक लोग हों तथा जल ईन्धन की जहां प्रचुरता हो उसी देश में व्रती पुरुषो को रहना चाहिये।

भावार्थ—जिस देश में धर्मात्मा पुरुष, जिनमन्दिर तथा जलादि वस्तुओं की ठीक २ स्थिति हो वहीं व्रती पुरुषों को रहना चाहिये। क्योंकि धर्म का साधन निराकुलता से होता है जहां परिणामों को जरा भी विकलता होगी वहां धर्मसाधन अच्छी तरह नहीं होसकना। इसलिये व्रती पुरुषोंको ऐसे स्थानकी आवश्यक्ता है जहां परिणामों की निर्मलता में किसी प्रकार की बाधा न आकर दिनोदिन विशुद्धता होती जाय।

तत्र त्याज्या आनयनप्रेष्यप्रयोगकाख्यकौ।
शब्दरूपानुपातौ च पुद्गलक्षेपको मलाः ॥४१॥

अर्थात्—आनयन—अपनी की हुई मर्यादा के बाहिर से कोई वस्तु किसी से मंगाना अथवा कहना कि तुम अमुक वस्तु वहां से लादो, प्रेष्यप्रेयाग—स्वयं की हुई मर्यादा के भीतर रहकर किसी काम के लिये दूसरे को सीमा के बाहिर भेजना, शब्दानुपात—अपनी मर्यादा के बाहिर रहने वाले पुरुष को अपने समीप बुलाने के लिये चुटकी अथवा ताली बजाना रूपानुपात मर्यादा के बाहिर से बुलाने

के लिये शब्द से न बुलाकर अपना रूप शरीरावयव दिखाना, पुद्गल क्षेपक—की हुई मर्यादा के बाहिर किसी काम के कराने की सूचना के लिये सीमा बाहिर वाले पुरुष के पास, पत्थर वगैरह फेकनां ये पांच देशावकाशिक व्रत के मल (अतीचार) हैं देशावकाशिकव्रत के धारक पुरुषों को त्यागने चाहिये।

॥ इति देशावकाशिकमाद्यं शिक्षाव्रतम् ॥

सर्वभूतेषु यत्साम्यमार्त्तरौद्रविवर्जनम्।
संयमेऽतीव भावश्च विद्धि सामायिकं हि तत् ॥४२॥

अर्थात्—सर्व जीव मात्र में साम्य (समता) भाव का होना आर्त्त परिणाम तथा रौद्र परिणाम का न होना तथा संयम में विशेष प्रवृति का होना इसे सामयिक कहते हैं।

चैत्यादौ सन्मुखः प्राच्यामुदीच्यां वा क्वचित्स्थितः।
शुचिर्भूत्वा विदध्यात्स वन्दनां प्राच्यमार्गतः ॥४३॥

अर्थात्—जिनालय, वन, तथा और कोई बाधा रहित एकान्त स्थान में पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा में सन्मुख स्थिर होकर तथा पवित्र होकर प्राचीनमार्ग के अनुसार बन्दना (सामायिक) करनी चाहिये।

प्रत्यहं क्रियते देववन्दना तत्र शुद्धयः।
क्षेत्रकालासनान्तर्वाक्छरीरविनयाभिधाः ॥ ४४ ॥

अर्थात्—सामायिक के समय में जो प्रतिदिन देववन्दना की जाती है उसमें क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, आसनशुद्धि, मनशुद्धि, बचनशुद्धि, शरीरशुद्धि तथा विनय शुद्धि इस तरह सात प्रकार शुद्धि होनी चाहिये।

एकान्ते निर्मले स्वास्थ्यकरे शीतादिवर्जिते।
वन्दनां कुर्वतो देशे क्षेत्रशुद्धिश्च सा मता ॥ ४५ ॥

अर्थात्—एकान्त, पवित्र, स्वास्थ्य करनेवाला तथा शीतउष्ण दंश मशकादि की बाधा से रहित प्रदेश में बन्दना करनेवाले पुरुष के क्षेत्र शुद्धि होती है।

उदयास्तात्प्राक्पाश्चात्य त्रित्रिनाडीषु यः सुधीः ।
मध्याह्ने तां च यः कुर्यात्कालशुद्धिश्च तस्य सा ॥४६॥

अर्थात्—जो बुद्धिमान सूर्योदय से पहले तथा अस्त होने के पश्चात तथा मध्यान्ह काल में इस तरह तीनों समय में तीन २ नाडी के समय पर्यन्त सामायिक करते हैं उनके काल शुद्धि होती है ।

पर्यंकाद्यासनस्थायी बद्धा केशादि यो मनाक् ।
कुर्वंस्तां न चलत्यस्याऽऽसनशुद्धिर्भवेदियम् ॥४७॥

अर्थात्—पद्मासन अथवा खड्गासनादि से स्थित होकर और कुछ केशादि को बांध कर सामायिक करता हुआ किसी तरह चलायमान न होकर निश्चल रहता है उसके आसन शुद्धि होती है ।

ममेदमहमस्येति संकल्पो जायते न चेत् ।
चेतनेतरभावेषु सान्तःशुद्धिजिनोदिता ॥४८॥

अर्थात्—यह मेरा है अथवा मैं इसका हूँ इस प्रकार की कल्पना अपने आत्मा को छोड़ कर और किसी दूसरी वस्तुओं में न होना इसे जिनदेव ने मनशुद्धि कही है ।

हुँकारो ध्वनिनोच्चारः शीघ्रपाठो विलम्बनम् ।
यत्र सामायिके न स्यादेषा वाक्छुद्धिरिष्यते ॥४९॥

अर्थात्—सामायिक करने के समय हुँकार, शब्द से उच्चारण, जल्दी जल्दी पाठबोलना तथा बहुत धीरे धीरे पाठ बोलना आदि न होने को महर्षि लोग वचन शुद्धि कहते हैं ।

हस्तपादशिरःकम्पावष्टम्भादिर्न यत्र वै ।
कायदोषो भवेदेषा कायशुद्धिरिहागमे ॥५०॥

अर्थात्—सामायिक करने के समय हस्त कम्पन, शिरः कम्पन तथा अवष्टंभ आदि जो शरीर दोष हैं उनके न होने को शास्त्रों में कायशुद्धि कही है ।

द्विनतिद्वादशावर्त्तशिरोनतिचतुष्टये ।
तत्र योऽनादराभावः सा स्याद्विनयशुद्धिका ॥५१॥

अर्थात्—दो नमस्कार, बारह आवर्त्त और चार शिरोनति जिसमें होते हैं ऐसे सामायिक शिक्षाव्रत में जो अनादर का अभाव होना उसे महर्षि लोग विनयशुद्धि कहते हैं।

*स्तुतिर्नतिस्तनूत्सर्गः प्रत्याख्यानं प्रतिक्रमः ।
सामायिके भवन्त्येते षडावश्यकमेकतः ॥५२॥

अर्थात्—सामायिक में—स्तुति, नमस्कार, शरीरत्याग, प्रत्याख्यान और प्रतिक्रम ये क्रमसे षड़ावश्यक होते हैं।

अथवा वीतरागाणां मुनीनां स्वात्मचिन्मनम् ।
यदा यदा भवेत्तेषां सदा सामायिकं तदा ॥५३॥

अर्थात्—अथवा वीतरागी मुनियों के जिस जिस समय अपने आत्मा का चिन्तवन होता है उस उस समय उनके निरन्तर सामायिक होता है।

यत्र ग्रैवेयकं यात्यभव्यः सामायिके रतः ।
सम्यग्दर्शनसंशुद्धो भव्यस्तत्र शिवं न किम् ॥५४॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि जिस सामायिक शिक्षाव्रत के धारण करने से अभव्य पुरुष भी ग्रैवेयक पर्यन्त चला जाता है तो जो सम्यग्दर्शन से पवित्र भव्य पुरुष उसी सामायिक शिक्षा व्रत के माहात्म्य से मोक्ष नहीं जायगा ? किन्तु अवश्य जायगा।

एतदेवात्मनो मोक्षसाधनं चेत्यतन्द्रितः ।
अवश्यं सन्ध्ययोः कुर्याच्छक्तिश्चेदन्यदापि तत् ॥५५॥

अर्थात्—यही सामायिक इस आत्मा को मोक्ष में प्राप्त कराने

---

* ग्रन्थकार छह आवश्यक कहते हैं और श्लो में कपांच ही हैं यह क्यों ? समझ में नहीं आता पाठक ठीक करें।

वाला है ऐसा हृदय में निश्चय करके आलस रहित हो प्रातःकाल तथा सायंकाल में तो अवश्य ही सामायिक करना चाहिये । यदि इसके अतिरिक्त और भी सामर्थ्य होतो अन्य मध्याह्न काल वगैरह में भी सामायिक करना चाहिये ।

मोक्षः स्वः शर्म्म नित्यश्च शरणं चान्यथा भवः ।
तत्र मे वसतोऽन्यत्किं स्यादित्यापदि चिन्तयेत् ॥८६॥

अर्थात्—मोक्ष अनन्त ज्ञानादिस्वरूप है इसलिये आत्म-स्वरूप है। उपाधि रहित चित्स्वरूप है इसलिये सुख स्वरूप है कभी विनाश नहीं होगा इसलिये नित्य स्वरूप है तथा किसी प्रकार की विपत्ति का मोक्ष में गम्य न होने से विपत्तियों से रक्षा करने वाला है इसलिये शरण है। और संसार इसके विपरीत—अनात्म, अशर्म, अनित्य तथा अशरण है ऐसे संसार में रहने वाले मुझे दुःख के सिवाय और क्या होगा ! ऐसा बारंबार आपत्ति के समय में विचार करना चाहिये ।

*स्नानादिजिनविम्बेऽसौ साम्यार्थं कुरुताद्गृही ।
यथाम्नायं प्रयुञ्ज्यात्तद्विना संकल्पितेऽर्हति ॥८७॥

अर्थात्—गृहस्थों को राग द्वेष की हानि के लिये जिनप्रति-बिम्ब में अभिषेक, पूजन, स्तुति तथा जप ये सब आम्नायपूर्वक करना चाहिये । और संकल्पित (निराकार) अर्हन्त भगवान में स्नान को छोड़कर शेष पूजन, स्तवन, जप करना चाहिये ।

---

* सागारधर्मामृत में इसी विषय का एक श्लोक है—

स्नपनार्चास्तुतिजपान्साम्यार्थं प्रतिमार्पिते ।
युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति ॥

भावार्थ—मुक्त होने की इच्छा करने वाले श्रावकों को प्रति-माओं में कल्पना किये हुवे अर्हन्त देव में अभिषेक, पूजन, स्तुति और जप ये यथा शास्त्र करना चाहिये । और मनसे कल्पना किये हुवे (निराकार) अर्हन्त भगवान मे पहली क्रिया (अभिषेक) को छोड़ कर पूजा, स्तुति तथा जप यथा शास्त्रानुसार करना चाहिये।

व्रतमेतत्सुदुःसाधमपि सिद्ध्यति शीलनात् ।
किं निम्नीक्रियते नाश्मा पतद्वार्बिंदुना मुहुः ॥५८॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि-यद्यपि यह सामायिक शिक्षा व्रत अत्यन्त कठिन है तथापि परिशीलन (अभ्यास) करने से सिद्ध हो ही जाता है। यही बात दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं-यद्यपि पाषाण स्वभाव से अतिशय कठोर होता है तो भी बार २ गिरनेवाला जल बिन्दु उसमें गर्त्त (खड्डा) बनाही देता है।

भावार्थ—उद्यम शील पुरुषों के लिये संसार में ऐसा कोई दुष्कर कार्य नहीं है जिसे वे सिद्ध न कर सकते हों इसलिये सबसे पहले पुरुषार्थ परायण होना श्रेय है।

तस्य पञ्चव्यतीचारा योगदुःप्रणिधानकम् ।
अनादरः स्मृत्यनुपस्थाने वर्ज्याः प्रयत्नतः ॥५९॥

अर्थात—मनोदुष्प्रणिधान—क्रोध, लोभ, अभिमान, द्रोह ईर्ष्या वगैरह का उत्पन्न होना अथवा अन्तःकरण की व्यग्रता होना, वचन दुष्प्रणिधान—धीरे उच्चारण करना अस्पष्ट उच्चारण करना अथवा जल्दी उच्चारण करना, कायदुष्प्रणिधान—हस्त पादादि शरीरावयवों का निश्चल न रहनां, अनादर—सामायिक विधि में अनादर (अनुत्साह) होना नियमित समय सामायिक न करना अथवा शीघ्रता से किसी तरह करना, स्मृत्यनुस्थापन-प्रमादादि से सामायिक करना भूलजाना ये पांच सामायिक शिक्षाव्रत के अती-चार हैं इस व्रत के धारक पुरुषों को त्यागने चाहिये।

॥ इति सामायिकं नाम द्वितीयं शिक्षाव्रतम् ॥

प्रोषधः पर्ववाचीह चतुर्द्धाहारवर्जनम् ।
तत्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं साम्यस्य सिद्धये ॥६०॥

अर्थात्—प्रोषध यह पर्व वाची है और खाद्य, स्वाद्य, लेह्य तथा पेय इस प्रकार चार प्रकार के आहार के छोड़ने को प्रोषधोप-वास कहते हैं वह राग द्वेष की हानि के लिये किया जाता है।

पर्वाष्टमीचतुर्दश्यौ मासे मासे चतुष्टयम् ।
तस्य पूर्वाह्नमध्याह्ने भोजयेदतिथिं ततः ॥६१॥

अर्थात्—अष्टमी और चतुर्दशी ये पर्व माने जाते हैं एक महीने में दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी इस तरह चार पर्व होते हैं। इनके पहले दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशीके दिन मध्याह्न समयमें अतिथियों (मुनि आदि) को अहार देना चाहिये।

भुक्त्वा शुद्धं विधायास्यं प्रक्षाल्य करपादकौ ।
तत्रैव नियमं कृत्वा युक्त्या गच्छेज्जिनालयम् ॥६२॥

अर्थात्—मुनि आदि उत्तम पुरुषको आहार देने के अनन्तर भोजन करके मुख शुद्ध करै । इसके बाद हाथ पांव धोकर और अपने घर परही नियम करके युक्ति पूर्वक जिन मन्दिर जावै ।

जिनान्स्तुत्वा तथा नत्वा कृतेर्यापथशोधनः ।
प्रत्याख्यानं प्रगृह्णीयाद्देवतासाक्षिकं ततः ॥६३॥

अर्थात्—धीरे २ मार्गको देखता हुआ जिन मन्दिर जाकर वहां जिन भगवान का स्तवन करे तथा नमस्कार करके जिन देवकी साक्षिसे प्रत्याख्यान ग्रहण करे।

द्वादशाङ्गं नमस्कृत्य तथा गुणगुरून्गुरून् ।
प्रत्याख्यानं प्रयाचेत गुरुं तद्दत्तमाचरेत् ॥६४॥

अर्थात्—पश्चात् द्वादश अङ्ग स्वरूप जिनवाणीको तथा जो गुणोंसे महत्व युक्त हैं ऐसे गुरुओंको नमस्कार करके उनसे प्रत्याख्यान की याचना करे और जिस प्रकार वे प्रत्याख्यानदें उसे उसी तरह आचरण करे।

तत्र वान्यत्र चैकान्ते क्वचित्साधर्मिकैः सह ।
कालक्षेपं प्रकुर्वीत पठन् शृण्वन् श्रुतं ततः ॥६५॥

अर्थात्—जिनालयमें अथवा और किसी एकान्त स्थानमें और २ धर्मात्माओंके साथ शास्त्र सुनता हुआ तथा स्वयं शास्त्रावलोकन करता हुआ काल व्यतीत करे।

सन्ध्यायां कुरुतात्तत्र कृतकर्मोल्लसन्मनाः ।
ततः स्वाध्यायमादाय जपेत्पञ्चनमस्कृतीः ॥६६॥

अर्थात्—इसके बाद आल्हादित मन होकर सन्ध्या समयमें करने योग्य कर्म्म करे। फिर स्वाध्याय को स्वीकार करके पञ्च नमस्कार मन्त्रका भाव पूर्वक जप करै।

कालस्य यापनां कृत्वा स्वाध्यायं तं विसर्जयेत् ।
ततः प्रमृज्य भूभागं शयीत तृणसंस्तरे ॥६७॥

अर्थात्—पञ्च नमस्कार रूप महामन्त्रका जप करता हुआ कुछ समय व्यतीत करके ग्रहणकी हुई स्वाध्याय को विसर्जन करे। इसके बाद पृथ्वीके किसी प्रदेशको मार्जन (झाड़) करके जन्तुरहित भूमिमें तृणशय्या पर शयन करै।

प्रबुद्धः पुनरुत्थाय लात्वा स्वाध्यायमुत्तमम् ।
कायोत्सर्गादिकं कुर्यात्स्मरन्द्वादशभावनाः ॥६८॥

अर्थात्—निद्राके खुलने पर उठकर उत्तम प्रकार स्वाध्याय को स्वीकार करके बारह प्रकार अनित्यादि भावनाओंका स्मरण करता हुआ कायोत्सर्ग करै।

स्वाध्यायं तं च निष्ठाप्य पश्चात्सूर्योदये सति ।
कायशुद्ध्यादिकं कृत्वा ततः सामायिकं भजेत् ॥६९॥

अर्थात्—उस स्वाध्यायको पूर्ण करके जब सूर्योदय हो जाय तब शरीर शुद्धि आदि करने के बाद फिर सामायिक करै।

* द्रव्यपूजामसौकुर्याज्जिनस्य गुरुशास्त्रयोः ।
अन्ये चाहुर्दिने तस्मिंस्तस्य भावार्चनं मतम् ॥७०॥

---

* इस विषयमें पद्मनन्दिस्वामीने श्रावकाचारमें यों लिखा है—

प्रातरुत्थाय संशुद्धकायस्तात्कालिकीं क्रियाम् ।
रचयेज्जिनेन्द्रार्चा जलगन्धाक्षतादिभिः ॥

भावार्थ—प्रात. काल उठकर और शरीर शुद्धि आदि तत्काल सम्बन्धि क्रिया करके जल गन्ध अक्षत पुष्पादिसे जिन भगवानकी पूजा करे।

अर्थात्—प्रोषधोपवासका धारक श्रावक देव गुरु और जिनवाणीकी जलादि आठ द्रव्योंसे पूजन करे । इस विषयमें कितने महर्षियोंकी यह भी सम्मति है कि प्रोषधोपवासी श्रावकको केवल भाव पूजन करना चाहिये ॥

स्नानमाल्यादिनिर्विण्णो धर्मध्यानेन सन्मतिः ।
तद्दिनं रजनीं तां च नयेत्पूर्वोक्तरात्रिवत् ॥७१॥

अर्थात्—स्नान, माल्य, भूषणादिसे विरक्त होकर उत्तम बुद्धि का धारक वह प्रोषधोपवासी श्रावक धर्मध्यानादिसे उस दिनको तथा रात्रिको पहिलेके समान व्यतीत करे ।

प्रातर्जिनालयं गत्वा स्तुत्वा चेष्ट्वा जिनादिकान् ।
तत्र स्थित्वा कियत्कालं प्रगच्छेन्निजमन्दिरम् ॥७२॥

अर्थात्—फिर प्रातः काल जिनालय जाकर और वहां देव, गुरु तथा शास्त्रादिकी स्तुति करके तथा पूजन करके और कुछ समय तक वहीं पर रहकर इसके बाद फिर अपने मकान पर आवे ।

एवमुत्कृष्टभागेन मयोक्तं प्रोषधव्रतम् ।
षोडशप्रहरस्येदं यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥७३॥

अर्थात्—इस प्रकार उत्कृष्ट विभागसे जो मैंने प्रोषधव्रत कहा है यह प्राचीन मुनियोंके अनुसार कहा है और यह सोलह प्रहर का होता है ।

यदुत्कृष्टं मतं सर्वं मध्यमं च तथैव च ।
परं जलं विमुच्यान्यां भुक्तिं च परिवर्ज्जयेत् ॥७४॥

अर्थात्—ग्रन्थकारका कहना है कि जिस तरह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास किया जाता है उसी तरह मध्यम प्रोषधोपवासको भी समझना चाहिये परन्तु विशेष इतना है कि मध्यम प्रोषधोपवासमें जल रख कर और शेष भोजन का त्याग किया जाता है ।

भावार्थ—मध्यम प्रोषधोपवासी श्रावकको जल छोड़ कर और भोजन का परित्याग करना चाहिये ।

तद्दिने काञ्जिकाहारमेकभक्तं विधाय वा ।
धर्मध्यानेन संतिष्ठेद्भवेत्तद्धि जघन्यकम् ॥७५॥

अर्थात्—पर्वके दिन काञ्जिकाहार अथवा एक भुक्त करके जो धर्म ध्यान सेवन करता है उसे जघन्य प्रोषधोपवास कहते हैं।

भेदा अन्येपि विज्ञेयाः प्रोक्ताः सन्ति जिनागमे ।
मध्यमस्य जघन्यस्य प्रोषधस्य तपोधनैः ॥७६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि–उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य प्रोषधोपवासके और भी कितने भेद मुनि लोगोंने आगममें कहे हैं उन्हें शास्त्रावलोकन करके जानना चाहिये ।

आरंभसंभवं पापं क्षीयते किं तपोविना ।
तस्मात्पर्वणि तत्कर्तुं युक्तं श्रावकपुङ्गवैः ॥७७॥

अर्थात्—महर्षियोंका कहना है कि—आरंभसे उत्पन्न होने वाला पाप तप विना कभी नाश नहीं हो सकता ।

भावार्थ—आरंभ जनित पाप तपके किये विना कभी नाश नहीं हो सकता इसलिये उस पापको नाश करनेके अर्थ अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन प्रोषधोपवास करना योग्य है ।

आरंभकर्म्मणा क्वापि न भवेत्तत्प्रोषधव्रतम् ।
कुर्वतोप्युपवासादि फलायापथ्यभुक्तिवत् ॥७८॥

अर्थात्—आरंभ करनेसे कभी प्रोषधोपवास नहीं हो सकता आरंभ करने वाला कितने भी उपवासादि क्यों न करै उसके अपथ्य भोजनके समान वह फलके लिये समझना चाहिये ।

अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तराः ।
अनादरातिस्मृत्यनुपस्थाने तस्यातिचारकाः ॥७९॥

अर्थात्—अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्ग—न देखकर अथवा न मार्जन करके मल मूत्रादिका क्षेपण करना, अनवेक्षितप्रमार्जित आदान—न देख कर अथवा न मार्जन करके शास्त्रादि उपकरणोंका ग्रहण करना, अनवेक्षितप्रमार्जितसंस्तर्म—न देख कर और न मार्जन

संस्तरा

करके शय्या वगैरह बिछाना, अनादर—उपवासमें अनादर (अनुत्साह) करना तथा स्मृत्यनुपस्थान—उपवासकी तिथी वगैरहको भूलजाना ये पांच प्रोषधोपवासके अतीचार प्रोषधोपवासव्रती श्रावक को छोड़ने चाहिये।

॥ इति प्रोषधोपवासनाम तृतीयं शिक्षाव्रतम् ॥

अततीत्यातिथिर्ज्ञेयः संयमं त्वविराधयन्।
तस्य यत्संविभजनं सोऽतिथिसंविभागकः ॥८०॥

अर्थात्—जो संयमका नाश न करके गमन करता है वह अतिथि कहा जाता है उस संयम पालक अतिथिका जो विभाग करना है अर्थात् भक्ति पूर्वक आहारादि देना है उसे अतिथि संविभाग नाम चौथा शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रकारान्तरसे और भी अतिथि शब्द की व्युत्पत्ति कहते हैं—

अथवा न विद्यते यस्य तिथिः सोऽतिथिः कथ्यते।
तस्मै दानं व्रतं तत्स्याद‌तिथेः संविभागकम् ॥८१॥

अर्थात्—अथवा जिसका तिथि (स्वामी) संसारमें कोई नहीं है उसे अतिथि कहते हैं उसके लिये जो दान देना है उसे अतिथि संविभाग नाम शिक्षाव्रत कहते हैं।

अतिथिः प्रोच्यते पात्रं दर्शनव्रतसंयुतम्।
स्वानुग्रहार्थमुत्सर्गो दानं तस्मै प्रदीयताम् ॥८२॥

अर्थात्—अतिथि वे कहे जाते हैं जो सम्यग्दर्शन तथा व्रतादि से युक्त हैं। और अपने कल्याण के अर्थ, उत्सर्ग अर्थात् द्रव्य का पात्रोंमें सदुपयोग होने को दान कहते हैं। वह दान उपर्युक्त अतिथियों को देना चाहिये।

आहारौषधवासोपकरणं तच्चतुर्विधम्।
भुक्त्यादौ सद्विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषतः ॥८३॥

अर्थात्—आहार दान, औषध दान, वसतिका दान तथा

उपकरण दान इस तरह दानके ये चार भेद हैं। सद्विधि, सद्द्रव्य, सद्दाता तथा सत्पात्र इनके विशेष से इनदानों में भी विशेषता होती है।

भावार्थ—अच्छे भावों से अच्छे पात्रों को दिया हुआ दान अच्छे फल का देनेवाला होता है।

प्रतिग्रहोच्चकैःपीठपादप्रक्षालनार्चनम् ।
प्रणामो योगशुद्धिश्चैषणाशुद्धिर्विधेर्भिदाः ॥८४॥

अर्थात्—अतिथिका ग्रहण, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि तथा ऐषणा शुद्धि ये सब विधिके विकल्प (भेद) हैं।

गृही देवार्चनं कृत्वा मध्याह्ने साम्बुभाजनः ।
पात्रावलोकनं द्वारस्थः कुर्याद्भक्त्या सुधौतभृत् ॥८५॥

अर्थात्—गृहस्थोंको—जिन भगवानकी पूजन करने वाद मध्याह्न समयमें जल का भाजन हाथमें लेकर अपने घरके द्वार पर स्थित होकर भक्ति पूर्वक पात्रोंका अवलोकन करना चाहिये।

नरलोके विदेहादौ पात्रेभ्यो वितरन्ति ये ।
भक्त्याऽऽहारं तु ते धन्याश्चिन्तयेदित्यसौ तदा ॥८६॥

अर्थात्—पात्रावलोकनके समय गृहस्थोंको चिन्तवन करना चाहिये कि—इस मनुष्य लोकमें अथवा विदेह क्षेत्रादिमें जो पुण्यात्मा पुरुष भक्ति पूर्वक पात्रोंके लिये आहार देते हैं वे धन्य हैं।

आयादावीक्ष्य सत्पात्रं भ्रमद्वा चन्द्रचर्यया ।
गत्वा नमोऽस्तु भगवंस्तिष्ठ तिष्ठेति त्रिर्वदेत् ॥८७॥

अर्थात्—सत्पात्रको आये हुवे अथवा चन्द्रचर्या * से भ्रमण करते हुवे देखकर उनके समीप जाकर हे भगवन् ! आपके चरणोंमें नमस्कार है ऐसा कहकर तिष्ठ ! तिष्ठ ! ! तिष्ठ ! ! ! ऐसा तीन वार कहे।

---

* चन्द्रचर्या चन्द्रमाके समान चारो ओर घूमनेको सामान्यतासे कहते हैं यदि विशेष हो तो मूलाचारादि मुनि सम्बन्धि ग्रन्थोंमें देखना चाहिये।

नीत्वा गृहं तदर्हं यदुच्चपीठं प्रदाय च।
पादौ प्रक्षाल्य तद्वारि वन्दित्वा चाष्टधार्चयेत् ॥८८॥

अर्थात्—इसके बाद उन्हें अपने गृह पर लेजाकर और उनके योग्य ऊँचा स्थान देकर उनके चरण कमलोंका पवित्र जलसे प्रक्षालन करै पश्चात् उस जलको नमस्कार करके अष्ट प्रकार जलादिं द्रव्योंसे पूजन करना चाहिये।

नमस्कृत्य त्रियोगेन पूतश्चन्द्रोपकोर्द्ध्वगाम्।
शुद्धां भोजनशालां तन्नीत्वा संशोध्य भोजयेत् ॥८९॥

अर्थात्—अनन्तर मन वचन कायसे उन्हें प्रणाम करके जिसके ऊपर चन्द्रोपक (चन्दोवा) लग रहा है ऐसी शुद्ध भोजनशाला में मुनिको ले आकर शुद्धि पूर्वक अहार करावै।

एवं विधिं विधायासौ यत्क्षिप्तं शुद्धभोजनम्।
चर्मादिसंगनिर्मुक्तं प्रासुकं कोमलं हितम् ॥९०॥

नानीतं कन्दुकादिभ्यो नायातं न चिरोद्भवम्।
न विद्धं देवसंकल्प्यं न हीनादिकृते कृतम् ॥९१॥

रात्रौ च नोषितं स्वादचालितं पुष्पितं न यत्।
नवकोटिविशुद्धं यत्पिण्डशुद्ध्युक्तदोषमुक् ॥९२॥

चतुर्दशमलैर्मुक्तमन्तरायातिगं च यत्।
तस्मै तद्भोजनं देयं ज्ञात्वाऽवस्थां मुनेर्मुदा ॥९३॥

॥ चतुष्कलम् ॥

अर्थात्—इस प्रकार मुनियोंके योग्य सत्कारादि करके और उस समय मुनिराजकी अवस्था पर ध्यान देकर उनके योग्य हर्ष पूर्वक पवित्र भाजन (पात्र) में रखा हुआ, चर्मादि अपवित्र वस्तुओंके सम्बन्ध से रहित, पवित्र (जीवादिरहित), कोमल, जिसके खाने से शरीर में किसी प्रकारकी बाधा न हो, ग्रामान्तरसे लाया हुआ न हो। विद्ध न हो, देवादिकोंके अर्थ संकल्प किया हुआ नहो, नीच लोगोंके लिये

बनाया हुआ न हो, रात्रिमें बना हुआ न हो, स्वादसे विचलित ('अस्वादिष्ट) न हो गया हो, जिस पर फूलन वगैरह न चढ़ गई हो, मन, वचन, काय, और इनसे करना, दूसरोंसे कराना तथा करनेमें सम्मति देना इसतरह नव कोटी शुद्ध हो, पिण्ड शुद्धि नाम अधिकारमें वर्णन किये हुये दोषोंसे रहित हो तथा अन्तराय रहित हो, ऐसा पवित्र आहार मुनिराजके लिये देना चाहिये।

श्रद्धालुर्भक्तिमांस्तुष्टः क्षमावान्शक्त्यलोपकः।
निर्लोभः कालविज्ञानी दातासप्तगुणो भवेत् ॥९४॥

अर्थात्—अब दान देने वाला दाता कैसा होना चाहिये इसी बात को स्फुट करने के अर्थ उपर्युक्त श्लोक कहा है—पात्रोंमें श्रद्धा (आस्था) युक्त हो, भक्ति करके युक्त हो, सन्तोषी—जिसे किसी प्रकारकी आकुलता न हो, क्षमावान—जो क्रोध करके रहित शान्त चित्त हो, अपनी शक्तिके अनुसार सद्व्ययी हो, अर्थात् कृपण न हो, लोभ रहित हो, और समयको जानने वाला हो, ये दान देने वाला दाताके सात गुण हैं। इन्हीं से युक्त दाता कहाजाता है जिनमें ये गुण नहीं हैं वे साधु लोगों के दान देनेके पात्र भी नहीं है।

पात्रं सम्यक्त्वसम्पन्नं मूलोत्तरगुणान्वितम्।
स्वं तरच्च परान्दातृंस्तारयच्च सुपोतवत् ॥९५॥

अर्थात्—जो पवित्र सम्यग्दर्शनसे युक्त हो, अट्ठाईस मूल गुण तथा चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे युक्त हो, अपने आप भव समुद्र से तिरने वाला तथा जहाजके समान दूसरे लोगोंको संसार सागर से पार करने वाला हो उसे ही पात्र कहना चाहिये।

गोचरीभ्रमरीदाहप्रशामनाक्षमृक्षवत्।
गर्त्तापूरणवद्भुंक्ते यत्तत्पात्रं प्रशस्यते ॥९६॥

इस श्लोक का पूर्वार्द्ध समझ में नहीं आया मुनियों के आचार सम्बन्धि ग्रन्थों से इसका निर्णय करना चाहिये। उत्तरार्द्ध का यह अर्थ है—जो साधु केवल उदररूप खड्डा भरने [illegible] अभिप्राय से आहार करते हैं वे ही पात्र प्रशंसा के पात्र हैं।

भावार्थ—जिनकी आहारादि में किसी प्रकार की लोलुपता न होकर केवल अपने उदर को त्यों त्यों पूर्ण करके आत्मकल्याण की ओर दृष्टि है वेही उत्तम पात्र स्वपर हितोपदेशी हैं और जिनकी संसार वासना घटी नहीं है वे पात्र प्रशंसनीय नही होसकते।

अद्याहं सफलो जातः फलितो मे शुभद्रुमः।
कल्पवृक्षादयो लब्धाः प्राप्तं पात्रं यदीदृशम् ॥९७॥

अर्थात्—आज मेरा जीवन सार्थक हुआ। आज मेरा पुण्य रूप वृक्ष फलयुक्त हुआ। अहो ! आज मुझे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, कामधेनु आदि मनोऽभिलाषित उत्तम २ वस्तुएं प्राप्त हुई जो आज मेरे अहो भाग्य से ये बडे भारी तपस्वी रत्न मेरे गृह में आहार के लिये पधार कर मुझ मन्दभागी के घर को अपने चरण कमलों की रज से पवित्र किया !

एवमान्दपूर्वो यो निदानादि विवर्जितः।
दत्ते पात्राय सद्भक्ति तत्पुण्यं केन वर्ण्यते ॥९८॥

अर्थात्—इस प्रकार आनन्द पूर्वक निदानादि (आगामी सुखों की अभिलाषा) से रहित जो भव्य पुरुष भक्ति सहित उत्तम पात्रों के अर्थ पवित्र अहार देता है ग्रन्थकार का कहना है कि उस महादान के प्रभाव से होने वाले पुण्य राशिका कहां लों वर्णन करे।

पात्राय विधिना द्रव्यं दाता सप्तगुणैर्युतः।
यो दत्ते किल तत्पुण्यं कथं मोक्षाय नो भवेत् ॥९९॥

अर्थात्—सात गुणों से युक्त जो दाता पात्रों के अर्थ अपने द्रव्य का सदुपयोग करते हैं उन भव्य पुरुषों का वह पवित्र पुण्य क्या मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला नहीं होगा ? किन्तु अवश्य होगा।

भावार्थ—पात्र दान मोक्ष का कारण है इसलिये भव्य गृहस्थों को दान देने में सदैव प्रयत्नतत्पर होना चाहिये।

भुक्तेः कायस्ततो धातुस्थितिस्तस्यां मनः स्थिरम्।
तस्मिन्ध्यानं ततः कर्मक्षयो मोक्षः स एवहि ॥१००॥

अर्थात्--भोजन से शरीर की स्थिति रहती है शरीर की स्थितिसे धातुओं की स्थिति होती है धातुओं के स्थिर रहने से मन की स्थिरता होती है मन की स्थिरता से ध्यान अच्छी तरह होता है उसी ध्यान से कर्मों का नाश होता है और कर्मों का नाशही मोक्ष कहलाता है।

भावार्थ—यही दान उत्तरोत्तर मोक्ष का कारण है इसलिये गृहस्थों को दान में निरन्तर उद्यमशील होना चाहिये।

दाता पात्रं स्थिरं कुर्वन्मोक्षाय स न किं स्थिरम्।
शिल्पी प्रासादमुच्चायन्स्वयमुच्चैर्न जायते ॥१०१॥

अर्थात—जो दाता दानादि से मुनियों को मोक्ष मार्गादि में स्थिर करता है क्या वह मोक्ष जाने का पात्र न होगा? अरे! मकान का निर्माण करने वाला शिल्पीकार मकान को ऊँचा बनाता हुआ क्या स्वयं ऊँचा न जायगा? किन्तु अवश्य जायगा।

भावार्थ—जैसे शिल्पकार ज्यों २ उन्नत प्रसादों का विनिर्माण करता है त्यों त्यों वह भी उन्नत्त होता जाता है उसी तरह जो दाता मुनियों को आहारादि से रत्नत्रय के साधन में निश्चल करेगा वह भी नियम से मोक्ष का अधिकारी होगा इसलिये दान देने में प्रयत्न करना चाहिये।

श्रीषेणवज्रजङ्घाद्याः पात्रदानोत्थपुण्यत.।
भोगभूस्वःसुखं भुक्त्वा तीर्थकृत्वं च लेभिरे ॥१०२॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि इसी पात्र दान से उत्पन्न होने वाले पुण्य कर्म के प्रभाव से प्राचीन समय में श्रीषेण तथा वज्रजङ्घ आदि कितने महापुरुष भोगभूमि तथा स्वर्ग जनित उत्तम सुखों को भोगकर इसके बाद जगत्पूजनीय तीर्थंकर पद को प्राप्त हुवे।

मेघेस्वरचारित्रेऽस्ति रत्यादिवरवेगिका।
कपोतयुगलं यत्र पात्रदानानुमोदनः ॥१०३॥

हिरण्यवर्मणो नाम्ना प्रभावत्या युतस्य तु।
विद्याधरपतेः सौख्यं प्राप्तवत्तत्र किं न ना ॥१०४॥

अर्थात्—मेघेश्वर (जय कुमार) के चरित्र में रतिवर और रतिवेगा नाम कपोत युगल का वर्णन है। ग्रन्थकार का कथन है कि केवल पात्र दान के अनुमोदन मात्र से यह कपोत युगल प्रभावती स्त्री सहित हिरण्य नाम विद्याधरपति के सुख को प्राप्त हुआ था तो, पात्र दान के फल से मनुष्य क्या स्वर्गादि सुखों को नहीं पावेगा? किन्तु अवश्य पावेगा।

भावार्थ—पात्र दान के अनुमोदन (प्रशंसा) मात्र से कपोत युगल ने विद्याधरों की पर्याय पाईथी तो दान के देने से मनुष्य स्वर्गादि सुख नही पासकेगा क्या ? किन्तु अवश्य पासकेगा इसलिये पात्र दान में गृहस्थों को अग्रसर होना चाहिये।

कर्मोदयवशाज्जातरोगाय मुनये भृशम्।
युक्त्या सदौषधं दानं दीयतां रोगशान्तये ॥१०५॥

अर्थात्—यदि कर्मोदय के वश से मुनियों को किसी प्रकार शरीर व्याधियें हो जावें तो उनकी शान्ति करने के लिये उत्तम २ औषधियों का दान मुनियों के अर्थ देना चाहिये।

द्वारावत्यां मुनीन्द्राय ददौ विष्णुः सदौषधम्।
तत्पुण्यतीर्थकृन्नाम सद्गोत्रेण बबन्ध सः ॥१०६॥

अर्थात्—द्वारका नगरी में किसी मुनिराज के लिये विष्णु कुमार ने उत्तम २ औषध दान दिया था उस दान के पुण्य से उन्हों ने तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया था।

वासो मठादिकावासस्तद्दानमपि दीयताम्।
मुनिभ्यो गृहिणा शुद्धधर्मतीर्थप्रवर्त्तने ॥१०७॥

अर्थात्—वसति का मठ आदि का भी दान मुनियों के लिये शुद्ध धर्म तीर्थ की वृद्धि के अर्थ गृहस्थियों को देना चाहिये।

ज्ञानसंयमसौचोपकरणं दानमुत्तमम्।
ज्ञानसंयमवृद्ध्यर्थं दद्यान्मुनिवराय सः ॥१०८॥

अर्थात—ज्ञान संयम तथा शौचोपकरण शास्त्र, कमण्डलु, पिच्छी आदि वस्तुओं का दान मुनिराजों के लिये ज्ञान तथा संयम की वृद्धि के अर्थ देना चाहिये।

ज्ञानोपकरणं शास्त्रं पिच्छः संयम साधनम् ।
शौचोपकरणं कार्यमलहारि कमण्डलु ॥१०९॥

अर्थात्—ज्ञान का उपकरण शास्त्र है संयम का साधन करने वाली पिच्छी है और शरीर के वाह्य मलादि को दूर करने वाला शौचोपकरण कमण्डलु है।

यत्सूनायोगतः पापं संचिनोति गृही घनम् ।
स तत्प्रक्षालयत्येव पात्रदानाम्बुपूरतः ॥११०॥

अर्थात्—गृहस्थ लोग पञ्च सूना (पीसना, खांडना, चूल्हा सुलगाना, पानी भरना, और झाड़ना) के सम्बन्ध से जिस पाप समूह का संग्रह करते हैं उसे पात्र दान रूप जल प्रवाह से नियम से धो डालते हैं।

साधुः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं देशसंयमी ।
सम्यग्दर्शनसंशुद्धो व्रतहीनो जघन्यकम् ॥१११॥

अर्थात्—मुनिलोग उत्तम पात्र कहे जाते हैं देशसंयमी (एक देशव्रती) मध्यम पात्र कहे जाते हैं और जो सम्यग्दर्शन करके युक्त हैं परन्तु व्रत रहित (अव्रत सम्यग्दृष्टि) हैं वे जघन्य पात्र कहे जाते हैं।

उत्तमादिसुपात्राणां दानाद्भोगभुवस्त्रिधा ।
लभ्यन्ते गृहिणा मिथ्यादृशा सम्यग्दृशाऽव्ययः ॥११२॥

अर्थात्—मिथ्यादृष्टि गृहस्थ उत्तम, मध्यम तथा जघन्य पात्रों के दान से क्रम से उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि तथा जघन्य भोगभूमि में जाते हैं और सम्यग्दृष्टि पुरुष ~~स्वर्ग~~ मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

यत्रैकद्वित्रिपल्यायुर्जीवन्ति युगलान्यहो ।
एकद्वित्रिकगव्यूतिकायानि द्युतिमन्ति च ॥११३॥

अर्थात्—उन तीनों भोगभूमि में क्रम से एक पल्य दो पल्य तथा तीन पल्य पर्यन्त आयु के धारक होते हैं तथा कान्ति युक्त दो कोश, चार कोश और छः कोश ऊँचे शरीर के धारक होते हैं।

भोजनवस्त्रमाल्यादिदशधाकल्पभूरुहैः ।
दत्तान्भोगान्मनोभीष्टान्भुक्त्वा यान्त्यमरालयम् ॥११४॥

अर्थात्—उन भोगभूमियों में—भोजनाङ्ग, वस्त्राङ्ग, माल्याङ्ग, ज्योतिषाङ्ग, भूषणाङ्ग, पानाङ्ग आदि दश प्रकार के कल्प वृक्षों से प्राप्त हुवे मनोभिलाषित अनेक प्रकार के उत्तम २ भोगों को भोग कर इसके बाद स्वर्ग में जाते हैं।

पात्रे स्वल्पव्ययं पुंसामनन्तफलभाग्भवेत् ।
भुक्त्वा दत्तं यथायुक्ति शुद्धक्षेत्रोप्तबीजवत् ॥११५॥

अर्थात्—उत्तमादिपात्रों में भोजन के द्वारा किया हुआ थोड़ा भी भव्य पुरुषो को—यथा युक्ति पवित्र क्षेत्र (खेत) में बोये हुवे बीज की तरह अनन्त गुणा फल का देने वाला होता है।

भावार्थ—जिस तरह खेत में थोड़ा भी धान्य बहुत फल को देने वाला होता है उसी तरह पात्रो के लिये थोड़ा भी व्यय किया हुआ द्रव्य अनन्त गुणा होकर फलता है, इसलिये आत्महित के जिज्ञासु पुरुषों को पात्र सरीखे सत्कार्य मे अपनी पाई हुई लक्ष्मी का सदुपयोग करना चाहिये।

भोक्तु रत्नत्रयोच्छ्रायो दातुः पुण्यचयः फलम् ।
शिवान्तनानाभ्युदयदातृत्वं तद्विशिष्टता ॥११६॥

अर्थात्—भोजन करने वाले पात्र के तो रत्नत्रय की उन्नति, दान देने वाले दाता के पुण्य का संचय रूप फल और मोक्ष पर्यन्त अनेक प्रकार के अभ्युदय को देने वाला दातृत्व ये दान में विशेष होते हैं।

भावार्थ—उत्तम पात्र, दाता तथा द्रव्य इनके विशेष से दान में भी विशेषता होती है।

अणुव्रतादिसम्पन्नं कुपात्रं दर्शनोज्झितम् ।
तद्दानेनाश्नुते दाता कुभोगभूभवं सुखम् ॥११७॥

अर्थात्—अणुव्रतादि से युक्त परन्तु यदि सम्यग्दर्शन से रहित है तो उसे कुपात्र समझना चाहिये । कुपात्रों को दान देने से दाता कुभोगभूमि से उत्पन्न होने वाले सुखों को भोगने वाला होता है ।

अपात्रमाहुराचार्याः सम्यक्त्वव्रतवर्जितम् ।
तद्दानं निष्फलं प्रोक्तमूषरक्षेत्रबीजवत् ॥११८॥

अर्थात्—जो सम्यग्दर्शन से सर्वथा रहित हैं उन्हें महर्षि लोग न-दान देने योग्य अपात्र कहते हैं । अपात्र में दिया हुआ दान ऊषर भूमि में बीज बोने के तुल्य निष्फल है ।

भावार्थ—जैसा ऊषर भूमि में बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है उसी तरह अपात्रों को दान देने से द्रव्य का केवल दुरुपयोग होता है उससे फल कुछ भी नहीं होता । इसलिये पात्रों को दान देकर धन का सदुपयोग करना चाहिये ।

सावद्यकर्ममुक्तानां दानं सावद्यसंभवम् ।
पापं शोधयति क्षिप्रं मलं वारीव निर्मलम् ॥११९॥

अर्थात्—सावद्य (आरंभ) कर्म रहित मुनियों को दिया हुआ दान सावद्य से उत्पन्न होने वाले पाप को नियम से नाश करता है जैसे निर्मल जल लगे हुवे कीचड़ को दूर करता है ।

अतिथिसंविभागोऽयं व्रतं व्यावर्णितं मया ।
अतिचारास्तु पञ्चास्य मोक्तव्यास्ते महात्मभिः ॥१२०॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—यह अतिथि संविभाग नाम व्रत को मैंने अच्छी तरह से वर्णन किया । इसके पांच अतीचार हैं वे महात्मा पुरुषों को छोड़ने चाहिये ।

आद्यः सचित्तनिक्षेपोऽन्यः सचित्तपिधानकः ।
परव्यादेशमात्सर्यें कालातिक्रम इत्यमी ॥१२१॥

अर्थात्—सचित्त निक्षेप—सचित्त वस्तुओं में दान देने की वस्तुएं रखना, सचित्तपिधान—दान योग्य आहारादि को सचित्त वस्तुओं से ढकनां, परव्यादेश—दान के योग्य किसी अपनी वस्तु को भूल से दूसरों की कहना, मात्सर्य—अपन घर आये हुवे अतिथि पर कोप करना अतिथि का अनादर करना अथवा दान देते हुवे दूसरे पुरुषों से द्वेष करना, कालातिक्रम—मुनियों के भोजन के समय को उल्लंघन करके आहार देना ये पांच अतिथि संविभागव्रत के अतिचार हैं अतिथि संविभागव्रती को छोड़ने चाहिये।

व्रतस्यास्य परं नाम केचिदाहुर्मुनीश्वराः ।
वैय्यावृत्यं न चार्थस्य भेदः कोप्यत्र विद्यते ॥१२२॥

अर्थात्—कितने आचार्य इसी अतिथि संविभाग व्रत का दूसरा नाम वैय्यावृत्य कहते हैं परन्तु इस नाम में अर्थ भेद कुछ नहीं है। केवल नाम भेद समझना चाहिये।

वैय्यावृत्यस्य भुक्त्यादेश्चतुर्धास्य निदर्शनाः ।
श्रीषेणो वृषभसेना कौंडेशः सूकरो ज्ञेयाः ॥१२३॥

अर्थात्—इस वैय्यावृत्य (अतिथि संविभाग) नाम व्रत के जो भोजन दान, औषध दान, शास्त्र दान तथा वसतिका दान इस तरह चार विकल्प हैं इन चारों के—श्रीषेण, वृषभ सेना नाम सेठकी कन्या, कौण्डेश तथा सूकर ये चार उदाहरण (दृष्टान्त) समझने चाहिये।

भावार्थ—चारों दानों में ये चारों प्रसिद्ध हुवे है इसलिये दान का फल देख कर भव्य पुरुषों को अपनी प्रवृति दान में करनी चाहिये।

मुनीनां प्रणते रुच्चैर्गोत्रं भोगस्तु दानतः ।
लभ्यते सेवनात्पूजा भक्ते रूपं स्तुतेर्यशः ॥१२४॥

अर्थात्—जो भव्य पुरुष मुनियों को भक्ति पूर्वक नमस्कार करेंगे वे नमस्कार के पुण्य से अच्छी उत्तम जाति में पैदा होंगे। जो मुनि लोगों को भक्ति पूर्वक दान देंगे वे उत्तम २ स्वर्गादि के भोगों के भोगने वाले होंगे। जो उनकी सेवा करेंगे वे संसार में और लोगों के द्वारा सेवनीय होंगे। जो लोग भक्ति करेंगे वे मनोहर

रुप के धारी होंगे और जो भक्ति पूर्वक स्तुति करेंगे वे संसार में पवित्र यश के भोगने वाले होंगे । इसलिये आत्महित के अभिलाषी पुरुषों को भक्ति पूर्वक ये सर्व कार्य करने चाहिये ।

व्रतमेतत्सदारक्षन्पात्रान्वेषणतत्परः ।
यस्तिष्ठेत्तदलाभेपि स स्यात्तत्फलभाग्नरः ॥१२५॥

अर्थात्—ऊपर कहे हुवे अतिथिसंविभाग (वैयावृत्य) व्रत की रक्षा करता हुआ निरन्तर महनीय पात्रों के ढूंढने में प्रयत्नपरायण रहता है वह पुरुष पात्र के अलाभ में भी अतिथि संविभाग व्रत के फ़ल का भोगने वाला होता है ।

* भावो हि पुण्यकार्यत्र पापाय च भवेन्नृणाम् ।
तस्मात्पुण्यार्थिना पुंसा निजः कार्यः शुभः स तु ॥१२६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—आत्मा का परिणाम ही तो पुण्य का सम्पादन करने वाला तथा पाप का उत्पादक होता है इसलिये जो पुण्य की इच्छा करने वाले हैं उन्हें अपने परिणाम शुभरूप रखना चाहिये ।

सत्पात्रालाभतो देयं मध्यमाय यथाविधिः ।
पात्राय तदलाभेतु जघन्याय स्वशक्तितः ॥१२७॥

अर्थात्—यदि सत्पात्र (उत्तमपात्र) का संयोग न मिले तो उनके अभाव में यथा शास्त्रानुसार मध्यमपात्रों को दान देना चाहिये यदि मध्यम पात्रों का भी संयोग न मिले तो उनके अभाव में शक्त्यानुसार जघन्यपात्रों को दान देना चाहिये ।

---

* सागारधर्मामृत में इसी विषय का एक श्लोक है—

भावो हि पुण्याय मतः पापाय चाऽशुभः ।
तं दुष्यन्तं ततो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः ॥

अर्थात्—शुभ परिणाम पुण्य के सम्पादन का कारण है और अशुभ परिणाम पाप के उत्पत्ति का कारण है इसलिये धीर पुरुषों को—पाप से खराब होने वाले अपने परिणामों की शास्त्र गुरु आदि की भक्ति से रक्षा करनी चाहिये ।

रोगिणं च जराक्रान्तं पराधीनं गवादिकम् ।
पथ्यादिनोपचर्य्यासौ स्वय भुञ्जीत बन्धुयुक् ॥१२८॥

अर्थात्— रोगी पुरुषों का अथवा वृद्ध पुरुषों का तथा पराधीन गाय आदि का पथ्यादि से उपचार करके अपने बन्धुलोगों के साथ फिर आप भोजन करें।

प्रत्यहं नियमात्किञ्चित्तपस्यन्ददत्र च ।
महीयसः परॉंल्लोकॉंल्लभते स ध्रुवं सुदृक् ॥१२९॥

अर्थात्—नियम पूर्वक प्रतिदिन कुछ तपश्चरण करता हुआ तथा कुछ दान देता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष निश्चय से स्वर्गादि उत्तम २ स्थान को प्राप्त होता है।

पञ्चाणुव्रतपुष्ट्यर्थं पाति यः सप्तशीलकम् ।
व्यतीचारं सदृष्टिः स व्रतिकः श्रावको भवेत् ॥१३०॥

अर्थात्—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अहिंसादि पञ्च अणुव्रतों की वृद्धिके लिये अतिचार रहित तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह शीलसप्तक का पालन करता है वह व्रतप्रतिमा का धारक व्रतिक श्रावक कहा जाता है।

यदाहोरात्रिकाचारं विभर्त्याशाधरोदितम् ।
तदा सामायिकाद्यर्हः स महाश्रावको भवेत् ॥१३१॥

अर्थात्—जो पुरुष पण्डितवर्य्य आशाधर के कहे हुवे दिन रात्रि सम्बन्धि आचारको जिस समय धारण करता है वह सामायिकादि प्रतिमाओं के धारण करने योग्य महा श्रावक समझा जाता है।

एवं द्वादशधा व्रतं गतमलं ये धारयन्त्यादरा—
त्पञ्चाणुव्रतत्रिगुणव्रतचतुःशिक्षाव्रताख्यं सदा ।
ते मेधाविन उत्तमार्थविधिना स्मृत्वा जिनेन्दोः पदं
प्राणान्स्वान्परिहृत्य सर्वसुखदा नाकश्रियो भुञ्जते ॥१३२

अर्थात्—जो भव्यपुरुष—अतीचार रहित अहिंसादि पांच अणुव्रत, दिग्विरतादि तीन गुणव्रत, देशावकाशिकादि चार शिक्षा व्रत इस तरह बारह व्रतों को धारण करते हैं वे बुद्धिवान पुरुष—जिन भगवान के पादारविन्दों का स्मरण करते हुवे अपने प्राणों को छोड़कर अनेक तरह के उत्तम २ सुखों की सम्पादन करने वाली स्वर्ग की लक्ष्मी के भोगने के स्वामी होते हैं।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना
विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे व्रतप्रतिमास्वरूप-
वर्णनो नाम सप्तमोधिकारः ॥ ७ ॥

अथ सामायिकादीनां नवानां वच्मि लक्षणम् ।
प्रतिमानां नरेन्द्र ! त्वं सावधानमनाः शृणु ॥ १ ॥

अर्थात्—व्रत प्रतिमा के वर्णन के अनन्तर सामायिकादि नव प्रतिमाओं के लक्षण कहता हूँ हे नरेन्द्र ! तुम सावधानमन होकर सुनो ।

* अहो सप्तकशीलेऽस्मिन्श्रावकावपरावपि ।
अन्तर्भूतौ च विज्ञेयौ केषांचिच्छास्त्रयुक्तितः ॥ २ ॥

अर्थात्—यह बात आश्चर्य की है कि—इसी शीलसप्तक में सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक तथा प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक भी किसी शास्त्र के आधार अन्तर्भूत होते हैं ऐसा समझना चाहिये ।

* ते चैवं प्रविवदन्त्यार्या द्वयं भोगोपभोगयोः ।
कृत्वा निक्षिप्य सन्यासमेवं स्यात्सप्तशीलकम् ॥ ३ ॥

अर्थात्—जिन महर्षियों का यों कहना है कि इसी शील सप्तक में सामायिक तथा प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक भी अन्तर्भूत हैं उन का कथन यों है—भोगोपभोग व्रत के भोग और उपभोग ऐसे दो विकल्प करके और सन्यास अर्थात्—सल्लेखना और मिलाकर शीलसप्तक होता है ।

* एतद्ग्रन्थानुसारेण समता प्रोषधव्रतम् ।
यच्छीलं तद्द्वयं स्यातां प्रतिमे व्रतरूपतः ॥ ४ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—हमारे ग्रन्थ के अनुसार तो सामायिक और प्रोषधव्रत जिस तरह शील स्वरूप वर्णित है वे दोनों अब व्रत रूप से प्रतिमा है ।

---

* इन तीनों श्लोकों का ठीक २ भाव हमारी समझ में नहीं आया इसलिये केवल अक्षरार्थ लिखदिया है बुद्धिमानों को मूलपाठ से ठीक करना चाहिये ।

मूलोत्तरगुणग्रातपूर्णः सम्यक्त्वपूतधीः ।
साम्यं त्रिसन्ध्यं कष्टेपि भजन्सामायिकी भवेत् ॥ ५ ॥

अर्थात्—मूलगुण और उत्तरगुणके समूह से पूर्ण, और जिस की बुद्धि सम्यक्त्व से पवित्र है जो प्रातःकाल मध्याह्न काल तथा सायं-काल इस तरह तीनों काल दुःखादि के होने पर भी समता भाव का सेवन करता है वह सामायिक प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

कुर्वन्यथोक्तं सन्ध्यासु कृतकर्माऽऽसमाप्तितः ।
समाधेर्जातु नापैति कृच्छ्रे सामायिकी हि सः ॥ ६ ॥

अर्थात्—तीनों सन्ध्याओं में सामायिक में करने योग्य कर्म को समाप्तिपर्यन्त करता हुआ नाना प्रकार के उपसर्गादिकों के आने पर भी सामायिक से कभी च्युत नहीं होता है वह नियम से सामायिक प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

सामायिकव्रते सौधशिखरे कलशस्तदा ।
तेनारोपि यदैषा भूर्येनाश्रायि महात्मना ॥ ७ ॥

अर्थात्—उस भव्यपुरुष ने सामायिक व्रत रूप प्रासाद के शिखर ऊपर समझो कि—कलश चढाया है जिस महात्मा पुरुष ने जो यह सामायिक प्रतिमारूप पृथ्वी का आश्रय किया है।

प्राग्यत्सामायिकं शीलं तद्यथा प्रतिमाश्रितः ।
व्रतं तथा प्रोषधोपवासोपीत्यत्र युक्तगीः ॥ ८ ॥ (अभ्यास)

अर्थात्—पहले व्रतप्रतिमा के अनुष्ठान के समय में शील, ~~सप्तक~~ रूप सामायिक जो था वह जैसे अब प्रतिमा रूप है उसी तरह जो प्रोषधोपवास पहले शील ~~सप्तक~~ रूप था वही अब प्रतिमा रूप समझना चाहिये। (अभ्यास)

॥ इति तृतीयसामायिकप्रतिमा ॥

यः प्राग्धर्मत्रयारूढः प्रोषधानशनव्रतम् ।
यावन्न च्यवते साम्यात्स भवेत्प्रोषधव्रती ॥ ९ ॥

अर्थात्—जो पहली दर्शनादि तीन प्रतिमाओं का धारण करने

वाला प्रोषधव्रत के धारण करने तक साम्य से च्युत नहीं होता है वह प्रोषध व्रती कहाजाता है।

मुक्तसावद्यभुक्त्यङ्गसंस्कारः प्रोषधोत्तमम्।
आश्रितो वस्त्रसंगूढमुनिवद्भाति दूरतः ॥१०॥

अर्थात्—जिस ने आरम्भ कर्म, भोजन, तथा शरीर संस्कारादि सब छोड़दिये हैं और उत्तम प्रोषध व्रत धारण किया है ग्रन्थकार कहते हैं—वह भव्यात्मा वस्त्रवेष्ठित मुनि के समान शोभा को प्राप्त होता है।

प्रतिमायोगतो रात्रिं ये नयन्तोऽघविच्छिदे।
क्षोभ्यन्ते नोपसर्गेण केनापि स्तौमि तानहम् ॥११॥

अर्थात्—जो आत्महिताभिलाषी प्रोषधव्रती अपने पूर्वकृत कर्मों के नाश के लिये प्रतिमायोग से रात्रि को व्यतीत करते हुवे किसी प्रकार के दारुण उपसर्गादि से भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं ग्रन्थकार कहते हैं—मैं उन महात्माओं का भक्ति पूर्वक स्तवन करता हूँ।

धन्यास्ते श्रावकाः प्राग्ये वारिषेणसुदर्शनौ।
जिनदत्तादयोऽन्येऽपि निष्कम्पाः प्रोषधव्रते ॥१२॥

अर्थात्—अहो! प्राचीन काल में वारिषेण सुदर्शन तथा जिनदत्त आदि पुण्यशाली श्रावकों को धन्य है जो उपसर्गादि के आने पर भी प्रोषधव्रत में निश्चल रहे।

॥ इति चतुर्थप्रतिमा ॥

प्राक्चतुःप्रतिमासिद्धो यावज्जीवं त्यजेत्त्रिधा।
सचित्तभोजनं स स्याद्दयावान्पञ्चमो गृही ॥१३॥

अर्थात्—पहली चार प्रतिमाओं के धारण करने में सिद्ध जोभव्य पुरुष मन वचन तथा काय से यावज्जीव सचित्त भोजन का त्याग करता है वह दयालु पुरुष नियम से सचित्तत्यागप्रतिमा का धारी पञ्चम गृहस्थ कहलाने योग्य है।

सह चित्तेन बोधेन वर्तते हि सचित्तकम् ।
यन्मलत्वेन प्रागुक्तं तदिदानीं व्रतात्मतः ॥१४॥

अर्थात्—जो वस्तु चित्त अथवा बोध के साथ रहने वाली है उसे सचित्त कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं—जो सचित्त वस्तु पहले (भोगोपभोग परिमाणव्रत के समय) अतीचार रूप में छोड़ी गई थी वही छोड़ना इस समय व्रत माना गया।

शाकबीजफलाम्बूनि लवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ।
जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्वभीतः संयमवान्भवेत् ॥१५॥

अर्थात्—जिसके हृदय में दया है जो जीवों की हिंसा से भय भीत है उसे शाक, बीजफल, जल, लवण आदि अप्रासुक वस्तुओंका त्याग करना चाहिये।

कालाग्नियंत्रपक्वं यत्फलबीजानि भक्षितुम् ।
वर्णगन्धरसस्पर्शव्यावृत्तं जलमर्हति ॥१६॥

अर्थात्—समय, अग्नि तथा यन्त्र आदि से पके हुवे फल, बीज आदि सचित्त वस्तुएं तथा वर्ण, गन्ध रस स्पर्शादि से व्यावृत (प्रासुक) हुआ जल खाने और पीने के योग्य है।

हरितेष्वङ्कुराद्येषु सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिनः ।
निगोता इति सार्वज्ञं वचः प्रमाणयन्सुधीः ॥१७॥

पदापि संस्पृशंस्तानि कदाचिद्गाढतोऽर्थतः ।
योऽतिसंक्लिश्यते प्राणनाशेऽप्येप किमत्स्यति ॥१८॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—जो भव्यात्मा "हरित अंकुरादि में निगोदिया अनन्ते जीव हैं" सर्वज्ञ भगवान के इन वचनों को प्रमाण करता हुआ अपने चरण मात्र से भी उन अंकुरों का स्पर्श करता हुआ अत्यन्त दुःखी होता है वह पुण्यशाली, पुरुष उन्हें कैसे भक्षण करेगा ? किन्तु कभी नहीं करेगा।

अहो तस्य जिनेन्द्रोक्तिनिर्णयोऽक्षजितिः सतः ।
अदृश्यजन्त्वपि हरिन्नात्ति यद्गदहानये ॥१९॥

अर्थात्—अहो ! यह बात आश्चर्य की है—देखो ! सज्जन पुरुषों का जिनदेव के कथन में विश्वास तथा इन्द्रिय दमन, जो जिस हरित वस्तु में जीवों के न दिखने पर भी उसे रोग के नाश के लिये भी नही खाते हैं ।

॥ इति पञ्चमी प्रतिमा ॥

प्राच्यपञ्चक्रियानिष्ठः स्त्रीसंयोगविरक्तधीः ।
त्रिधायोऽह्नि श्रियेत्स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतः स तु ॥२०॥

अर्थात्—पूर्व की पांच क्रिया (प्रतिमाओं) में तत्पर तथा स्त्रियों के सम्बन्ध से विरक्त जो पुरुष मन, वचन, काय से दिन में स्त्रियों का सेवन नही करता है वह रात्रि भक्त व्रती कहा जाता है ।

एतद्युक्त्या किमायातं दिवा ब्रह्मव्रतं त्विति ।
रात्रौ भक्तंगनीसेवां यः कुर्याद्रात्रिभक्तिकः ॥२१॥

अर्थात्—जो रात्रि में स्त्रियों का सेवन करता है वह रात्रि भक्त व्रती है । ग्रन्थकार कहते हैं कि—ऐसा कहने से यही स्पष्ट हुआ न ? दिन मे ब्रह्मचर्य व्रत होता है ।

अन्ये चाहुर्दिवा ब्रह्मचर्यं चानशनं निशि ।
पालयेत्स भवेत्षष्ठः श्रावको रात्रिभक्तिकः ॥२२॥

अर्थात्—कितने महर्षियों का कहना है—दिन में ब्रह्मचर्य रात्रि में भोजन के त्याग को जो पालन करता है वह छटी प्रतिमा का धारी रात्रिभक्तिव्रती कहा जाता है ।

अहो सन्तोषिणां चित्रं संकल्पोच्छेदचातुरी ।
यन्नामापि मुदेप्येषा येन दृष्टा शिलायते ॥२३॥

अर्थात्—अहो यह कितने आश्चर्य की बात है—देखो ! सन्तोषी पुरुषों की कामविकार के नाश करने की बुद्धिमानी, जो जिन स्त्रियों का

नाम मात्र आनन्द के लिये होता है वे स्त्रियें देखी हुई भी उन पुरुषों को पत्थर के समान निस्सार मालूम पड़ती हैं।

रात्रावपि ऋतौ सेवा सापि सन्तान हेतवे।
क्रियतां वशिनो नार्याः पर्वादिषु न जातुचित् ॥२४॥

अर्थात्—इन्द्रिय विजयी पुरुषों को, ऋतुमती (रजस्वला) होकर चतुर्थ दिन स्नान करने पर रात्रि में भी स्त्रियों का सेवन केवल सन्तान के लिये करना चाहिये और पर्वादि में तो कभी नहीं करना चाहिये।

एवं षट्प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमाः।
निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्ये वर्णिनोपि च॥ २५॥

अर्थात्—इस प्रकार छह प्रतिमा पर्यन्त गृहस्थ जघन्य श्रावक कहे जाते हैं। अब तीन प्रकार मध्यम श्रावक तथा ब्रह्मचारी श्रावकों का वर्णन किया जाता है।

॥ इति षष्ठी प्रतिमा ॥

सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं योनिरन्ध्रं मलाविलम्।
पश्यन्यः संगतो नार्याः कष्टादिभयतोपि च ॥२६॥
विरक्तो यो भवेत्प्राज्ञस्त्रियोगैस्त्रिकृतादिभिः।
पूर्वषड्व्रतनिर्वाही ब्रह्मचार्यत्र स स्मृतः ॥२७॥

अर्थात्—पूर्व की छह प्रतिमाओं का भले प्रकार निर्वाह करने वाला जो बुद्धिमान—स्त्रियों के योनिस्थान को छोटे २ जीवों के समूहों से पूर्ण तथा मल सहित देखकर नाना प्रकार के दुःखादि को सहन करता हुआ भी मन बचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से स्त्रियों से विरक्त होता है उसी भव्यात्मा को नियम से ब्रह्मचारी समझना चाहिये।

अस्त्यात्मानन्तशक्त्यात्मेति श्रुतिर्वस्तु न स्तुतिः।
यत्स्ववीर्यगुणात्मैव जगन्मल्लं स्मरं जयेत् ॥२८॥

अर्थात्—"आत्मा अनन्तशक्तिशाली है" यह जो शास्त्रों की श्रुति है वह वास्तव में ठीक है यह केवल स्तुति ही सो नहीं है।

यही कारण है कि —जगत को जीतने वाले कामदेव को स्ववीर्य (पराक्रम) युक्त आत्मा (ब्रह्मचारी) ही जीतता है।

वर्ण्यते भूतले केन माहात्म्यं ब्रह्मचारिणाम् ।
रौद्राः शाम्यन्ति यन्नाम्ना विद्याः सिध्यन्त्यनेकशः ॥२९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार प्रमोद के साथ यह कहते हैं—अहो ! इस पृथ्वीतल में ऐसा कोन है जो ब्रह्मचारी पुरुषों का महात्म्य (प्रभाव) वर्णन कर सके ! जिनके नाममात्र का स्मरण करने से चाहे किनना ही कोई क्रूर क्यों न हो वह भी शान्त होजाता है और जिन्हें अनेक उत्तम २ विद्यायें अपना स्वामी बना लेती हैं ।

बुद्धिऋद्ध्यादयोऽनेका निर्म्मलब्रह्मचारिणाम् ।
मुनीनां किल जायन्ते परासां गणनापि का ॥३०॥

अर्थात्—विशुद्ध ब्रह्मचर्य के धारण करने वाले मुनियों को बुद्धि, ऋद्धि आदि अनेक सिद्धियें प्राप्त होती हैं तो और साधारण वस्तुओं की तो बातही क्या है ?

दुःखद दुःखजं दुःखमहो नार्यङ्गसेवनम् ।
खेदाप्यत्वादघौघैकवर्द्धनाद्गात्रपीडनात् ॥३१॥

अर्थात्—अहो! स्त्रियों के शरीर के सेवन में अत्यन्त खेद होता है इसलिये तो दुःख को पैदा करने वाला है, पाप समूह की वृद्धि होने से दुःखों का देने वाला है और शरीर को पीड़ा जनक होने से दुःख स्वरूप है इसलिये ब्रह्मचारी पुरुषों को स्त्रियों के शरीर का सेवन नही करना चाहिये ।

अग्निस्तृप्यति नो काष्ठैर्वारिधिर्न नदीचयैः ।
तथाऽयमेभिरात्मापि विषयैः सङ्गसम्भवैः ॥३२॥

अर्थात्—अग्नि में कितना भी काष्ठ क्यों न होमा जावे वह कभी सन्तोष वृत्ति को धारण नहीं करने की, समुद्र में नदियों के समूह के समूह आकर क्यों न मिलै वह कभी पर्याप्त दशा को प्राप्त नहीं होने का, उसी तरह यह आत्मा दिनों दिन स्त्रियों के सङ्गादि से होने वाले

कितने ही विषयों का क्यों न सेवन करे इसके लिये वह का वह ही पहला दिन है।

भावार्थ—विषयों से कभी तृप्ति नहिं होने की।

विषं भुक्तं वरं लोके झंपापातोऽग्निकुण्डके।
रमणीरमणस्पर्शो रमणीयो नहि कर्हिचित् ॥३३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—हलाहल विष का खाना बहुत अच्छा है तथा झंपापात लेकर अग्नि कुण्ड में कूद जाना अच्छा है परन्तु स्त्रियों के साथ में रमण करने का स्पर्श कभी नहीं अच्छा हो सकता।

सुखासनं च ताम्बूलं सूक्ष्मवस्त्रमलङ्कृतिः।
मज्जनं दन्तकाष्ठं च मोक्तव्यं ब्रह्मधारिणा ॥३४॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य प्रतिमा के धारक भव्य पुरुषों को—सुखासन, ताम्बूल (पान), महीन वस्त्र, भूषण, मज्जन तथा काष्ठादि से दतौन करना आदि त्यागने चाहिये।

ब्रह्मचर्ये गुणानेकान्दोषान्मैथुनसेवने।
ज्ञात्वाऽत्र दृढचित्तो यः स नन्द्याच्छ्रावकाग्रणीः ॥३५॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य के धारण करने से गुणों की प्राप्ति होती है तथा मैथुन सेवन में अनेक दोष हैं ऐसा समझ कर जो बुद्धिमान अपने चित्त को किसी प्रकार विकल न करके निश्चल चित्त है वह श्रावक श्रेष्ठ भव्यात्मा सदा वृद्धि को प्राप्त होवे यह हमारी आन्तरङ्गिक अभिलाषा है।

॥ इति सप्तमी प्रतिमा ॥

निर्व्यूढसप्तधर्मोऽङ्गिवधहेतून्करोति न।
न कारयति कृष्यादीनारम्भरहितास्त्रिधा ॥३६॥

अर्थात्—पूर्व की सात प्रतिमा का पालन करने वाला जो धर्मात्मा पुरुष मन वचन काय से हिंसा के कारण कृषि आदि को नहीं करता है और न दूसरो से कराता है उसे आरम्भ-त्याग-प्रतिमा का धारक श्रावक कहना चाहिये।

कदाचिंज्जीवनाभावे निःसावद्यं करोत्यपि ।
व्यापारं धर्मसापेक्षमारंभविरतोऽपि वा ॥३७॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—आरम्भ—त्याग—प्रतिमा धारी श्रावक—किसी समय जीवन निर्वाह का दूसरा उपाय न रहने से पाप रहित और जिसके करने से धर्म में किसी प्रकार की बाधा न आवे ऐसे व्यापार को भी कर सकता है।

भावार्थ—आरम्भ-त्यागी श्रावक को भी जीविका के अभाव में धर्म से अविरोधी और पाप रहित व्यापार के करने में किसी प्रकार की हानि नहीं है।

पापाद्विभ्यन्मुमुक्षुर्यो मोक्तुं भक्तमपीहते ।
प्रवर्त्तयेदसौ प्राणिसङ्घातघ्नीः कथं क्रियाः ॥३८॥

अर्थात्—मोक्षाभिलाषी जो भव्य—पुरुष पाप से भय भीत होता हुआ भोजन के भी त्यागने की इच्छा करता है वही दयालु पुरुष जीवों के नाश करने की क्रियाओं को कैसे कर सकता है? कदापि नहीं कर सकता।

॥ इत्यष्टमी प्रतिमा ॥

योऽष्टव्रतदृढो ग्रन्थान्मुञ्चतीमे न मेऽहकम् ।
नैतेषामिति बुद्ध्या स परिग्रहविरक्तधीः ॥३९॥

अर्थात्—पहले की आठ प्रतिमाओं के धारण करने में निश्चल चित्त जो भव्य पुरुष—ये परिग्रह मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूं ऐसा समझ कर परिग्रह का त्याग करता है उसे ही परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक कहना चाहिये।

अथ योग्यं समाहूय सुतं वा गोत्रजं प्रशान् ।
वदेदिदंतकं साक्षाज्जातिमुख्यसधर्मणाम् ॥४०॥

अर्थात्—परिग्रह विरक्त भव्य पुरुष को चाहिये—अपने योग्य पुत्र को अथवा किसी योग्य गोत्र में उत्पन्न होने वाले को (दत्तक पुत्र को) बुला कर अपनी जाति के प्रधान २ साधर्मी लोगों को सामने उसे इस तरह कहे—

अद्य यावन्मया वत्स ! रक्षितोऽयं गृहाश्रमः ।
जिहासोर्वैं विरज्यैनं त्वमद्यार्हसि मे पदम् ॥४१॥

अर्थात्—अय वत्स ! आज तक मैंने इस गृहस्था श्रम का रक्षण किया परन्तु अब वैराग्य को प्राप्त होकर इस गृहस्था श्रम को छोड़ने वाले मेरे स्थान में तुझे नियत करता हूं।

यः पुनाति निजाचारैः पितरः पूर्वजानिति ।
पुत्रः स गीयते वप्तुः सुतव्याजादरिः परः ॥४२॥

अर्थात्—जो सुत अपने पवित्र आचरण (कर्त्तव्य कर्म) से अपने माता पितादिको पवित्र करता है वही तो वास्तविक पुत्र है और जिसने अपना आचरण अपने पूर्व पुरुषों के अनुसार पवित्र न रक्खा उनकी आज्ञा का पालन न किया वह पुत्र नहीं है किन्तु यों समझो कि पुत्र रूप मे वह पिता का शत्रु (वैरी) पैदा हुआ है।

भावार्थ—वही पुत्र सच्चा है जिसने अपने माता पिता की पवित्र आज्ञा को सादर दृष्टि से अपने हृदय में स्थान दिया है।

प्रपुपूषोर्निजात्मानं सुविधेरिव केशवः ।
उपस्करोति यो वप्तुः पुत्रः सोऽत्र प्रशस्यते ॥४३॥

अर्थात्—सुविध नाम राजा के केशव नामक पुत्र के समान अपनी आत्मा को उत्कर्ष देने वाले पिता को जो अपने सदाचारों से अलंकृत करता है वही पुत्र इस संसार मे प्रशंसा करने के योग्य है।

तदेतन्मे धनं पोष्यं धर्म्यं चापि स्वसात्कुरु ।
श्रेयोऽर्थिनां परं पथ्या सेयं सकलदत्तिका ॥४४॥

अर्थात्—हे वत्स ? मेरे ये धन, पोष्य-स्त्री, जननी आदि तथा धर्म्य-चैत्यालय आदि धर्म पदार्थ जो २ हैं उन्हें तुम अपने आधीन करो। ग्रन्थकार कहते है—आत्महित के चाहने वाले भव्य पुरुषों को यह सकला दत्ति (सम्पूर्ण वस्तुओं का देना) उत्कृष्ट पथ्य स्वरूप है।

विध्वस्तमोहपञ्चास्यपुनर्जीवनशङ्किनाम् ।
गृहत्यागक्रमः प्रोक्तः शक्त्यारंभो हि सिद्धिकृत् ॥४५॥

अर्थात्—पूर्व आठ प्रतिमा रूप खड्ग से घायल हुवे मोह रूप सिंह के फिर भी जीने का सन्देह करने वाले गृहस्थाश्रमी श्रावकों के लिये ही यह गृहत्याग का अनुक्रम कहा है। इसी अनुसार उन्हें त्याग करना चाहिये। क्योंकि शक्ति के अनुसार किया हुआ ही कार्य सिद्धि का देने वाला होता है।

चित्तमूर्च्छाकरं मायाक्रोधादिगूढपाद्विलम्।
तृष्णाग्निकाष्ठमाबुध्य दुर्ग्रहं च परिग्रहम् ॥ ४६ ॥
परित्यज्य त्रिशुद्ध्याऽसौ सर्वं मोहारिघातये।
तिष्ठेद्गृहे कियत्कालं वैराग्यं भावयन्सुधीः ॥ ४७ ॥

अर्थात्—यह परिग्रह चित्त में मूर्च्छा का करने वाला है, कपट क्रोध मान लोभादि रूप सर्प का विल है, आशा रूप अग्नि के लिये काष्ठ है, तथा दुष्टगृह (पिशाच) है ऐसा समझ कर मन वचन काय की शुद्धि से मोहरूप वैरी के नाश करने के लिये सर्व परिग्रह को छोड़कर और वैराग्य का चिन्तवन करता हुआ कुछ समय तक घरही में रहे।

निराकुलतया देवपूजादौ कर्मणि स्थिरः।
तद्दत्तं कशिपुं भुञ्जंस्तिष्ठेच्छान्तमनारहः ॥ ४८ ॥

अर्थात्—सर्व आकुलता रहित होकर निराकुलता से देवपूजनादि शुभ कर्मों मे स्थिर (निश्चल) होकर अपने पुत्र का दिया हुआ भोजन वस्त्रादि का भोग करता हुआ शान्तता पूर्वक एकान्त स्थान में रहै

॥ इति परिग्रहविरतिर्नवमी प्रतिमा ॥

इत्युक्ता वर्णिनो मध्याः श्रावकावधुनोच्यते।
उत्कृष्टौ भिक्षुकौ तौ चानुमतोद्दिष्टवर्जिनौ ॥ ४९ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—तीन प्रकार जो मध्यम श्रावकों के भेद हैं उनका वर्णन कर चुके। अब इस समय उत्कृष्ट भिक्षुक श्रावकों के अनुमतिविरति तथा उद्दिष्ट विरति इस प्रकार जो दो भेद हैं उनका वर्णन किया जाता है।

यो नानुमन्यते ग्रन्थं सावद्यं कर्म चैहिकम् ।
नववृत्तधरः सोनुमतिमुक्तस्त्रिधा भवेत् ॥ ५० ॥

अर्थात—नव प्रतिमाओं को धारण करने वाला जो भव्यपुरुष परिग्रह में तथा इह लोक सम्बन्धि सावद्य (आरंभ) कर्म में मन वचन काय से अपनी सम्मति नहीं देता है वह धर्मात्मा अनुमति—त्यागी उत्कृष्ट श्रावक है।

स्वाध्यायं वसतौ कुर्याद्दूर्ध्वं द्वितयवन्दनात् ।
आकारितः स भुञ्जीत स्वगृहे वा परस्य वा ॥ ५१ ॥

अर्थात्—दशमी प्रतिमा धारी श्रावक को जिनचैत्यालय में स्वाध्याय करना चाहिये और मध्याह्नकाल की सामायिक करने बाद कोई बुलाने आवे तब अपने घर तथा दूसरो के घर भोजन करने को जाना चाहिये।

यथालब्धमदन्कायस्थितये भोजनं खलु ।
कायश्च धर्मसिद्ध्यै स मोक्षार्थिभिरपेक्ष्यते ॥ ५२ ॥

अर्थात्—उस समय जैसा कुछ भोजन मिले उसे केवल शरीर की स्थिति के लिये करना चाहिये। क्योंकि यह शरीर मोक्ष की प्राप्ति का कारण है इसीलिये तो मोक्षभिलाषी पुरुष इस शरीर की अपेक्षा करते हैं।

सावद्योत्पन्नमाहारमुद्दिष्टं वर्जये कथम् ।
भैक्षामृतं कदा भोक्ष्ये वाञ्छेदिति वशी हि सः ॥ ५३ ॥

अर्थात्—वह इन्द्रियविजयी वशी पुरुष—अहो! आरंभ से उत्पन्न होने वाले और उद्दिष्ट (मेरे उद्देश्य से बनाये हुवे) आहार को मैं कब छोडूंगा और कब वह सुदिन होगा जिस दिन भिक्षावृत्ति रूप अमृत का आस्वादन करूंगा ऐसी अभिलाषा करता रहे।

पञ्चाचारं जिघृक्षुश्च निष्क्रमिष्यन्गृहादसौ ।
पुत्रादीन्स्वगुरून्बन्धून्ब्रूयादिति यथोचितम् ॥ ५४ ॥

अर्थात्—पञ्चाचार (ज्ञानाचार, तपाचार, दर्शनाचार, वीर्या-

चार चारित्राचार) के ग्रहण करने की इच्छा करता हुआ अपने गृह से निकलते समय पुत्र, माता, पिता, भाई, बन्धू आदि को यथा योग्य यों बोले ।

न मे शुद्धात्मनो यूयं भवंत किमपि ध्रुवम् ।
तन्मां मुञ्चत मोक्षाय प्रोद्यन्तं मोहपाशतः ॥ ५५ ॥

अर्थात्—इस असार संसार में शुद्धात्मस्वरूप को छोड़कर और कोई मेरा सम्बन्धि नही है इस कारण दारुण मोह जाल से छूटकर मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले मुझे आप लोग छोड़ें ।

भवद्भिर्मयि क्षन्तव्यं मया क्षान्तं भवत्सु च ।
तद्यत्किञ्चित्समुद्भूतं मिथो जल्पनमावयोः ॥ ५६ ॥

अर्थात्—यदि आप में और मेरे में परस्पर कुछ बोलना हुआ हो तो उसके लिये मुझे आप क्षमा करें और मैंने भी आप लोगों के साथ क्षमा की ।

इत्युक्तैस्तैरनुज्ञातो गृहान्निर्गत्य सोत्कधीः ।
वनं गत्वा गुरोरन्ते याचेतोत्कृष्टतत्पदम् ॥ ५७ ॥

अर्थात्—इस प्रकार प्रार्थना किये हुवे अपने कुटुम्बी लोगों की आज्ञा से गृह से निकलकर बन में जाय और वहां गुरूओं के पास स्थित होकर उनसे उत्कृष्ट श्रावक पद की याचना (प्रार्थना) करे ।

एवं चर्यां गृहत्यागावसानां नैष्ठिकोत्तमः ।
समाप्य साधकत्वाय पदं पौरस्त्यमाश्रयेत् ॥ ५८ ॥

अर्थात्—नैष्ठिकाग्रणी श्रावक इस प्रकार गृहत्याग पर्यन्त क्रियाओं को पूर्ण करके साधक होने के लिये आगे की प्रतिमा का अर्थात—ग्यारमी प्रतिमा को धारण करे ।

॥ इति दशमी प्रतिमा

दशधाधर्मास्त्रसंभिन्नश्वसन्मोहमृगाधिपः ।
पिण्डमुद्दिष्टमुञ्झन्स्यादुत्कृष्टः श्रावकोन्तिमः ॥५९॥

अर्थात्—जिसका—उपर्युक्त दस प्रतिमा रूप शस्त्र से घायल हुआ मोह रूप मृगेन्द्र कुछ २ जीवित है और जिसने अपने निमित्त से बनाये हुवे—आहार को छोड़ दिया है उसे अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक समझना चाहिये।

उत्कृष्टोऽसौ द्विधाज्ञेयः प्रथमो द्वितीयस्तथा।
प्रथमस्य स्वरूपन्तु वच्म्यहं त्वं निशामय ॥६०॥

अर्थात्—प्रथम श्रावक और द्वितीय श्रावक इस तरह उत्कृष्ट श्रावक के दो विकल्प (भेद) हैं। हे महाराज श्रेणिक! पहले प्रथम श्रावक का स्वरूप कहता हूं उसे तुम सुनो।

* श्वेतैकपटकोपीनो वस्त्रादिप्रतिलेखनः।
कर्त्तर्या वा क्षुरेणासौ कारयेत्केशमुण्डनम् ॥६१॥

अर्थात्—प्रथम श्रावक को—श्वेत वस्त्र की लगोट तथा श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिये और कतरनी तथा उस्तरे से केशों का मुण्डन करवाना चाहिये। वस्त्रादि की पिच्छी रखना चाहिये

एषोपि द्विविधो सूत्रे मतो गुरुपदाश्रितः।
बहुभिक्षारतस्त्वेकः परः स्यादेकभिक्षकः ॥६२॥

अर्थात्—गुरु के चरण समीप रहने वाला यह प्रथम श्रावक भी दो प्रकार है एक तो बहुत भिक्षा करने वाला और दूसरा एक ही वक्त भिक्षा करने वाला।

भावार्थ—पहला श्रावक तो एक घर पर पूर्ण भिक्षा न मिलने

---

* इसी विषय में सागार धर्मामृत में यों लिखा है—

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्ध जानपनाययेत्।
सितकोपीन संव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥

अर्थात्—उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद हैं उसमें प्रथम श्रावक को चाहिये—श्वेत वस्त्र की कोपीन (लंगोट) तथा श्वेत वस्त्र पहरे और कतरनी से अथवा उस्तरे से शिर डाढ़ी तथा मूछें वगैरह के केशों का मुण्डन करावे।

से दूसरे घर भी आहार के लिये जा सकता है और एक वक्त भिक्षा करने वाला एक वक्तही आहार करेगा फिर चाहे आहार पर्याप्त मिले अथवा न मिले।

आद्यः पात्रेऽथवा पाणौ भुंक्ते य उपविश्य वै।
चतुर्विधोपवासं च कुर्यात्पर्वसु निश्चयात् ॥६३॥

अर्थात्—पहला श्रावक भाजन (वर्तन) में अथवा हाथ में बैठ कर भोजन करे तथा पर्वों मे चार प्रकार उपवास करना चाहिये।

पात्रं प्रक्षाल्य भिक्षायां * प्रविशेद्दातृमन्दिरम्।
स स्थित्वा प्राङ्गणे भिक्षां धर्मलाभेन मार्गयेत् ॥ ६४ ॥

अर्थात्—उसे चाहिये कि—पहलेही अपने चरणों को जल से धोकर भिक्षा के लिये दाता के घर में जावे। और आंगण में ठहरकर "धर्मलाभ" यह कहकर भिक्षा की याचना करे।

लाभालाभे ततस्तुल्यो निर्गत्यैत्यन्यमन्दिरम्।
पात्रं प्रदर्श्य मौनेन तिष्ठेत्तत्र क्षणं स्थिरः ॥ ६५ ॥

अर्थात्—लाभ तथा अलाभ में समान भाव रखकर अर्थात—किसी तरह का विषाद न करके दूसरे दाता के घर जावे और अपना पात्र दिखाकर क्षण मात्र मौन पूर्वक वहीं पर ठहरे।

प्रार्थयेद्यदि दाता तं स्वामिन्नत्रैव भुंक्ष्व हि।
तदा निजाशनं भुक्त्वा पश्चात्तस्य ग्रसेद्रुचौ ॥ ६६ ॥

अर्थात्—यदि दाता उस समय प्रार्थना करे कि—हे नाथ! यहीं पर आप भोजन करें तो अपने लाये हुवे भोजन को करके फिर भी यदि कुछ इच्छा हो तो उस दाता की प्रार्थना सुनकर वहां पर भोजन करे।

---

* यह चरण अशुद्ध मालूम देता है इसका अर्थ समझ में नहीं आता यदि "पादं प्रक्षाल्य भिक्षायै" यह पाठ हो तो अच्छा है। हमने अर्थ भी इसी अनुसार किया है।

अथ न प्रार्थयेद्भिक्षां भ्रमेत्स्वोदरपूरणीम् ।
यावदेकगृहं गत्वा याचेत प्रासुकं जलम् ॥ ६७ ॥

अर्थात्—यदि दाता प्रार्थना न करै तो अपने उदर की पूर्ति जबतक न हो तबतक भिक्षा के अर्थ भ्रमण करै और किसी एक के घर पर जाकर प्रासुक जल की याचना करै।

यत्किञ्चित्पतितं पात्रे भुक्त्वा संशोध्य युक्तितः ।
स्वयं प्रमार्ज्य तत्पात्रं गच्छेदाराद्गुरोर्वनम् ॥ ६८ ॥

अर्थात्—उस समय जो कुछ पात्र में भोजन मिलै उसे ठीक २ देखकर भोजन करै और अपने हाथ से पात्र को शुद्ध करके गुरु के समीप वन में जावै।

वन्दित्वा गुरुपादौ स प्रत्याख्यानं तदर्पितम् ।
गृहीत्वा विधिना सर्वमालोचेत प्रयत्नतः ॥ ६९ ॥

अर्थात्—वन में जाकर अपने गुरु के चरण कमलों को नमस्कार करके और उनसे दिया हुआ चार प्रकार के आहार का त्याग रूप प्रत्याख्यान को विधि पूर्वक ग्रहण करके दिन भर के अपने कर्त्तव्य की उनके आगे आलोचना करै।

यस्त्वेकभिक्षो भुञ्जीत गत्वाऽसावनुमुन्यतः ।
तदलाभे विदध्यात्स उपवासमवश्यकम् ॥ ७० ॥

अर्थात्—और जो श्रावक एक वक्त ही भिक्षा करने वाला है उसे चाहिये कि—दाता के घर जाकर मुनियों के भोजन किये बाद भोजन करै यदि आहार का संयोग न मिले तो उस दिन उपवास करै।

स्थेयान्मुनिवनेऽजस्रं शुश्रूषेत गुरूंस्तथा ।
तपश्चरेद्द्विधा वैयावृत्यं कुर्याद्विशेषतः ॥ ७१ ॥

अर्थात्—उस श्रावक को निरन्तर मुनियों के पास वन में रह कर गुरुओं की सेवा करनी चाहिये। तथा बाह्य और अभ्यन्तर

इस तरह दो प्रकार तप धारण करना चाहिये उसमें भी वैयावृत्य विशेष करके करना चाहिये ।

तथा द्वितीयः किन्त्वार्यनामोत्पाटयेत्कचान् ।
रक्तकोपीनसंग्राही धत्ते पिच्छं तपस्विवत् ॥ ७१ ॥

अर्थात्—और द्वितीय रक्त कोपीन (लंगोट) मात्र धारण करने वाले भिक्षुक को चाहिये—अपने केशों को अपने हाथ से उखाड़े और मुनियों के समान पिच्छी धारण करे ।

संशोध्यान्येन निक्षिप्तं पाणिपात्रेऽत्ति युक्तितः ।
इच्छाकारं समाचारं सर्वेऽन्योन्यं प्रकुर्वते ॥ ७३ ॥

अर्थात्—दूसरों से अपने हाथों में रखे हुवे भोजन को ठीक२ देख कर करना चाहिये । तथा इन सम्पूर्ण एकादश प्रतिमा धारी श्रावकों को परस्पर "इच्छामि" ऐसा करना चाहिये ।

कल्पन्ते वीरचर्याहःप्रतिमातापनादयः ।
न श्रावकस्य सिद्धान्तरहस्याध्ययनादिकम् ॥ ७४ ॥

अर्थात्—मधुकरी मांगकर भोजन करना, दिन में प्रतिमा योग धारण करना, ग्रीष्म काल में पर्वतों के शिखर पर, शीत काल मे खुले हुवे स्थान मे तथा वर्षा समय में वृक्षों के नीचे नग्न होकर ग्रीष्मबाधा शीतबाधादिका सहन करना तथा सिद्धान्त शास्त्रो के रहस्य का अध्ययन करना ये सब बात देशव्रती श्रावक के लिये मना है ।

भावार्थ—गृहस्थों को इन विषयों में प्रवृति करने का अधिकार नहीं है ।

॥ इत्येकादशमी प्रतिमा ॥

कदा मे मुनिवृत्तस्य साक्षाल्लाभो भविष्यति ।
निरवद्यस्य चित्तेऽसौ भावयेदिति भावनाम् ॥७५॥
यतो हि यतिधर्मस्याभिलाषी श्रावको मतः ।
तं विना न भवेत्तस्य धर्मश्च फलवान्कचित् ॥ ७६ ॥

॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—अहो ! वह सुदिन कब होगा जिस दिन निर्दोष (पवित्र) मुनिवृत्त की मुझे साक्षात्प्राप्ति होगी इस प्रकार चित्त में निरन्तर ऐसी भावना भाते रहना चाहिये। यही कारण है—जो मुनि-धर्म का इच्छुक होता है उसे ही वास्तव में श्रावक कहते हैं क्योंकि यति धर्म के विना उसे श्रावक धर्म कभी फल दायक नहीं होता।

वन्दना त्रितयं काले प्रतिक्रान्ते द्वयं तथा ।
स्वाध्यायानां चतुष्कं च योगभक्तिद्वयं पुनः ॥७७॥
उत्कृष्टश्रावकेनाऽमूः कर्त्तव्या यत्नतोऽन्वहम् ।
षडष्टौ द्वादश द्वे च क्रमशोऽमूषु भक्तयः ॥ ७८ ॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—तीनों काल में तीन वक्त सामायिक, दो प्रति क्रमण, चार स्वाध्याय तथा दो योग भक्ति ये सब क्रियायें—उत्कृष्ट श्रावक को प्रयत्न पूर्वक प्रति दिन करना चाहिये इनमे क्रम से छह, आठ, बारह और दो भक्ति होती है।

अन्यैरपि दशधा श्राद्धैर्यथाशक्त्या यथाविधि ।
पापशुद्ध्यै विधातव्या भवभ्रमणभीरुभिः ॥ ७९ ॥

अर्थात्—संसार के भ्रमण से भयभीत शेष दशप्रतिमाधारी श्रावकों को भी ये उपर्युक्त क्रियायें शास्त्रानुसार अपनी शक्ति के माफिक पाप की शुद्धि के लिये अर्थात् पाप के नाश करने के अर्थ करनी चाहिये।

इत्येकादशधाऽऽख्यातो नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना ।
अन्त्यस्य च यथासूत्रं साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥ ८० ॥

अर्थात्— इस प्रकार ग्यारह प्रकार नैष्ठिक श्रावक का वर्णन किया अब शास्त्रानुसार अन्तिम श्रावक के साधकपने का वर्णन किया जाता है।

सोऽन्ते सन्न्यासमादाय स्वात्मानं शोधयेद्यदि ।
तदा साधनमापन्नः साधकः श्रावको भवेत् ॥ ८१ ॥

अर्थात्—वही उत्कृष्ट श्रावक मरण समय में सन्यास (सल्लेखना) को ग्रहण करके यदि अपने आत्मा को शुद्ध करे तो उस समय साधनदशा को प्राप्त होता हुआ श्रावक साधक कहा जाता है।

अन्येपि प्रतिमानां ये भेदाः सन्ति जिनागमे।
विबुधैस्तेऽपि विज्ञेया गुर्वादेशेन विस्तरात् ॥ ८२ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—जैनशास्त्रों में प्रतिमाओं के और भी कितने भेद हैं उन्हें गुरुओं की आज्ञा से विस्तार पूर्वक जानने चाहिये।

आसां संज्ञा व्रतं निष्ठा धर्मो वृत्तं च संयमः।
धर्मस्थानं च निश्रेणिश्चारित्रं च बुधैर्मताः ॥ ८३ ॥

अर्थात्—इन्ही प्रतिमाओं के व्रत, वृत, निष्ठा, धर्म, संयम, धर्मस्थान, निश्रेणि, तथा चारित्र इत्यादि भी नाम बुद्धिमान लोग कहते हैं।

त्रसहिंसादिनिर्विण्णोऽप्रत्याख्यानस्य हानितः।
प्रत्याख्यानोदयादस्य स्थावराणां न रक्षणम् ॥ ८४ ॥

अर्थात्—यह श्रावक अप्रत्यानावरणी कषाय का नाश होने से द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों की हिंसा से विरक्त रहता है परन्तु प्रत्याख्यानावरणी कषाय का इसके उदय रहता है इसलिये स्थावर जीवों की रक्षा नहीं हो सकती।

ततोऽमुष्यैकदेशेन संयमत्वान्महाव्रतम्।
न कल्पते गुणस्थानं पञ्चमं नाध ऊर्ध्वगम् ॥ ८५ ॥

अर्थात्—इस श्रावक के एक देश संयम के होने से महाव्रत नहीं कहा जा सकता और न पञ्चम गुण स्थान से नीचे तथा ऊपर इसके गुणस्थान होता है।

रागादीनां क्षयादत्र तारतम्यादथोत्तरम्।
दर्शनाद्येषु धर्मेषु नैर्मल्यं जायते तराम् ॥ ८६ ॥

अर्थात्—इन ग्यारे ही प्रतिमाओं में उत्तरोत्तर अधिक २ रागादिकों का अभाव होने से अत्यन्त निर्मलता होती जाती है।

धार्मिकः प्राणनाशेऽपि व्रतभङ्गं करोति न।
प्राणनाशः क्षणे दुःखं व्रतभङ्गश्चिरं भवे ॥ ८७ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—धर्मात्मा पुरुषों को अपने ग्रहण किये हुवे व्रत का भङ्ग कभी नहीं करना चाहिये चाहे फिर प्राणों का नाश (मरण) ही क्यों न होजाय। क्योंकि—प्राणों का नाश होने से तो उसी समय दुःख होता है परन्तु व्रत भङ्ग होने से चिरकालपर्यन्त संसार में असह्य दुःख उठाना पड़ते हैं।

यदि प्रमादतः क्वापि व्रतच्छेदोऽस्य जायते।
गुरोरालोच्य तत्पापं शोधयेत्तस्य देशनात् ॥ ८८ ॥

अर्थात्—यदि प्रमाद (अनवधानता) से ग्रहण किये हुवे व्रतमें किसी प्रकार का दोष लग जाय तो उसे गुरुओं के सामने आलोचना करके उनके उपदेशानुसार उस पाप की शुद्धि करै।

एष निष्ठापरो भव्यो नियमेन सुरालयम्।
गच्छत्यच्युतपर्यन्तं क्रमशः शिवमन्दिरम् ॥ ८९ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—इस प्रकार निष्ठा (प्रतिमाओं के पालन) में तत्पर यह भव्यात्मा नियम से अच्युत विमानपर्यन्त जाता है। और क्रम से मोक्ष को प्राप्त होता है।

इत्यापवादं विविधं चरित्रं
समभ्य सन्तिष्ठति यः सुमेधाः।
कालादिलब्धौ क्रमतां पुनः स
उत्सर्गव्रतं जिनचन्द्रदिष्टम् ॥ ९० ॥

अर्थात्—इस तरह नाना प्रकार के चारित्र युक्त अपवाद लिङ्ग का पहले ठीक २ अभ्यास करके जो बुद्धिमान स्थिर रहता है वही भव्यात्मा फिर क्रम से कालादिलब्धि की प्राप्ति होने पर जिन भगवान करके उपदेशित उत्सर्गव्रत को धारणकरनेवाला होवै।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना
विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे सामायिकादिप्रतिमान-
वकस्वरूपवर्णनो नामाष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

समितीर्न विना स्यातां देशव्रतमहाव्रते ।
पुराधिपतिदेशाधिपतित्वे वाहिनीरिव ॥ १ ॥

अर्थात्—जबतक सेना नहीं होती है तबतक राजा होने पर भी पुराधीश तथा देशका स्वामी वह नहीं कहला सकता उसी प्रकार जवतक समिती (जिनका लक्षण आगे कहेंगे) न होगी तबतक देशव्रत तथा महाव्रत नहीं हो सकता ।

तस्मादणुव्रती पञ्च समितीः परिपालयेत् ।
अणुव्रतस्य रक्षार्थं वीजस्येव लसेद्वृतीः ॥ २ ॥

अर्थात्—जिस तरह खेत में बोये हुवे बीज की रक्षा के लिये चारों ओर कांटे की बाढ़ लगाई जाती है उसी तरह अणुव्रती श्रावक को चाहिये—अपने धारण किये हुवे अणुव्रत की रक्षा के लिये ईर्या, भाषा, ऐषणा-आदि पांच प्रकार जो समतिये हैं उन्हें अवश्य पालन करे ।

भावार्थ—ये समितियें अणुव्रत के रक्षा की कारण हैं इसलिये पालन करने के योग्य हैं ।

समिति किसे कहते हैं उसी की व्युत्पत्ति बतैाते हैं—

सम्यगयनं लच्छुद्धिं प्रतीति समितिर्मताः ।
ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गनामिकाः ॥ ३ ॥

अर्थात्—शुद्धि के लिये जो अच्छा मार्ग उसे समिती कहते हैं वह समिति—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेप-समिति तथा उत्सर्गसमिति इस तरह पांच प्रकार है ।

मार्तण्डकिरणस्पृष्टे गच्छतो लोकवाहिते ।
मार्गे दृष्ट्वाऽङ्गिसङ्घातमीर्यादिसमितिर्मता ॥ ४ ॥

अर्थात्—जिसमें सूर्य का प्रकाश चारो ओर हो रहा है तथा

जिसमें लोगों का गमनागमन हो रहा है ऐसे मार्ग में जीवों की रक्षा के अर्थ देखकर चलने वाले धर्मात्मा पुरुष के ईर्या समिति होती है।

परबाधाकरं वाक्यं न ब्रूते धर्मदूषितम् ।
यस्तस्य समितिर्भाषा जायते वदतो हितम् ॥ ५ ॥

अर्थात्—जिन बचनों के बोलने से दूसरों जीवों को दुःख होता है तथा जो बचन धर्म से विरुद्ध है अर्थात् जिसके बोलने से धर्म में दोष लगता है ऐसे बचनों को न बोलकर और जो दूसरों के हित करने वाले तथा धर्म से अविरोधी वचन बोलते हैं उन महात्मा पुरुषों के भाषा समिति होती है।

षट्चत्वारिंशतादोषैरन्तरायैर्मलैश्च्युतम् ।
आहारं गृह्णतः साधोरेषणा समितिर्भवेत् ॥ ६ ॥

अर्थात्—छ्यालीस दोष और अन्तराय रहित पवित्र (शुद्ध) आहार को लेने वाले साधु पुरुषों के एषणा समिति होती है।

पुस्तकाद्युपधिं वीक्ष्य प्रतिलेख्य च गृह्णतः ।
मुञ्चतो दाननिक्षेपः समतिः स्याद्यतेरियम् ॥ ७ ॥

अर्थात्—पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छि आदि उपकरण देख कर तथा शोध कर ग्रहण करने वाले और रखने वाले मुनि लोगों के आदानानिक्षेपसमिति होती है।

विण्मूत्रश्लेष्माखिल्यादिमलमुज्झति यः शुचौ ।
दृष्ट्वा विशोध्य तस्य स्यादुत्सर्गसमितिर्हिता ॥ ८ ॥

अर्थात—जो धर्मात्मा पुरुष—विष्टा, मूत्र, तथा कफ आदि अपवित्र वस्तुओं को जीव रहित पृथ्वी में देखकर शोधकर छोड़ते हैं उनके उत्सर्गसमिति होती है।

कृष्यादिजीवनोपायैर्हिंसादेः पापमुल्बणम् ।
गृहिणा क्षिप्यते स्वामिन्कथमवदतर्णा ॥ ९ ॥

अर्थात्—गौतमगणधर महावीर स्वामी से पू

कृषिकर्म आदि जीविका के उपायों से जो गृहस्थ लोगों को हिंसा-आदि का पापबन्ध होता है उसे वे लोग कैसे नाश करें ? इसे आप कहो।

व्यापारैर्जायते हिंसा यद्यप्यस्य तथाप्यहो।
हिंसादिकल्पनाभावः पक्षत्वमिदमीरितम् ॥ १० ॥

अर्थात्—यद्यपि गृहस्थ लोगों के व्यापारादि से हिंसा होती है परन्तु उसमें हिंसादि की कल्पना का अभाव है।

भावार्थ—गृहस्थ लोग हिंसा की कल्पना करके व्यापारादि नहीं करते हैं उनका अभिप्राय जीवों की हिंसा करने का नहीं है। इसे पक्ष कहते हैं।

हिंसादिसम्भवं पापं प्रायश्चित्तेन शोधयन्।
तपोविना न पापस्य मुक्तिश्चेति विनिश्चयन् ॥ ११ ॥
यावत्त्यजति चाऽऽवासं धनं धर्म्यं सुताय वै।
समर्प्य तावदस्याऽत्र चर्यात्वमिदमुच्यते ॥ १२ ॥
युग्मम्।

अर्थात्—हिंसा, झूठ, चौरी, कुशील आदि से होनेवाले पाप को प्रायश्चित्तादि से शुद्ध करता हुआ तथा तप धारण किये विना पापकर्म का कभी नाश नहीं होगा ऐसा हृदय में निश्चय करता हुआ जो भव्यात्मा पुरुष—धन, स्त्री जननी, तथा चैत्यालयादिक धर्म्यवस्तुओं को अपने पुत्र के आधीन करके जबतक गृह का त्याग करता है तबतक इसको चर्या होती है।

भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमात्मस्थमानसः।
यस्तस्याङ्गपरित्यागः साधकत्वं समाधिना ॥ १३ ॥

अर्थात्—जो संसार, शरीर, भोगादि से सर्वथा विरक्त चित्त है, जिसका चित्त परमात्मा में लगरहा है, उस भव्य पुरुष के समाधि (सल्लेखना) पूर्वक जो शरीर का छोड़ना है उसे साधक कहते हैं।

एभिः पक्षादिभिर्योगैः क्षिप्यते श्रावकैरिदम्।
कषायवासिताम्भोभिर्वस्त्रस्येव मलं लघु ॥ १४ ॥

अर्थात्—जिस तरह कषाय वासित जल से वस्त्र का मैल बहुत शीघ्र दूर होजाता है उसी तरह इन पक्ष, चर्या तथा साधनादि से, हिंसादि से उत्पन्न होने वाले पापकर्म का गृहस्थ लोग नाश करते हैं।

आश्रमाः सन्ति चत्वारो जैनानां परमागमे।
ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चसंज्ञया ॥ १५ ॥

अर्थात्—जैन शास्त्रों में जैन धर्मि लोगों के ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक इस तरह चार आश्रम हैं।

अदीक्षोपनयौ गूढावलम्बौ नैष्ठिको भिधाः।
सप्तमाङ्गे भिदाः सन्ति पञ्चैते ब्रह्मचारिणाम् ॥१६॥

अर्थात्—उपासनाध्ययन नाम सप्तम अङ्ग में ब्रह्मचारियों के अदीक्षा ब्रह्मचारी, उपनयब्रह्मचारी, गूढब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस तरह पांच विकल्प (भेद) हैं।

वेषं विना समभ्यस्तसिद्धान्ता गृहधार्मिणः।
ये ते जिनागमे प्रोक्ता अदीक्षा ब्रह्मचरिणः ॥१७॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी का वेष धारण किये विना जिन्हों ने सिद्धान्त का अध्ययन किया है ऐसे जो गृहस्थ लोग हैं उन्हे जिनागम मे अदीक्षित ब्रह्मचारी कहते हैं।

समभ्यस्तागमा नित्यं गणभृत्सूत्रधारिणः।
गृहधर्मरतास्ते चोपनयब्रह्मचारिणः ॥ १८ ॥

अर्थात्—जिन्हो ने शास्त्र का अभ्यास किया है, जो गणधर सूत्र को धारण करने वाले हैं और गृहस्थ धर्म में तत्पर हैं उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं।

कुमारश्रमणः सन्तः स्वीकृतागमविस्तराः।
बान्धवैर्धरणीनाथैर्दुःसहैर्वा परीषहैः ॥ १९ ॥
आत्मनैवाऽथवा त्यक्तपरमेश्वररूपकाः।
गृहवासरता ये स्युस्ते गूढब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—जिन्हों ने कुमार काल में ही मुनि चिन्ह धारण करके सिद्धान्त का अध्ययन किया है वे फिर कभी अपने बन्धु लोगों के तथा राजादि के आग्रह से, दुःसह परीषहोपसर्गादि के न सहन होने से, अथवा अपने आपही उस धारण किये हुवे जिन रूप (मुनि चिन्ह) को छोड़ कर गृह कार्य में लगते हैं उन्हें जिनागम में गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं।

पूर्वं क्षुल्लकरूपेण समभ्यस्याऽऽगमं पुनः ।
गृहीतगृहवासास्तेऽवलम्बब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थात्—जो पहले क्षुल्लक रूप धारण करके और जैनागम का अध्ययन करके फिर गृहवास को स्वीकार करते हैं वे अवलम्ब ब्रह्मचारी समझने चाहिये।

शिखायज्ञोपवीताङ्कास्त्यक्तारंभपरिग्रहाः ।
भिक्षां चरन्ति देवार्चां कुर्वते कक्षपट्टकम् ॥ २२ ॥
धवलारक्तयोरेकतरैकवस्त्रखण्डकम् ।
धरन्ति ये च ते प्रोक्ता नैष्ठिकब्रह्मचारिणः ॥ २३ ॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—जो शिखा (चोटी), यज्ञोपवीत से युक्त हैं, जिन्होंने आरंभ तथा परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो भिक्षा करके आहार करते हैं जो जिनदेव की पूजन करते हैं तथा कोपीन और श्वेत वस्त्र तथा लाल वस्त्र में से किसी एक तरह के वस्त्रखंड को धारण करते हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं।

नैष्ठिकेन विना चाऽन्ये चत्वारो ब्रह्मचारिणः ।
शास्त्राभ्यासं विधायाऽन्ते कुर्वते दारसंग्रहम् ॥ २४ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—नैष्ठिक ब्रह्मचारी को छोड़ कर बाकी के अदीक्षा ब्रह्मचारी, उपनय ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी, तथा गूढब्रह्मचारी ये चार ब्रह्मचारी शास्त्राभ्यास को समाप्त करके अन्त में स्त्री का सङ्ग करते हैं।

भावार्थ—नैष्ठिक ब्रह्मचारी को छोड़ कर शेष चार ब्रह्मचारी विवाहादि कर सकते हैं।

प्रथमाऽऽश्रमिणः प्रोक्ता वक्ष्यन्ते त्वधुना मया।
द्वितीयाऽऽश्रमसंसक्ता गृहिणो धर्मवासिताः ॥२५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं-प्रथम आश्रम के धारण करनेवालों का मैं वर्णन कर चुका अब इस समय धर्मयुक्त द्वितीय गृहस्थाश्रम के धारण करने वालों का वर्णन करता हूं।

इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यऽन्वहं ते गृहिणो मताः ॥२६॥

अर्थात्—इज्या (जिन पूजन) वार्त्ता, तप, दान, स्वाध्याय तथा संयम इन छह कर्मों को जो प्रतिदिन करते हैं वे गृहस्थ कहे जाते हैं।

जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम्।
यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥२७॥

अर्थात्—पवित्र शरीर होकर गृहस्थ लोग जो अपने गृह से लाये हुवे जल, चन्दन, अक्षत, पुष्पादि द्रव्यों से जिन भगवान की पूजन करते हैं वह नित्य पूजा कही जाती है।

स्थापनं जिनबिम्बानां तद्गृहस्य विधापनम्।
तस्मै ग्रामगृहादीनां शासनस्य यदर्पणम् ॥ २८ ॥
देवार्चनं गृहे स्वस्य त्रिसन्ध्यं देववन्दनम्।
मुनिपादार्चनं दाने सोऽपि नित्यार्चना मता ॥ २९ ॥

अर्थात्—जिनविम्बका स्थापन (प्रतिष्ठा) करना, जिनालय का वनवाना, जिन शासन की वृद्धि के लिये जिन मन्दिर में ग्राम तथा गृहादि का देना, अपने गृह में जिन भगवान की पूजन करना, तीनों काल देववन्दना (सामायिक) करना तथा दान देने के समय मुनियों के चरणों की पूजनादि करना ये सव नित्य पूजन के ही भेद हैं।

पूजा मुकुटबद्धैर्या क्रियते सा चतुर्मुखः।
चक्रिभिः क्रियमाणा या कल्पवृक्ष इतीरिता ॥ ३० ॥

अर्थात्—मण्डलेश्वर. राजा, महाराजा जो पूजन करते हैं उसे चतुर्मुख पूजन कहते हैं और जो पूजन छह खंड वसुन्धरा के अधिपति चक्रवर्त्ती करते हैं उस पूजन का नाम "कल्प वृक्ष पूजन" है।

नन्दीश्वरमहापर्वपूजैषाऽष्टान्हिका .भिधा ।
इन्द्राद्यैः क्रियते पूजा सेन्द्रध्वज उदाहृता ॥ ३१ ॥

अर्थात्—जो नन्दीश्वरमहापर्व में पूजन की जाती है उसे "अष्टाह्निक" पूजन कहते हैं और इन्द्रादि देवों से जो पूजन की जाती है उसे "इन्द्रध्वज" पूजन कहते हैं।

चतुर्मुखादयः पूजा याश्चप्रोक्ता निमित्तजाः ।
तद्भेदा विस्तराज्ज्ञेया वहवोऽर्चादिकल्पतः ॥ ३२ ॥

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं—चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, अष्टाह्निक तथा इन्द्रध्वज ये जो नैमित्तिक पूजन विधानके चार भेद कहे हैं इनके और भी अनेक भेद हैं उन्हें विस्तारपूर्वक पूजाकल्प (पूजन-सम्बन्धि शास्त्रों) से जानना चाहिये। विस्तार के भय से यहां नाम मात्र सूचन किया गया है।

पूज्यः पूजाफलं तस्याः पूजकश्च विशेषतः ।
अधिकाराः समादिष्टाः पूजाकल्पे मुनीश्वरैः ॥ ३३ ॥

भावार्थ—ग्रन्थकार का कहना है—पूज्य (पूजन योग्य) पूजा फल, तथा पूजक (पूजन करने वाला) इनके विशेष से पूजासम्बन्धि शास्त्रों में प्राचीन मुनियों ने अधिकार वर्णन किये हैं।

पहले ही पूज्य कौन है ? इस प्रश्न के समाधान करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं—

पूज्योऽर्हन्केवलज्ञानदृग्वीर्यसुखधारकः ।
निःस्वेदत्वादिनैर्मल्यमुख्यकैः संयुतो गुणैः ॥ ३४ ॥

अर्थात्—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख रूप अनन्तचतुष्टय से विराजमान तथा पसेव रहित आदि लेकर जो प्रधान २ निर्मल गुण हैं उनसे युक्त श्री अर्हन्त भगवान पूजनीय (पूज्य) हैं।

गर्भजन्मतपोज्ञानमोक्षकल्याणराजितः ।
भाषाभमण्डलाद्यैश्च प्रातिहार्यैर्विभूषितः ॥ ३५ ॥

अर्थात्—यह भी श्लोक उन्हीं अर्हन्त भगवान के स्वरूप के वर्णन मे हैं—गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, तप कल्याण, ज्ञानकल्याण तथा मोक्षकल्याण इन पांच कल्याणों से विराजमान तथा दिव्यध्वनि भामण्डल, अशोकवृक्ष, देवकृतपुष्पवृष्टि, चामर, सिंहासनादि, आठ प्रकार प्रातिहार्यों स शोभित श्री अर्हन्त भगवान पूज्य हैं।

यहां पर कदाचित कोई कहे—यहां तो साक्षाज्जिन भगवान के पूजने का उपदेश है फिर तुम लोग जो मूर्त्तिये बनाकर पूजते हो वह तो तुम्हारेही शास्त्रों से विरुद्ध है? लूंकामत (ढूढ़ियों) की इस शंका का समाधान करने के लिये ग्रन्थकार नीचे श्लोक लिखते है—

तद्बिम्बं लक्षणैर्युक्तं शिल्पिशास्त्रनिवेदितैः ।
साङ्गोपाङ्गं यथायुक्त्या पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥३६॥

अर्थात्—प्रतिमा बनाने के जो २ लक्षण शिल्पिशास्त्रों में वर्णन किये हैं उनसे युक्त, अङ्ग उपाङ्ग सहित तथा शास्त्रानुसार प्रतिष्ठा किये हुवे जो जिनविम्ब (जिन प्रतिमा) हैं वे भी साक्षाज्जिन देव के माफिक पूजने योग्य हैं। ऐसी प्राचीन मुनियों की आज्ञा है।

जीर्णं चाऽतिशयोपेतं तद्व्यङ्गमपि पूज्यते ।
शिरोहीनं न पूज्यं स्यात्प्रक्षेप्यं तन्नदादिषु ॥३७॥

अर्थात्—यदि कोई जिनबिम्ब खंडित अर्थात् किसी अङ्ग से रहित हो जाय परन्तु यदि वह अत्यन्त जीर्ण (प्राचीन) है अथवा किसी प्रकार के अतिशय से युक्त है तो पूजनीय है। परन्तु जो प्रतिमा मस्तक रहित है और वह प्राचीन तथा अतिशय युक्त भी है तो पूजनीय नहीं है। ऐसी प्रतिमाओं को मन्दिरादि में न रखकर नदी, समुद्रादि जहां कहीं वहुत गहरा जल हो वहां निक्षेपित (प्रवाहित) कर देना चाहिये।

अचेतनाऽर्चिता जैनी किं पुण्यं प्रतिमाऽङ्गिनाम् ।
करोत्येवं वेदत्काश्चिद्यस्तामित्थं प्रबोधयेत् ॥३८॥

अर्थात्—यदि यहां पर कोई यह कहे कि—अरे ! ये प्रतिमा तो अचेतन (जड़) हैं क्या इनके पूजने से जीवों को पुण्य का बन्ध होगा ? तो उन लोगों को यों समझाना चाहिये ।

शान्तां स्थिरासनां वीक्ष्य प्रतिमां मोक्षदेशिनीम् ।
जन्तोर्यः प्रशमो भावः स च पुण्याय जायते ॥३९॥

अर्थात्—शान्त (वीतरागस्वरूप), निश्चल विराजमान, तथा मोक्ष के स्वरूप को बताने वाली जिन प्रतिमा को देखकर जीवों का जो शान्तपरिणाम होता है । वही परिणाम तो पुण्य सम्पादन का कारण है ।

सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिध्यन्ति ये केचिन्नरपुङ्गवाः ।
ते सर्वेप्यनया स्थित्येति भावः पुण्यकृद्भवेत् ॥४०॥

अर्थात्—पूर्वकाल में जितने भव्यात्मा सिद्ध हुवे हैं आगामी सिद्ध होंगे तथा वर्तमान में होने वाले हैं वे सब इसी स्थिती से हुवे हैं होंगे तथा होने वाले हैं ऐसा जो आत्मा का परिणाम होता है वही पुण्य का उत्पादक है ।

एतद्वद्ग्रन्थमुज्झित्वा कदा शान्तः स्थिरासनः ।
भविष्यामीह मोक्षार्हः संकल्पोऽयं सुपुण्यकृत् ॥४१॥

अर्थात्—इस अपार संसार में इन प्रतिमाओं के समान परिग्रह छोड़कर किस समय शान्त स्वभाव वाला, स्थिरासन तथा मोक्ष हो जाने योग्य मैं होऊंगा ? यह जो आत्मा में संकल्प (भावना) होना है वही पुण्य के प्राप्ति का कारण है ।

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्याऽकृत्रिमा कृत्रिमा सदा ।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥४२॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—इन उपर्युक्त कारणों से प्रतिमा का पूजना पुण्य का हेतु है इसलिये श्रावक लोगों को—भक्ति पूर्वक अकृत्रिम (अनादिकाल से चली आई) तथा कृत्रिम (शास्त्रानुसार शिल्पिकारों से निर्माण कराकर प्रतिष्ठा की हुई) प्रतिमायें निरन्तर पूजनी चाहिये । क्योंकि इन प्रतिमाओं में साक्षाज्जिन भगवान के

गुणों का संकल्प (निक्षेप) होता है इसलिये जिसने जिन प्रतिमाओं की पूजन की है समझना चाहिये कि—उसने साक्षाज्जिन भगवान की ही पूजन की है।

सम्यक्त्वादिगुणः सिद्धः सूरिराचारपञ्चकः।
पाठको द्वादशाङ्गज्ञः साधुश्चाऽर्च्यः स्वसाधकः ॥४३॥

अर्थात्—सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे युक्त सिद्ध भगवान, दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पञ्चप्रकार के आचार से युक्त सूरि (आचार्य), द्वादशाङ्गशास्त्र को जानने वाले उपाध्याय तथा अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले साधु (मुनि) ये सब पूजने योग्य हैं।

भावार्थ—अर्हन्त भगवान को आदि लेकर सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांचों ही परमेष्ठी गृहस्थों को पूजने चाहिये,

सर्वज्ञभाषितं यद्ग्रथितं गणधरादिभिः।
स्थापितं पुस्तकादौ तच्छ्रुतं पूज्यं च भक्तितः ॥४४॥

अर्थात्—तीनों लोकके जानने वाले सर्वज्ञ भगवान से प्रगट हुआ तथा गणधरादि से गूंथा हुआ और वही इस समय पुस्तकादि में स्थापित किया हुआ जो श्रुत है उसे भी भक्ति पूर्वक निरन्तर गृहस्थों को पूजना चाहिये।

यथैते धर्मिणः पूज्यास्तथा धर्मोपि तन्मतः।
स च दृग्बोधचारित्रलक्षणश्च क्षमादिकः ॥४५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है-जैसे ये उपर्युक्त अर्हन्त, सिद्ध, आचार्यादि धर्मी पूजनीय हैं उसी तरह धर्म भी पूजने योग्य है।

भावार्थ—इन अर्हन्तादि में धर्म विद्यमान है इसीलिये ये पूजनीय समझे जाते हैं तो धर्म भी स्वतः स्वभाव पूजनीय है ही। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप है। तथा उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तम तप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन, तथा उत्तमब्रह्मचर्य इन दश लक्षण स्वरूप भी है।

॥ इति पूज्यः ॥

प्रतीकूलान्मुखीकृत्य यथास्वं दानमानतः ।
अनुकूलान्स्वसात्कृत्य यजतां सिद्धये जिनम् ॥४६॥

अर्थात्— ग्रन्थकार कहते हैं—जिन भगवान की पूजन करने में किसी तरह का विघ्न न आवे इसलिये अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि के लिये—पूजक पुरुषों को चाहिये—जो अपने प्रतिकूल (विधर्मी) लोग विघ्न करने वाले हैं उनका यथा योग्य दान सन्मानादि से सत्कार करके और जो अनुकूल हैं उन्हें अपने आधीन करके जिन भगवान की पूजन करै ।

स्त्रीसङ्गाऽऽहारनीहाराऽऽरम्भादिषु रतो गृही ।
चर्मादिस्पर्शतो देवान्स्नात्वैवाऽर्चेत्सुधौतभृत् ॥४७॥

अर्थात्—स्त्रियों के साथ सम्भोग, आहार, नीहार (शौच), आरम्भादि में लगे हुवे गृहस्थों को तथा चर्म आदि अपवित्र वस्तुओं का स्पर्श करने पर स्नान करके और पवित्र वस्त्र को पहर कर जिनदेव की पूजन करनी चाहिये ।

स्नानेन प्राणिघातः स्याद्य एवं वक्ति पूजने ।
स स्वेदादिमलोच्छित्यै स्नायन्मूढो न लज्जते ॥४८॥

अर्थात्— यदि कोई यह कहे कि-स्नान के करने से तो जीवों की हिंसा होती है वह कैसे ठीक कहा जा सकेगा ? ऐसे लोगों के लिये ग्रन्थकार कहते हैं-पसीना आदि मल के दूर करने के लिये स्नान करत हुवे भी तुम्हें लज्जा नहीं आती ! जो स्नान करने को सदोष कह रहे हो ।

अनेकजन्मजं पापं यद्धन्ति जिनपूजनम् ।
तदध्यक्षं न किं सिंहो योगजं स शशं न किम् ॥४९॥

अर्थात्—जो जिन भगवान की पूजन जन्म २ के पापों को नाश करने वाली कही जाती है वही पूजन अपने ही निमित्त से होने वाले थोडे से पापों को नाश नहीं करेगी क्या ? किन्तु अवश्य करेगी । यह बात कभी संभव नही मानी जाती कि जो सिंह

(केशरी) बडे बडे गजराजों को क्षणमात्र में विध्वंस कर डालता है वही केशरी शशक (खरगोश) जो बहुत अल्प और भीरु जन्तु है उसे न हनेगा ? किन्तु अवश्य हनेगा।

मत्वेति चिकुरान्मृष्ट्वा दन्तानपि ग्रहव्रती।
देशे निर्जन्तुके शुद्धे प्रमृष्टे प्रागुदङ्मुखः ॥५०॥
गालितैर्निर्मलैर्नीरैः सन्मन्त्रेण पवित्रितैः।
प्रत्यहं जिनपूजार्थं स्नानं कुर्याद्यथाविधिः ॥५१॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—जिन पूजादि में स्नान करने को निर्बाध समझ कर गृहस्थों को चाहिये—अपने केश तथा दांतों को धोकर पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके जीवरहित, पवित्र तथा मार्जन (झाड़े) हुवे किसी स्थान में—छाने हुवे तथा शास्त्रोक्त मन्त्रों से पवित्र किये हुवे निर्मल जल से प्रतिदिन जिन पूजा के लिये स्नान करै।

सरितां सरसां वारि यदगाधं भवेत्क्वचित्।
सुवातातापसंस्पृष्टं स्नानार्हं तदपि स्मृतम् ॥५२॥

अर्थात्—यदि कहीं पर नदी तथा सरोवर (तालाब) आदि का बहुत गहरा जल हो और वह वायु, आताप (सूर्य की किरणादि) में स्पर्श किया हुआ हो तो स्नान करने के योग्य है।

नभस्वता हतं ग्रावघटीयन्त्रादिताडितम्।
तप्तं सूर्यांशुभिर्वाप्यां मुनयः प्रासुकं विदुः ॥५३॥

अर्थात्—वापिका (बावड़ी-बावली) का जल यदि वायु से हत हो, पत्थर, घटीयन्त्रादि से ताड़ित हो तथा सूर्य की किरणों से तप्त हुआ हो तो उसे मुनि लोग प्रासुक कहते हैं।

यद्यप्यस्ति जलं प्रासु प्रोक्तलक्षणमागमे।
तथाप्यतिप्रसङ्गाय स्नायात्तेनाऽत्र नो बुधः ॥५४॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—यद्यपि जल के प्रासुक होने का

जो लक्षण कहा है उसी अनुसार वायु, घटीयन्त्र आदि से हत तथा सूर्य की किरणादि से स्पर्श किया हुवा जल प्रासुक है परन्तु अति प्रसंग (दुर्व्यवस्था) न हो जाय इसलिये इस समय वैसे जल से स्नान नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—लोक में देखा देखी काम के करने वाले अधिक होते है। यह बात ग्रहण योग्य है अथवा त्यागने योग्य है ऐसा ठीक २ विचार करने वाले वहुत थोड़े हैं। उन अल्प बुद्धि पुरुषों को किसी तरह का भ्रम न हो इसीवास्ते यह प्रासुक जल के सम्वन्ध में विचार है। क्योंकि आज किसी ने किसी बुद्धिमान पुरुष को अनछना जल काम मे लाते हुवे देखा उसीवक्त उसने समझ लिया कि अनछना जल काम में लाने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसी श्रद्धान को दृढ़ समझ कर हेयोपादेय के विचार रहित उसे पीने आदि के भी काम में लाने लग जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी अतिप्रसंग के दूर करने के लिये ग्रन्थकार का कहना वहुत ठीक है। इससे कोई यह न समझें कि-ग्रन्थकार प्राचीन शास्त्रों को वाधा देते हैं नहीं नहीं उनका यह आशय कभी नहीं हैं। किन्तु मूर्ख लोगों के द्वारा कोई धर्म पर आक्षेप न करे इसलिये उनका कहना सर्वथा उपादेय है।

इत्थं स्नात्वाऽच्छवस्त्रे द्वे परिधाय च मन्त्रवित्।
सकलीकरणाम्भोभिरनुस्नायाऽर्चयेत्सदा ॥५८॥

अर्थात्—मंत्र जानने वाला वह भव्य पुरुष—इस प्रकार स्नान करके और स्वच्छ उत्तरीय तथा अन्तरीय वस्त्र पहर कर इसके बाद फिर सकलीकरण के जल से स्नान करे इसी तरह उसे प्रति दिन करना चाहिये।

जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत्।
पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात् ॥५६॥

अर्थात—पूजन के समय जिन भगवान का आह्वानन, संस्थापन तथा सन्निधीकरण करके उन्हें पूजना चाहिये। पूजन के बाद संहिता शास्त्रों में कहे हुवे मन्त्रों के द्वारा गुरुक्रम से विसर्जन करना चाहिये।

स्वगृहे च जिनागारे भक्त्या युक्त्या जलादिभिः ।
पवित्रैरष्टभिर्द्रव्यैः श्रावकः पूजयेज्जिनान् ॥५७॥

अर्थात्—भव्य श्रावक को—अपने घर के चैत्यालय में अथवा जिन मन्दिर में युक्ति पूर्वक पवित्र जल चन्दनादि आठ द्रव्य से भक्ति पूर्वक जिन भगवान की पूजन करना चाहिये ।

॥ अथ पूजाष्टकम् ॥

भवसंतापभिद्वाक्यान्द्रव्यभावमलच्युतान् ।
जिनानर्चामि सद्वार्भिः शीतलैरतिनिर्मलैः ॥५८॥

अर्थात्—जिन के वचन संसार के संताप को नाश करने वाले हैं और जो बाह्य तथा अन्तरङ्ग मल से रहित हैं ऐसे संसार समुद्र से पार करने वाले जिन भगवान की पवित्र, शीतल तथा अत्यन्त निर्मल जल से पूजन करता हूँ ।

जलम् ।

स्वभावसौरभाङ्गानामिन्द्राद्यैर्विहितार्चने ।
अर्हतां पूजयाम्यङ्घ्री चन्दनैश्चन्द्रमिश्रितैः ॥५९॥

अर्थात्—जिनका कमनीय शरीर अपने आप सुगन्धित है ऐसे अर्हन्त भगवान के—इन्द्रादि देवताओं से पूजनीय चरण कमलों की कर्पूर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य से पूजन करता हूं ।

चन्दनम् ।

खण्डितारातिचक्राणां शुद्धान्तःकरणात्मनाम् ।
महाम्यखण्डितैः शुद्धैर्विश्वेशां तण्डुलैः पदे ॥६०॥

अर्थात्—जिन्हों ने अष्टकर्म रूप दुर्जय शत्रुसमूह नाश कर दिया है और जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध (पवित्र) है ऐसे सर्वज्ञ जिन भगवान के चरण कमलों को अखंड और पवित्र अक्षतों से पूजता हूँ ।

अक्षतम् ।

हतपुष्पधनुर्वाणसर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
पुष्पैः सुगन्धिभिर्भक्त्या पदयुग्मं समर्चये ॥६१॥

अर्थात्—जिन्हों ने काम बाण का सर्वथा नाश कर दिया है ऐसे पवित्रात्मा सर्वज्ञ भगवान के चरण कमल की कमल केवडा, गुलाब, चमेली, मालती, जाती आदि अनेक तरह के मनोहर तथा सुगन्धित फूलों से पूजन करता हूँ।

पुष्पम् ।

केवलज्ञानपूजायां पूजितं यदनेकधा ।
चारुभिश्चरुभिर्जैनपादपीठं विभूषये ॥६२॥

अर्थात्—केवलज्ञान की पूजन समय में जिनके चरण कमल अनेक प्रकार पुजे गये हैं उन्हीं जिनदेव के चरणों को मनोहर व्यञ्जनादि नैवेद्यों से पूजता हूँ।

नैवेद्यम् ।

सुत्रामशेखरालीढरत्नरश्मिभिरञ्चितम् ।
प्रदीपैर्दीपिताशास्यैर्द्योतयेऽर्हत्पदद्वयम् ॥६३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—इन्द्रादि देवताओं के मुकुटों में लगे हुवे रत्नों की किरणों से विराजमान जिन भगवान के दोनों चरण सरोजों को, भक्ति पूर्वक—जिनके प्रकाश से दशों दिशायें देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे सुन्दर दीपकों से पूजता हूं।

दीपम् ।

निर्दग्धकर्मसन्तानकाननानां जिनेशिनाम् ।
कृष्णागुर्वादिजं धूपं पुर उत्क्षेपयाम्यहम् ॥६४॥

अर्थात्—जिन्होंने कर्म समूह रूप गहन बन क्षणमात्र में जला दिया है ऐसे जिनराजके सन्मुख अष्टकर्मरूप बन के भस्म करने के अर्थ कृष्णागुरू आदि सुगन्धित वस्तुओं से बनी हुई धूप क्षेपण करता हूं।

धूपम् ।

पूजन करने से जन्म जन्म में उपार्जन किये हुवे पापकर्म क्षण-मात्र में नाश हो जाते हैं ” तो क्या उसी पूजनसे—पूजनसम्बन्धि आचार से उत्पन्न जीवों का अत्यल्प सावद्य कर्म नाश नहीं होगा ? किन्तु अवश्य होगा।

इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा और भी खुलासा करते हैं—

प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा ॥७४॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—जिस प्रचण्डकाल की पवन से पर्वत के समान बड़े २ गजराज भी क्षणमात्र मे तीन तेरह होकर उड़ जाते हैं उसी प्रलयकाल की वायु मे बहुत थोड़ी शक्ति के धारक विचारे दंशमशकादि छोटे जन्तु क्या बचे रहेंगे ?

भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमाङ्गिनाम्।
जीवनाय मरीचादिसदौषधाविमिश्रितम् ॥७५॥

अर्थात्—यदि केवल विष खाया जाय तो नियम से वह प्राणों का नाश करैगा परन्तु वही विष यदि मरीचादि उत्तम २ औषधियों के साथ खाया जाय तो जीवों के जीवन के लिये होता है।

तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारम्भः पापकृद्भवेत्।
धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा ॥७६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—जिस तरह हम ऊपर एक पदार्थ को हानिकारक वता आये हैं परन्तु उपायान्तर से उपयोग में लाई हुई वही वस्तु गुणकारक होजाती है। उसी तरह आरंभ का होना वास्तव में अच्छा नहीं है परन्तु वह आरंभ यदि कुटुम्ब के लिये किया हुआ हो तो। और धर्म के अर्थ किया हुआ तो वही आरंभ हिंसा का केवल लवमात्र माना जाता है।

जिनमर्चयतः पुण्यराशौ सावद्यलेशकः।
न दोषाय कणः शीतशिवाम्भोधौ विषस्य वा ॥७७॥

अर्थात्—जिन भगवान की पूजन करने वाले भव्य जनों के पुण्य वहुत होता है उस पुण्य समूह में सावद्य (आरंभ) का लव

दोष (पाप) का कारण नहीं हो सकता। जिस तरह विष की एक छोटी सी कणिका समुद्र के जल को नहीं बिगाड़ सकती।

इसी विषय में भगवान समन्तभद्रस्वामी ने स्वयम्भूस्तोत्र में यों लिखा है—

> पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य
> सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
> दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य
> न दूषिका शीत-शीवाम्बुराशौ ॥७८॥

अर्थात्—जिनदेव की पूजन करने वाले भव्य पुरुषों की बहुत पुण्य राशि (समूह) में थोड़ा सा किया हुआ आरंभ पाप के उत्पादन करने में समर्थ नहि है। जैसे छोटी सी विषकी कणिका समुद्र के जल को विकार रूप करने में समर्थ नहिं होती।

> गण्डं पाटयतो बन्धोः पीडनं चोपकारकृत्।
> जिनधर्मोद्यतस्यैव सावद्यं पुण्यकारणम् ॥७९॥

अर्थात्—जिसतरह फोड़ा आदि के चीरने वाले बन्धु लोगों का दुःख देना भी लाभ दायक होता है उसीतरह जिन धर्म की प्रभावना करने मे प्रयत्न तत्पर भव्य पुरुषों के आरंभ भी पुण्योत्पत्ति का कारण है।

भावार्थ—गांठ आदि के फोड़ने से यद्यपि दुःख होता है परन्तु वह हानि के बदले उपकार का करने वाला है उसीप्रकार आरंभ कर्म अच्छा न होने पर भी जिन मन्दिरादि के बनवाने मे जो आरंभ होता है वह शुभ कर्म का कारण है।

> रमणीयस्ततः कार्यः प्रासादो हि जिनेशिनाम्।
> हेमपाषाणमृत्काष्ठमयैः शक्त्याऽऽत्मनो भुवि ॥८०॥

अर्थात्—"जिन धर्म की वृद्धि के अर्थ किया हुआ आरंभ भी अच्छे कर्मबन्ध का हेतु है" ऐसा समझकर भव्य पुरुषों को—अपनी सामर्थ्य के अनुसार संसार में—सुवर्ण पाषाण, मृतिका तथा काष्ठादि निर्मित मनोहर जिन मन्दिर बनवाने चाहिये।

प्रासादे जिनबिम्बं च बिम्बमानं यवोन्नतिम् ।
यः कारयति गास्तेषां पुण्यं वक्तुमलं न हि ॥८१॥

अर्थात्—जो भव्यपुरुष—जिन मन्दिर, तथा जव बराबर भी जिनविम्ब बनवाते हैं ग्रन्थकार कहते हैं—उन पुण्यशाली पुरुषों के पुण्यका वर्णन करने में हमारी वाणी किसी प्रकार भी समर्थ नहिं है।

प्रासादे कारिते जैने किं किं पुण्यं कृतं न तैः ।
दानं पूजा तपः शीलं यात्रा तीर्थस्य च स्थितिः ॥८२॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—जिन पुरुषश्रेष्ठों ने—जिन भवन बनवाया है संसार में फिर ऐसा कौन पुण्य कर्म बाकी है जिसे उन्होंने न किया। उन लोगों ने—दान, पूजन, तप, शील, यात्रा तथा तीर्थों की बहुत काल पर्यन्त स्थिति आदि सभी पुण्य कर्म किये हैं।

तस्मिन्सति जनैः कैश्चिदभिषेकैर्महोत्सवैः ।
घण्टाचामरसत्केतुदानैः पुण्यमुपार्ज्यते ॥ ८३ ॥

अर्थात्—जिन चैत्यालयों के होने से कितने भव्यात्मा अभिषक से, कितने नाना प्रकारके महोत्सवादि से, कितने घंटा, चामर, ध्वजा आदि सुन्दर २ वस्तुओं के दान से पुण्य कर्म का निरन्तर संचय करते रहते हैं।

देशान्तरात्समागत्य तस्मिन्प्रस्थाय पण्डिताः ।
व्याख्यायन्ति च सच्छास्त्रं धर्मतीर्थं प्रवर्तते ॥ ८४ ॥

अर्थात्—बड़ी २ दूर से विद्वान लोग आकर उन जिन चैत्यालयों में उत्तम २ जैनशास्त्रों का व्याख्यान करते हैं और उसी से धर्म तीर्थ का विस्तार होता है।

शास्त्रं निशम्य मिथ्यात्वं भव्या मुञ्चन्ति हेलया ।
सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते पालयन्ति च सद्व्रतम् ॥ ८५ ॥

अर्थात्—शास्त्रों को सुनकर धर्मात्मा पुरुष आग्रही मिथ्यात्व को छोड़ देते हैं और सम्यक्त्व को स्वीकार करके उत्तम २ व्रतों का पालन करने लगते हैं।

इस प्रकार पूजन का सामान्य वर्णन करके अब उसके भेदों का वर्णन करते हैं—

नामतः स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालैश्च भावतः ।
जिनपूजा मता षोढा पूजाशास्त्रे सुधीधनैः ॥ ८६ ॥

अर्थात्—जिनके पास अपनी बुद्धिही ऐश्वर्य (धन) है, बुद्धि वैभव के स्वामी वे भव्यात्मा—जिन पूजन के—नामपूजन, स्थापना पूजन, द्रव्यपूजन, क्षेत्रपूजन, कालपूजन तथा भावपूजन ऐसे छह भेद कहते हैं।

अब पहलेही नाम पूजन का वर्णन करते हैं—

नामोच्चार्य जिनादीनां स्वच्छदेशे क्वचिज्जनैः ।
पुष्पादीनि विकीर्यन्ते नामपूजा भवेदसौ ॥ ८७ ॥

अर्थात्—जिन देवादिका नामोच्चारण करके किसी शुद्ध जगह पुष्पादि बिखेरे जावें उसे नाम पूजा कहते हैं।

॥ इति नामपूजा ॥

सद्भावान्या त्वसद्भावा स्थापना द्विविधार्चना ।
क्रियते यद्गुणारोपः साऽऽद्या साकारवस्तुनि ॥८८॥

अर्थात्—सद्भावस्थापना तथा असद्भावस्थापना इसतरह स्थापना पुजा के दो भेद हैं। साकारवस्तु में जो गुणों का आरोप किया जाता है उसे सद्भावस्थापनापूजा कहते हैं।

वराटकादौ सङ्कल्प्य जिनोऽयमिति बुद्धितः ।
याऽर्चा विधीयते प्राच्यैरसद्भावा मता त्वियम् ॥८९॥

अर्थात्—कमलगट्टा, पुष्प, अक्षतादि में यह जिन भगवान हैं ऐसी कल्पना करके जो पूजन की जाती है उसे असद्भावस्थापनापूजा कहते हैं।

कितने लोग ऊपर श्लोक में वराटक शब्द को देखकर कहते हैं कि—वराटक नाम तो कौड़ी का है और हड्डी में जिन भगवान की स्थापना करना असङ्गत है। इसलिये जिनका यह ग्रन्थ बनाया हुआ है वह आधुनिक है। ऐसा कहकर ग्रन्थकर्त्ता को सदोषी बताते हैं—

परन्तु यह उनकी सर्वथा भूल है। जैनाचार्य जिस वस्तु के स्पर्श मात्र से स्नान करने की आज्ञा देते हैं उसे ही वे जिन भगवान की स्थापना में काम में लावैं यह कभी सम्भव नहीं माना जा सकता। वराटक शब्द का प्रयोग केवल पं० मेधावी महाराज ने ही नहीं किया है किन्तु वसुनन्दि श्रावकाचार में वसुनन्दि सैद्धान्ति महाराज ने भी लिखा है। इसलिये वराटक शब्द का कौड़ी अर्थ नहीं है किन्तु कमलगट्टे का नाम वराटक है—

कोष में भी यही लिखा हुआ मिलता है—

"संवर्त्तिका नवदलं बीजकोशो वराटकः"

अर्थात्—कमल के नव पल्लव का नाम सम्वर्त्तिका है तथा बीज कोश (कमलगट्टा) को वराटक कहते हैं। यद्यपि वराटक नाम कौड़ी का भी है परन्तु जिनपूजनके सम्बन्धमें कमलगट्टेका ही समझना चाहिये। कविवर धनंजय ने नाममाला नाम कोष में केशर का नाम रक्त भी लिखा है तो क्या पूजन के सम्बन्ध में भी केशर का रक्त अर्थ करना अच्छा जान पड़ैगा? नहीं, उसीतरह एक शब्दके अनेक अर्थ होनेसे योग्य अर्थ को सम्बन्धानुसार काम में लाना चाहिये। एक शब्द के लिये बड़े २ महर्षियों को दोष देना अच्छा नहीं है।

ग्रन्थकार कहते हैं—यद्यपि असद्भावस्थापना करने में किसी तरह की हानि नहीं है परन्तु—

हुण्डावसर्पिणीकाले लोके मिथ्यात्वसङ्कुले।
असद्भावा न कर्त्तव्या जायते संशयो यतः॥ ९०॥

अर्थात्—इस हुण्डावसर्प्पिणीकाल में—लोक में मिथ्यात्व का प्रचार प्रचुरता से होने से असद्भाव (निराकार) स्थापना नहीं करना चाहिये। क्योंकि मिथ्यात्वी लोगों ने नाना प्रकार के देवी देवताओं की स्थापना कर डाली हैं इसलिये उसमें सन्देह हो जाता है।

ज्ञेयाऽन्या स्थापना पूजा प्रतिष्ठाविधिरर्हताम्।
वसुनन्दीन्द्रनन्द्यादिमुनिसूत्रानुसारतः॥ ९१॥

अर्थात्—अर्हन्त भगवान की प्रतिष्ठादि विधि को सद्भाव-स्थापना कहते हैं। इसका विशेष खुलासा नेमिचन्द्र, जिनसेन, वसुनन्दि

इन्द्रनन्दि आदि बड़े २ प्राचीन मुनियों के ग्रन्थानुसार जानना चाहिये ।

॥ इति स्थापना पूजा ॥

सचित्ताऽचित्तमिश्रेण द्रव्यपूजा त्रिधा भवेत् ।
प्रत्यक्षमर्हदादीनां सचित्ताऽर्चो जलादिभिः ॥ ९२ ॥

अर्थात्—द्रव्य पूजा के—सचित्त द्रव्यपूजा, अचित्त द्रव्य—पूजा, तथा मिश्रद्रव्यपूजा इस तरहतीन विकल्प हैं । साक्षात् अर्हन्तादि को जलादि द्रव्यों से पूजन करने को सचित्त द्रव्य पूजा कहते हैं ।

तेषां तु यच्छरीणां पूजनं साऽपरार्चना ।
यत्पुनः क्रियते पूजा द्वयोः साम्मिश्रसंज्ञिका ॥ ९३ ॥

अर्थात्—और उन अर्हन्तादि के शरीर की पूजन करने को अचित्त द्रव्यपूजा कहते हैं तथा अर्हन्तादि की और उनके शरीर की एक साथ पूजन करने को मिश्र द्रव्यपूजा कहते हैं ।

अथवा सा द्रव्यपूजा ज्ञात्वा सूत्रानुसारतः ।
नो आगमागमाभ्यां च भव्यैर्योऽत्र विधीयते ॥ ९४ ॥

अर्थात्—शास्त्रानुसार, नोआगम तथा आगम से द्रव्य पूजा को समझ कर जो भव्य पुरुष–करते है उसे भी द्रव्यपूजा समझना चाहिये ।

॥ इति द्रव्यपूजा ॥

गर्भजन्मतपोज्ञानलाभनिर्वाणसम्भवे ।
क्षेत्रे निषद्यकासु प्राग्विधिना क्षेत्रपूजनम् ॥ ९५ ॥

अर्थात्—जिन क्षेत्रों में जिन भगवान के गर्भकल्याण, जन्म कल्याण, दीक्षाकल्याण, ज्ञानकल्याण तथा निर्वाणकल्याण हुये हैं उनकी पूर्वविधिके अनुसार जलादि आठद्रव्यों से पूजन करने को क्षेत्रपूजन कहते हैं ।

॥ इति क्षेत्रपूजा ॥

गर्भादिपञ्चकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत् ।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम् ॥ ९६ ॥
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभिः ।
तत्र गीतादिमाङ्गल्यं कालपूजा भवेदियम् ॥ ९७ ॥

अर्थात्—जिस दिन अर्हन्त भगवान के गर्भकल्याण, जन्म कल्याण, दीक्षा कल्याण, केवलज्ञान कल्याण तथा निर्वाणकल्याण हुवे हैं उस दिन, नन्दीश्वर पर्व में तथा रत्नत्रय में जिन भगवान की पूजन करने को, इक्षुरस घृत दूध दही आदि नाना प्रकार के रसों से अभिषेक करने को तथा गीत, सङ्गीतादि माङ्गलीक कार्य के करने को काल पूजन कहते हैं ।

॥ इति कालपूजा ॥

यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम् ।
त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥ ९८ ॥

अर्थात्—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्यादि अनन्तचतुष्टय आदि से जिन भगवान के गुणों की स्तुति पूर्वक जो त्रिकाल सामायिक की जाती है उसे भावपूजा कहते हैं ।

परमेष्ठिपदैर्जापः क्रियते यत्स्वशक्तितः ।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्रं साप्यर्चा भावपूर्विका ॥ ९९ ॥

अर्थात्—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पञ्च परमेष्ठियों का अपनी शक्ति पूर्वक जो नाम स्मरण किया जाता है उसे तथा अर्हन्तभगवान के गुणों का स्तवन करने को भाव पूजन कहते हैं ।

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥१००॥

अर्थात्—तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार के ध्यानो का अच्छी तरह ध्यान करने को उत्तम भाव पूजन कहते हैं ।

विशेष—इन चारों प्रकार के ध्यानों का ज्ञानार्णव में श्रीशुभ-

चन्द्राचार्य महाराज ने बहुत विस्तार पूर्वक वर्णन किया है जिन भव्यात्मा पुरुषों को विशेष जानने की इच्छा हो उन्हें उक्त ग्रन्थ का स्वाध्याय करना चाहिये । यहां प्रकर्णवश नाम मात्र कथन किया गया है ।

॥ इति भावपूजा ॥

एतद्भेदास्तुविज्ञेया नाना ग्रन्थानुसारतः ।
ग्रन्थभूयस्त्वभीतेन प्रपञ्चो नेह तन्यते ॥१०१॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—ऊपर पिण्डस्थ, पदस्थ रूपस्थ, तथा रूपातीत इस प्रकार ध्यान के चार भेद कह आये हैं इनका विशेष खुलासा वर्णन—अन्य २ ग्रन्थों से जानना चाहिये । ग्रन्थ बढ़जाने के भय से यहां विस्तार पूर्वक वर्णन नहिं किया गया है ।

एवं पूजा समुद्दिष्टा षोढा जैनेन्द्रशासने ।
इदानीं फलमेतस्या वर्ण्यते नृपते ! शृणु ॥१०२॥

अर्थात्—इस तरह जैनशास्त्रों में पूजन के जो छह भेद किये हैं उनका वर्णन तो हम कर चुके। हे महाराज श्रेणिक ! अब इस समय पूजन के फल का वर्णन करते हैं उसे तुम सुनो ।

॥ इति पूजा ॥

जिन पूजा कृताहन्ति पापं नाना भवोद्भवम् ।
बहुकालंचितं काष्ठराशिं वह्निरिवाऽखिलम् ॥१०३॥

अर्थात्—जिसतरह अग्नि बहुत समय से इकट्ठे किये हुये समस्त काष्ठ समूह को क्षण मात्र में जला देती है उसीतरह जिन भगवान की पूजन करने से जीवों के जन्म जन्म का सञ्चित पाप कर्म उसी समय नाश हो जाता ।

दुर्गतिं दलयत्येषा शंपेवाऽवनिभृत्तटीम् ।
पुण्यं पुष्णाति वृक्षाणां कदम्बामिव धोराणिः ॥१०४॥

अर्थात्—यही जिनपूजन दुर्गतिके नाश करने वाली है और वृक्षों की श्रेणी जिसतरह कदम्ब तरु को परिवार्द्धित करती है उसी तरह पुण्यकर्म की वृद्धि करने वाली है ।

यत्किञ्चिदिह सत्सौख्यं वाञ्छितं जगतां त्रये ।
दृश्यते तज्जिनाऽर्चायाः फलेनैवाऽऽप्यतेऽङ्गिभिः ॥१०५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—तीन लोक में जो कुछ उत्तम सुख जीवों को अभिलषित है वह सुख जिन भगवान की पूजन के प्रभाव से शीघ्र ही प्राप्त हुवा देखा जाता है।

गौतमोऽकथयत्तत्र यावत्पूजाफलं गणी ।
तावदेकोऽमरः स्वर्गादायान्मण्डूकलाञ्छनः ॥१०६॥

अर्थात्—जिस समय भगवान गौत्तमगणधर महाराज-श्रेणिक से जिन भगवान की पूजा का फल कह रहे थे उसी समय मुकुट के ऊपर मेंडक चिन्हका धारक एक देव स्वर्ग से आया।

त्रिःपरीत्य जिनं स्तुत्वा नत्वा गणधरानपि ।
अन्येषां च यथायोग्यं कृत्वा स्वं कोष्ठमासदत् ॥१०७॥

अर्थात्—वह देव जिन भगवान की तीन प्रदाक्षिणा देकर तथा नाना प्रकार भक्ति पूर्वक जिन भगवान की स्तुति करके इसके बाद गणधर भगवान की वन्दना करके और भी मुनि वगैरह का यथा योग सत्कारादि करके अपने कोठे मे जाकर बैठ गया।

तस्य श्रियं च सौन्दर्यं समीक्ष्य मगधेश्वरः ।
पप्रच्छ गणिनं कोऽयं केन पुण्येन कान्तिमान् ॥१०८॥

अर्थात्—उस समय मगधदेशके स्वामी महाराज श्रेणिकने-उस देवकी लक्ष्मी तथा मनोहरता को देखकर भगवान गौतम गण-धर से पूछा—महाराज! यह जो अभी आया है वह कौन है? और किस बड़े भारी पुण्य से यह ऐसा सुन्दर है?

निशम्येति गणाधीश उवाच नरकुञ्जरम् ।
शृण्वस्य चरितं राजन्साश्चर्यं ज्ञानचक्षुषा ॥१०९॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक के प्रश्न को सुनकर भगवान गौतमस्वामी ने उनसे कहा—हे राजन्! इस के आश्चर्यकारी चरित को तुम सावधान होकर सुनो!

अत्रैवार्योऽभिधेखण्डे पद्मिनीखण्डमण्डिते ।
विषये मगधाख्येऽस्ति परं राजगृहं पुरम् ॥११०॥

अर्थात्—भगवान गौतमस्वामी बोले हे राजन्! कमलिनियों के समूह से शोभित इसी आर्यखण्ड में मगध नामक देश है। उस देश में राजगृह नाम एक मनोहर नगर है।

नागदत्तोऽभवत्तत्र श्रेष्ठी भूरिधनी जनी ।
भवदत्ता च तस्याऽऽसीत्तया भोगं स भुक्तवान् ॥१११॥

अर्थात्—उसी राजगृह नगर में बहुत धनी तथा बहुत कुटु-म्बी नागदत्त नाम शेठ था। उसके भवदत्ता नाम की वनिता थी उसके साथ वह निरन्तर भोगों को भोगता रहता था।

अवसाने स मूढात्मा स्वार्त्तध्यानोल्लसन्मनाः ।
मृत्वाऽसौ-गृहपृष्ठस्थवाप्यां भेकस्त्वजायत ॥११२॥

अर्थात्—वह मूर्ख नागदत्त धन में आर्त्तध्यानी होकर अन्त समय में मरकर अपने घर के पीछे की बावडी में मेंडक हुआ।

अतिष्ठद्रममाणोऽयं विपुले दीर्घिकाजले ।
यावत्तदैकदा प्राप भवदत्ता जलार्थिनी ॥११३॥

अर्थात्—वह मेंडक बावडी के गहरे जल में क्रीडा करता रहता था एक दिन भवदत्ता जल के लिये बावडी के ऊपर आई।

जज्ञे तद्दर्शनात्तस्य स्वजातिस्मरणं तदा ।
हा! हाऽहमार्त्ततश्च्युत्वा जातो जलचरो नरात् ॥११४॥

अर्थात्—उसके देखने मात्र से मेंडक को अपनी पूर्व जाति का स्मरण हो आया। जातिस्मरण होने मात्र वह मेंडक हाय! हाय!! मैं आर्त्तध्यान से मरकर मनुष्य जन्म से जलजन्तु हुआ इसप्रकार पश्चात्ताप करने लगा।

भार्यास्नेहेन सान्निध्यं यावदायादसौ तदा ।
भीत्या पलाय्य तज्जाया प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥११५॥

अर्थात्—जब भवदत्ता जल के लिये आई तो उसे आती हुई देख

कर पूर्व जन्मकी स्त्रीके अनुरागसे वह उसके पास आने लगा तब भय से भवदत्ता भागकर अपने घरमें घुस गई।

संसर्ग प्राकलत्रस्य मण्डूकोऽलभमानकः।
अत्यारटञ्जले तस्थौ विपाकः कर्मणो बली ॥११६॥

अर्थात्—मेंडक अपनी पूर्व भव की स्त्रीके साथ सम्बन्ध न पाकर बहुत चिल्लाता हुआ जल में रहने लगा। ग्रन्थकार कहते हैं अहो! कर्म का विपाक (फल) अत्यन्त बलवान है।

एतां दृष्ट्वा यदाऽऽयातां तदा सन्मुखमाव्रजत्।
सा तं सन्मुखमायान्तं वीक्ष्य जाता पराङ्मुखी ॥११७॥

अर्थात्—मेंडक जब भवदत्ता को आती हुई देखता तबही जल्दी से उसके सामने जाने लगता था और भवदत्ता भी उसे अपने सामने आता हुआ देख कर झट लौट जाती थी।

तयैकदा मुनि पृष्टः सुव्रताख्योऽवधीक्षणः।
कोऽयं भेकः स तामाह भद्रे! शृणु समाहिता ॥११८॥

अर्थात्— किसी समय भवदत्ता ने सुव्रत नाम अवधि ज्ञानी मुनिराज से पूछा। हे नाथ! यह मेंडक कौन है? मुनिराज ने भवदत्ता से कहा। हे कल्याणि! तुम सावधान होकर सुनो मैं इस मेंडक का वृत्तान्त कहता हूँ।

नागदत्तः पतिस्ते यो धर्मकर्मविवर्जितः।
आर्त्तध्यानेन मृत्वा स भेकोऽजनि जलाशये ॥११९॥

अर्थात्—मुनिराज भवदत्ता से कहने लगे—धर्म कर्म से रहित नागदत्त जो तुम्हारा स्वामी था वह धनके आर्त्तध्यान से मरकर तुम्हारे घर के पीछे की वावली में मेडक हुआ।

श्रुत्वेति श्रेष्ठिनी पापं निन्दन्ती फलभङ्गिनः।
रुदन्ती स्नेहमाधाय भेकान्तं सातदाऽऽगमत् ॥१२०॥

अर्थात्—भवदत्ता अपने पतिकी इसतरह खोटी गति सुनकर पापके बुरे फलकी निन्दा करती हुई और रोती हुई पूर्व-जन्मके स्नेह से मेढक के पास आई।

पूर्ववत्सम्मुखं भेकमागतं निजमन्दिरम् ।
आनीय जलकुण्डादौ युक्त्या सा तमुपाचरत् ॥१२१॥

अर्थात्—भवदत्ता पहले के समान अपने सामने आते हुए मेंढक को देखकर उसे अपने घर ले आई और योग्य रीति से जल के कुण्ड वगैरह में रखकर उसकी सेवा करने लगी।

एवं गच्छति कालेऽस्य वसतः कुण्डवारिणि ।
अन्यदा वनपालेन विज्ञप्तस्त्वमिति प्रभो ॥१२२॥

अर्थात्—इस प्रकार कुण्ड के जल में रहते हुए उस मेंढक के कितने दिन बीत जाने पर एक दिन बनपाल ने आकर तुम से यों प्रार्थना की।

स्वामिन् ! श्रिया समायातो वर्द्धमानो जिनेश्वरः ।
त्वत्पुण्येन जगत्पूज्यो विपुलाद्रौ मनोहरे ॥१२३॥

अर्थात्—हे नाथ ! आपके अमित पुण्यके माहात्म्य से विपुलाचल पर्वत पर बाह्याभ्यान्तरलक्ष्मी से शोभायमान त्रैलोक्य पूज्य श्रीवर्द्धमान अन्तिम जिनराज पधारे हैं।

सानन्दो वनपालाय दत्वा वपुरलङ्कृतीः ।
गत्वा सप्तपदानि त्वं तद्दिशं जिनमानमः ॥१२४॥

अर्थात्—श्रीवर्द्धमान जिनेश्वरके आगमन सम्बन्धि समाचार सुनकर आनन्द पूर्वक तुमने वनपाल को अपने शरीरके सब वस्त्राभूषण उसी समय दे दिये और जिस दिशा की ओर जिन भगवान विराजे थे उसी दिशा में सात पैंड आगे जाकर जिन भगवान को नमस्कार किया।

भेरीरावेणपौरैस्त्वं मिलितैर्जिनमार्चितुम् ।
निर्गतः स्वपुराद्दन्तिस्कन्धमारुह्य स्वाश्रिया ॥१२५॥

भावार्थ—तुम्हारी भेरी के शब्द को सुनकर आये हुवे पुरवासी लोगों के साथ जिन भगवान की पूजन के अर्थ हाथी पर बैठ कर अपनी राज्य लक्ष्मी पूर्वक तुम नगर से निकले।

भेकोऽपि तं समाकर्ण्य स्वानन्दभरनिर्भरः ।
यास्याम्यहं जिनेन्द्रस्य यात्रायामित्यचिन्तयत् ॥१२६॥

अर्थात्—वह मेंडक भी भेरीके शब्दको सुनकर और आनन्द में मग्न होकर विचारने लगा—मैं भी आज श्री वीर जिनराज की यात्रा करने के लिये जाऊँगा ।

ततो वाप्यां प्रविश्याऽसौ दन्तिरादाय वारिजम् ।
चचाल जिनपूजार्थमुप्लवन्नृपनागरैः ॥१२७॥

अर्थात्—वह मेंडक अपने दिल में जिन भगवान की यात्रा का निश्चय करके उसी समय वावडीमें गया और वहां से अपने दांतों में एक कमल लेकर पुरवासी लोगो के तथा तुम्हारे साथ साथ कूदता हुआ जिनेश्वर की पूजन के अर्थ चला ।

आयान्भावनया मार्गे गजपादेन ते हतः ।
प्राणांस्तत्त्याज मण्डूकः स संवेगपरायणः ॥१२८॥

अर्थात्—संसार देह से विरक्त वह मेंडक—जिन भगवानकी पूजन की भावना से आता हुआ रास्ते में तुम्हारे हाथी के पांवके नीचे दबकर प्राणों को छोड़ दिये ।

उपपादि स सौधर्मे संपुटके क्वचिदुत्तरे ।
अन्तर्मुहूर्त्तकालेन सम्पूर्णोऽभूत्सुरोत्तमः ॥१२९॥

अर्थात्— मरकर उस मेंडक ने—सौधर्म नाम स्वर्ग में उत्तर-दिशा के ओर की उपपाद शय्या में जन्म लिया । और अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में पूर्ण सुरोत्तम (देव) हुआ ।

दिव्यनादं कलं गीतं श्रुत्वा चाऽप्सरसां तदा ।
प्रसुप्तवत्प्रबुद्धासाविति देवो व्यचिन्तयत् ॥१३०॥

अर्थात्—वह सुरोत्तम उस समय सोते हुवे के समान प्रबुद्ध होकर और देवाङ्गनाओं के मनोहर शब्द तथा गीत को सुनकर इस तरह विचारने लगा ।

काऽहं कुतः समायातः कोऽयं देशो मनोरमः ।
केऽमी जनाः स्तुवन्तीमं केन पुण्येन मां श्रिताः ॥१३१॥

अर्थात्—अहो ! मैं कौन हूं ? कहां से आया हूँ ? यह मनोहर कौन स्थान है ? ये लोग कौन हैं ? जो मेरी स्तुति कर रहे हैं और ये सब किस अमित पुण्य के उदय से मेरी शरण आये हैं ?

इति चिन्तयतस्तस्य जातं प्राग्भवबोधनम् ।
ज्ञात्वा वृत्तान्तमात्मीयं तेनाऽऽत्मानमसस्मरत् ॥१३२॥

अर्थात्—इस तरह विचार करते ही उसे अपने पूर्व जन्म का ज्ञान हो गया । अपने स्वकीय वृत्तान्त को जान कर अपनी आत्मा को यों स्मरण करने लगा ।

अहं भेकचरो देव आयातो राजमन्दिरात् ।
अयं मनोहरः स्वर्गः स्तोतारोऽमी दिवौकसः ॥१३३॥

अर्थात्—मैं पहले तो मेंडक था अब देव हुआ हूँ और राज मन्दिर से मैं स्वर्ग में आया हूँ । यह सुन्दर स्वर्ग है और ये मेरा गुण कीर्तन करने वाले देवता लोग हैं ।

जिनपूजोद्यमोपन्नपुण्येन सुरसत्तमाः ।
मां जीव ! नन्द !! वर्द्धस्वेति स्तवैः समुपाश्रयन् ॥१३४॥

अर्थात्—ये सब देवता लोग जिन भगवान की पूजा के उद्यम से उत्पन्न होने वाले पुण्य के प्रभाव से मेरी—तुम चिरकाल जीओ ! तुम दिनों दिन आनन्द को प्राप्त होओ !! तुम वृद्धि को प्राप्त होओ !!! इत्यादि नाना प्रकार की सुन्दर स्तुतियों से सेवा करते हैं ।

देवदेवीभिरेकत्री भूयाऽऽगत्येति जल्पितम् ।
नाथैतस्य विमानस्य कुरु राज्यं गृहाण नः ॥१३५॥

अर्थात्—उसी समय सर्व देव देवाङ्गनाओं ने मिल कर उस देव से कहा कि—हे नाथ ! इस विमान का आप राज्य करें और हमें भी स्वीकार करें ।

कल्पवृक्षा अमी सान्ति प्रासादाः किंकरा वयम् ॥
अमूरप्सरसो रम्यास्त्वं तिष्ठाऽत्र चिरं विभो ॥१३६॥

अर्थात्—हे नाथ ! ये कल्पवृक्ष हैं ये बड़े २ हर्म्य (मन्दिर) हैं हम सब आप के दास हैं और ये देवाङ्गनायें हैं आप चिरकाल पर्यन्त यहां रहें।

इति श्रुत्वा वचस्तेषां कृत्याय स्नानवापिकाम् ।
गत्वा स्नात्वा जिनान्नत्वा विमानस्थजिनालये ॥१३७॥

अर्थात्—इसप्रकार देव देवाङ्गनाओं के बचनों को सुनकर वह सुरोत्तम—जिन पूजनादि कार्यके लिये स्नान करनेकी बावड़ी में जाकर और स्नान करके अपने विमानके जिनालयमें जिन भगवान की वन्दना की।

अङ्गीकृत्य विमानैश्यं क्षणं पुनरचिन्तयत् ।
अर्हद्यात्राऽनुमोदेन जातः सा क्रियतेऽधुना ॥१३८॥

अर्थात्—इसके बाद उन देव देवाङ्गनाओं की प्रार्थना के अनुसार विमान के स्वामीपने को स्वीकार करके क्षण मात्र फिर विचार करने लगा। अहो ! मैं तो श्री अर्हन्त भगवान की यात्रा के अनुमोदन से देव हुवा हूं इसलिये मुझे वह यात्रा अब करनी चाहिये।

ततोऽयं मौलिभेकाङ्क आयातो जिनमीडितुम् ।
सौन्दर्यादिगुणोपेतः कान्तिमान्दिव्यभूषणः ॥१३९॥

अर्थात्—इसीसे—सुन्दरतादि गुणों से युक्त, कान्तिमान, तथा स्वर्ग जनित मनोहर आभरण का धारक और जिसके मुकुट में मेंडक का चिह्न है ऐसा यह देव जिन भगवान की पूजन करने को समव शरण मे आया है।

श्रुत्वेति गौतमीं वाचं प्रशसंशुर्नृपादयः ।
भेकोपीदृक्फलं लेभेऽनुमोदात्पूजनान्न किम् ॥१४०॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक आदि सर्व सभावासी भव्य पुरुष

भगवान गौतम स्वामी की इस प्रकार वाणी सुनकर प्रशंसा करने लगे। अहो ! जिन पूजन के अनुमोदन मात्र से एक पशु जाति जन्तु ने भी ऐसा अनुपम फल पाया तो जो साक्षाज्जिन देव की भक्ति पूर्वक पूजन करेंगे वे भव्य पुरुष ऐसे फल को नहीं पावेंगे क्या ? किन्तु अवश्य पावेंगे।

इति पूजाफलं काले निश्रेयसपदप्रदम्।
प्रोक्तं निशामयेदानीं भव्य ! पूजकलक्षणम् ॥१४१॥

अर्थात्—भगवान गौतम स्वामी बोले—हे राजन् ! समयानुसार मोक्षकी प्राप्तिका कारण जिन भगवान की पूजा का फल तुम्हें कहा। अब इस समय पूजक पुरुषका लक्षण तुम सुनो।

॥ इति पूजाफलम् ॥

नित्य पूजा विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते।
द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥१४२॥

अर्थात्—नित्य पूजनका जो करने वाला होता है उसे पूजक कहते हैं और जो प्रतिष्ठादि विधियोंका कराने वाला है उसे पूजकाचार्य कहते हैं।

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥१४३॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र इन चार वर्णों मे आदिवर्णका धारक (ब्राह्मण) हो, शीलव्रत का धारक (ब्रह्मचारी) हो, सत्य शौचादि व्रत का दृढ़ आचरण करने वाला हो, हिंसा झूठ चोरी आदि अव्रत से रहित हो।

भावार्थ—पञ्चाणुव्रत का धारक हो, ऐसा पुरुष ही पूजक (जिन भगवान की पूजा करने का अधिकारी) होता है।

जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः।
गुरूपदिष्टमन्त्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥१४४॥

अर्थात्—जाति तथा कुल (वंश) से पवित्र-भावार्थ जिस का जाति कुल कलङ्कित नहो। बन्धुमित्रादि से जो शुद्ध हो, तथा

गुरु से उपदेशित मंत्र आदि से जिसका संस्कार हुवा हो वह पुरुष पूजक कहा जाता है ।

इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नाना लक्षणलक्षितः ॥१४५॥
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी ।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः ॥१४६॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गम्भीरो विनयान्वितः ।
शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः ॥१४७॥
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः ।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥१४८॥
वारिमन्त्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः ।
महाभिमानी मौनी च त्रिसन्ध्यं देववन्दकः ॥१४९॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः ।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः ॥१५०॥
न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः ।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धोनाऽतिबालकः ॥१५१॥
न क्रोधादिकषायाढ्यो नाऽर्थार्थी व्यसनी न च ।
* नन्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥१५२॥
ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत् ।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥१५३॥
कर्त्ता फलं न चाऽऽप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् ।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥१५४॥
॥ दशभिः कुलकम् ॥

---

* इस श्लोकार्द्ध का अर्थ समझ में नहीं आया ।

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—पूजक पुरुष का लक्षण कह चुके अब पूजकाचार्य का लक्षण कहा जाता है—ब्राह्मण क्षत्री तथा वैश्य हो, अनेक प्रकार के उत्तम २ लक्षणों से युक्त हो; कुल तथा जाति आदि से पवित्र हो, सम्यग्दृष्टि हो, एक देश व्रतका धारी हो, जिनागम का अच्छी तरह जानने वाला हो, आलस्य रहित हो, बहुश्रुति हो, गम्भीर प्रकृति का धारक हो, विनय युक्त हो, शौच तथा आचमन में उत्साह युक्त हो, दान देने वाला हो, कर्मों के नाश करने में शूर हो, अङ्ग तथा उपाङ्गयुक्त हो, शुद्ध हो, लक्ष्य तथा लक्षण का जानने वाला हो, बुद्धिशाली हो, अपनी स्त्री में ही सन्तोष का धारक हो, ब्रह्मचारी (पर स्त्री त्यागी) हो, रोग रहित हो, उत्तम २ क्रियाओं का करने वाला हो, जलस्नान, मंत्रस्नान तथा व्रतस्नान का किया हुआ हो, प्रोषधव्रतका करने वाला हो, अपने अभिमान की रक्षा करने वाला हो, मौनव्रत का धारक हो, प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायं-काल इन तीनों काल में सामायिक का करने वाला हो, श्रावकाचार से जिसका आत्मा शुद्ध हो, दीक्षा शिक्षा आदि अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त हो, गृहस्थोंके सोलह संस्कारोंसे पवित्र हो, ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतादि) का धारक हो, न अङ्ग हीन हो, न अधिक अङ्गका धारक हो, न बहुत लम्बा हो, न बहुत छोटा (वामन) हो, न कुरूप हो, न मूर्ख हो, न वृद्ध हो, न अति बालक हो, न क्रोध मान माया लोभादि कषायों से युक्त हो, न धनका अर्थी हो, तथा न किसी तरहके व्यसनों का धारक हो।

ग्रन्थकार कहते हैं—यदि इन दोषोंका धारक प्रतिष्ठाचार्य कहीं पर प्रतिष्ठा करावे तो समझो कि—देश, पुर, राज्य तथा राजा आदि सभी नाशको प्राप्त होते हैं और न प्रतिष्ठा करने वाला तथा कराने वाला ही अच्छे फलको प्राप्त होता है। इसलिये उपर्युक्त उत्तम २ लक्षणों से विभूषित ही प्रतिष्ठाचार्य कहा जाता है।

पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम् ।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥१५९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—ऊपर जो २ प्रतिष्ठाचार्य के लक्षण कह आये हैं यदि उन लक्षणों से युक्त पूजक तथा प्रतिष्ठाचार्य

परमेश्वर की प्रतिष्ठादि करें तो उस समय धनका खर्च करने वाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

॥ इति पूजकाचार्यलक्षणम् ॥

असिर्मसिः कृषिस्तिर्यक्पोषं वाणिज्यविद्यके ।
एभिरर्थार्जनं नीत्या वार्त्तेति गदिता बुधैः ॥१५६॥

अर्थात्—असि (खड्ग धारण) मसि (लिखना) कृषि (खेती करना) तिर्यञ्चों का पालन करना, व्यापार करना तथा विद्या इन छह बातों से नीति पूर्वक धन के कमाने को बुद्धिमान लोग वार्ता कहते हैं।

एभिः स्वजीवनं कुर्युर्गृहिणः क्षत्रियादयः ।
स्वस्वजात्यानुसारेण नीतिज्ञैरुदितं यथा ॥१५७॥

अर्थात्—इन छहों कर्मों से क्षत्रियादि वर्णों को अपनी २ जाति के अनुसार जीवन निर्वाह करना चाहिये। जैसा नीति के जानने वाले पुरुषों ने वताया है।

तथा समर्जयेद्वित्तं यथाधर्मं न नश्यति ।
सुखं न क्षीयते ते च सापेक्षे सेवतां मिथः ॥१५८॥

अर्थात्—धन उस रीति से कमाना चाहिये जिससे धर्म तथा सुख का नाश न होवे और धर्म अर्थ का जिसतरह परस्पर सापेक्षपना वना रहे उसीतरह इन का परस्पर सेवन करना चाहिये।

एष्वेकशोऽश्नुवानाः स्वं कृतार्थं जन्म मन्वते ।
केऽपि कोचिद्द्विशो लोका वयं वा विद्म तत्त्रयम् ॥१५९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—कितने लोग तो ऐसे हैं जो केवल धर्म के अथवा अर्थ के ही सेवन में अपना जीवन सार्थक समझते हैं और कितने ऐसे हैं जो धर्म तथा अर्थ के सेवन में अपने मानव जन्म को कृत्य कृत्य समझते हैं। परन्तु वास्तव में उन दोनों का भ्रम है। क्योंकि न तो केवल धर्म का ही अथवा अर्थ का ही सेवन अच्छा है और न धर्म तथा अर्थ इन दोनों का सेवन

अच्छा है। इसीलिये हम तो धर्म अर्थ तथा काम इन तीनों के सेवन से ही अपने जीवन को सार्थक समझते हैं।

दानायोपार्ज्यते वित्तं भोगाय च गृहाश्रमे।
यस्य तस्मिंश्च न स्तस्ते तस्यार्थोपार्जनं वृथा ॥१६०॥

अर्थात्—धन का उपार्जन दान देने के लिये तथा गृहस्थाश्रम में भोगने के लिये किया जाता है और जिसके गृहस्थाश्रम में न दान है और न भोग है ग्रन्थकार कहते है—ऐसे पुरुषों का धन कमाना निष्फल है।

दानं भोगो विनाशश्च वित्तस्य तु गतिस्त्रयी।
यो न दत्ते न भुंक्ते च तस्यावश्यं परा गतिः ॥१६१॥

अर्थात्—दान देना, नाना प्रकार के समीचीन भोगों का भोगना तथा नष्ट होजाना ये तीनही गति धनकी होती है। तो समझो कि—जो पुरुष न तो दान देता है और न धनका भोग करता है उसके धन की तीसरी गति (विनाश) स्वयं सिद्ध है।

योऽर्थः समर्ज्यते दुःखाद्रक्ष्यते चाऽतिदुःखतः।
तत्फलं गृह्यते सद्भिर्दानाद्भोगाच्च नित्यशः ॥१६२॥

अर्थात्—जो धन अत्यन्त क्लेश के साथ तो उपार्जन किया जाता है और उपार्जनावस्था के क्लेश से भी अधिक क्लेश जिसकी रक्षा करने में हैं उस धनका सुख सत्पुरुष—नित्य प्रति दान देने को अथवा गृहस्थाश्रम सम्बन्धि भोगों के भोगने को समझते हैं।

न्यायेनोपार्ज्यते यत्स्वं तदल्पमपि भूरिशः।
विन्दुशोऽप्यमृतं साधु क्षाराब्धेर्वारि नो बहु ॥१६३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—नीति पूर्वक कमाया हुआ थोड़ा भी धन बहुत है। इसी बात को दृष्टान्त द्वारा खुलासा करते हैं—अमृत की एक बूंदही अच्छी है परन्तु खारे समुद्र का बहुत जल अच्छा नही है।

भावार्थ—नीति पूर्वक उपार्जन किये हुवे थोड़े ही धन में

बुद्धिमानों को सन्तोष करना चाहिये। अन्याय से बहुत भी यदि धन हुआ तो क्या हुआ वह केवल पाप बन्ध का ही हेतु है।

ऋते धर्मार्थकामानां सिद्धिं तज्जीवनं मुधा।
तथापि धर्मसिद्धिं नो विना तां यद्भवस्तयोः ॥१६४॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि के विना जो जीवन निर्वाह है उसे व्यर्थ ही समझना चाहिये। तौभी धर्मसिद्धिको छोड़कर अर्थ तथा काम का संभव नहीं होता है।

॥ इति वार्त्ता ॥

तपो द्वादशधा ख्यातं मध्यबाह्यप्रभेदतः।
प्रायश्चित्तादिभिर्मध्यं बाह्यं चाऽनशनादिभिः ॥१६५॥

अर्थात्—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान इन छह प्रकार तप से अन्तरङ्गतप तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्या, रसपरित्याग, विविक्तशय्या—आसन तथा कायक्लेश इन छह भेदों से बाह्यतप, इसप्रकार अन्तरङ्गतप तथा बाह्यतप बारह प्रकार है।

यत्र संक्लिश्यते कायस्तत्तपो बहिरुच्यते।
इच्छानिरोधनं यत्र तदाभ्यन्तरमीरितम् ॥ १६६ ॥

अर्थात्—जिस तपमें शरीरादि को क्लेश होता है उसे बाह्य तप कहते हैं और जिस तपके करने में इच्छा (अभिलाषा) का निरोध (रोकना) होता है उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं।

क्षारादिवह्नियोगेन यथा शुध्यति काञ्चनम्।
तथा द्विधा तपोयोगाज्जीवः शुध्यति कर्मणः ॥१६७॥

अर्थात्—जिसप्रकार क्षार वस्तु तथा अग्नि आदि के सम्बन्ध से सुवर्ण शुद्धिता को प्राप्त होता है उसी तरह बाह्य तथा आभ्यन्तर तप के योग से यह जीव भी कर्मरूप कीट से निर्मलता को प्राप्त होता है।

पञ्चमीरोहिणीसौख्यसम्पन्नन्दीश्वरादिकम्।
तपोविधिं गृही कुर्यात्तपसा निर्जरा यतः ॥ १६८ ॥

अर्थात्—इसलिये गृहस्थों को—पञ्चमीव्रत, रोहिणीव्रत तथा सुखसम्पत्ति तथा नन्दीश्वर व्रत आदि तप करना चाहिये। क्योंकि तप से कर्मों की निर्जरा होती है।

अष्टम्यां च चतुर्दश्यामुपवासं करोत्वसौ।
शक्त्यभावे प्रकुर्वीत काञ्जिकाद्येकभक्तकम् ॥ १६९ ॥

अर्थात्—श्रावकों को—अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन उपवास करना चाहिये। यदि उपवास करने की शक्ति न हो तो काञ्जिक (एक अन्न का खाना) तथा एक भुक्त करना चाहिये।

आरंभजलपानाभ्यां स चाऽनाहार उच्यते।
आरंभादनुपवास उपवासोऽम्बुपानतः ॥१७०॥

अर्थात्—आरंभ के करने से तथा जलके पीने से तो अनाहार कहा जाता है। केवल आरंभ के करने से अनुपवास होता है तथा जल पान करने से उपवास होता है।

महोपवासः स्याज्जैनशास्त्रे द्वयवर्जितः।
इति ज्ञात्वोपवासश्च यथाशक्ति विधीयताम् ॥ १७१ ॥

अर्थात्—तथा जिसमें न तो आरंभ होता और न जलपान किया जाता है उसे जैनशास्त्रों में महोपवास कहते हैं। ऐसा समझ कर अपनी सामर्थ्यानुसार भव्य पुरुषों को—उपवास करना चाहिये।

विधिं विधाय पञ्चम्यादीनां मोक्षान्तभूतिदम्।
उद्योतयेत्स्वसम्पत्या निमित्ते स्यान्मनः समुत् ॥१७२॥

अर्थात्—मोक्ष पर्यन्त सम्पदा के देनेवाली पञ्चमी रोहिणी नन्दीश्वरादि व्रत विधि को करके अपनी सम्पदा के अनुसार इन विधियों का उद्यापन करना चाहिये। क्योंकि-नैमित्तिक कार्य के करने में मन बहुत आनन्दित होता है।

॥ इति तपः ॥

दानंचतुर्विधं पात्रदयासकलस्याम्यतः।
पात्रदानं यदुक्तं प्राक्तदेवात्राऽपि बुध्यताम् ॥१७३॥

अर्थात्—पात्रदत्ति, दयादत्ति, सकलादत्ति तथा समदत्ति इस तरह दान के चार विकल्प हैं। इनमें पात्रदान का तो जो हम पहले स्वरूप कह आये हैं वैसा ही यहां समझना चाहिये।

धर्मपात्रमनुग्राह्यममुत्र स्वार्थसिद्धये।
कार्यपात्रं तथाऽत्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥ १७४ ॥

अर्थात्—इस लोक में सुख प्राप्ति के लिये रत्नत्रय के धारण करने वाले मुनि आदिकों को उनके योग्य वस्तु देकर उपकार करना चाहिये। धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिये सहायता करने वाले कार्यपात्र को त्रिवर्ग की सिद्धि के लिये उनके योग्य पदार्थ देकर उपकार करना चाहिये तथा कीर्त्ति सम्पादन करने के लिये दान, प्रिय भाषणादि से लोगों को सन्तोष उत्पन्न करना चाहिये।

नित्यं समयिकादीनि पञ्च पात्राणि तर्पयेत्।
दानादिनोत्तरोत्तरगुणरागेण सद्गृही ॥ १७५ ॥

अर्थात्—धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थ के साधन करने वाले गृहस्थों को—समयिक—जिन भगवान करके उपदेशित शास्त्र के आधार चलने वाला, साधक—लोकोपयोगी ज्योतिष शास्त्र तथा मंत्र शास्त्रादि का जानने वाला, समयद्योतक—जिन शासन की प्रभावना करने वाला, नैष्ठिक-मूलगुण तथा उत्तर गुणादि से स्तुति योग्य तप के अनुष्ठान करने मे तत्पर, तथा गणाधिप-धर्माचार्य अथवा उन्हीं के समान बुद्धिमान गृहस्थाचार्य इन पांच पात्रों को उत्तरोत्तर गुण की प्रीति से दान, मान संभाषणादि से सन्तोषित करना चाहिये।

द्योतते यत्र जैनत्वगुणोऽप्येको गुणाग्रणीः।
साधुपात्रैः परैर्द्योत्यं भानौ खद्योतवत्ततः ॥ १७६ ॥

अर्थात्—मुझे संसार सागर से पार करने में जिनदेव ही समर्थ हैं ऐसे निश्चय को जैनत्वगुण कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रधान जैनत्वगुण एक भी जिस पुरुष में पाया जाता है उसके सामने—तपश्चरणादि के करने वाले मिथ्यादृष्टि अन्य पात्रों को भी इसी तरह तेज रहित रहना चाहिये जैसे सूर्य के सामने खद्योत (पटबीजना) तेज रहित रहता है।

एकोप्युपकृतो जैनो वरं नाऽन्ये ह्यनेकशः ।
हस्ते चिन्तामणौ प्राप्ते को गृह्णाति शिलोच्चयान् ॥१७७॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—जैनधर्म के धारक एक भी भव्य पुरुष का उपकार करना अच्छा है परन्तु हजारों मिथ्यादृष्टियों का उपकार करना अच्छा नहीं । इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते है-जब हाथ में चिन्तामणि रत्न आजावे फिर ऐसा कोन दुर्बुद्धि होगा जो उसे छोड़कर पत्थरों को स्वीकार करेगा ? किन्तु नहीं करेगा ।

नाम्नः पात्रायते जैनः स्थापनातस्ततमां परात् ।
धन्यः स द्रव्यतः प्राप्यो भाग्यवाद्भिश्च भावतः ॥१७८॥

अर्थात्—नाम जैन (जिसकी जैन संज्ञा है) स्थापना जैन (यह जैन है) ऐसी कल्पना मात्र जिसके विषय में है वह जैन, अजैन पात्रोंकी अपेक्षा—अतिशयता से जिसे मोक्ष के कारणभूत गुण प्राप्त हुये हैं उनके समान उत्कृष्ट है । यही कारण है कि उन दोनों को सम्यक्त्व के बराबर होने वाला पुण्य होता है । वह जैन, द्रव्यसे (आगा भी प्राप्त होने वाले जैनतत्त्व गुण से युक्त) पुण्यवानों को प्राप्त होता है और वही द्रव्य जैन, भावसे (जिस के पास जैनतत्त्वगुण है) ऐसे भाग्यवानों को प्राप्त होता है ।

यश्च प्रसिद्धजैनत्वगुणे रज्यति निर्मिषम् ।
संसारेऽभ्युदयैस्तृप्तः स याति तपसा शिवम् ॥१७९॥

अर्थात्—जो उपर्युक्त प्रसिद्ध जैनत्वगुण में छल रहित अनुरागी होता है वह पुरुष संसार में नाना प्रकार के अभ्युदय से सन्तोष को प्राप्त होता हुआ तपश्चरण से मोक्ष को प्राप्त होता है ।

लब्धं दैवाद्धनं साऽसु नियमेन विनंक्ष्यति ।
बहुधा तद्व्ययी कुर्वन्सुधीर्जैनान्क्षिपेत्किमु ॥१८०॥

अर्थात्—जनमान्तर में उपार्जन किये हुवे किसी पुण्य कर्मके उदय से जो धन प्राप्त हुआ है वह नियम से प्राणों के साथ २ नाश को प्राप्त होगा । लोक लाज वगैरह से उस धन को अनेक तरह से लौकिक कार्यों मे खर्च करता हुआ कोन दुर्बुद्धि होगा जो जैन साधु वगैरह का तिरस्कार करैगा ? अर्थात् उनके अर्थ धन खर्च नहीं करैगा ? किन्तु अवश्य करैगा ।

* आरोप्यैदंयुगीनेषु जिनास्तत्प्रतिमास्विव ।
प्राङ्मुनीनर्चयेद्भक्त्या श्रेयो नास्त्यतिचर्चिनाम् ॥१८१॥

अर्थात्—जिसप्रकार धातु, तथा पाषाणादिकी प्रतिमाओं में साक्षाज्जिन भगवान का संकल्प किया जाता है उसी तरह इन पञ्चम कालके मुनियों में प्राचीन काल के मुनियों का आरोप (संकल्प) करके भक्ति पूर्वक उनका पूजनादि करना चाहिये। क्योंकि अधिक शोध (परीक्षा) करने वालों का कल्याण नहीं होता।

शुभो भावो हि पुण्यायाऽशुभः पापाय कीर्तितः ।
धीरस्तं जैनभक्त्यातो दुष्यन्तं रक्षतात्सदा ॥ १८२ ॥

अर्थात्—शुभ परिणाम पुण्यका कारण है तथा अशुभ परिणाम पाप का कारण है इसलिये धीर पुरुषों को—किसी कारण से खराब होने वाले अपने परिणाम की जिन भक्ति आदि से रक्षा करनी चाहिये।

बोधः पूज्यस्तपोहेतुस्तत्परत्वात्तपोपि च ।
शिवाङ्गत्वाद्द्वयं पूज्यं तदाधाराविशेषतः ॥ १८३ ॥

अर्थात्—ज्ञान तपका कारण है इसलिये पूज्य है और तप ज्ञान का कारण है इसलिये पूज्य है तथा ज्ञान और तप ये दोनों मोक्ष के कारण होने से पूज्य हैं। और ज्ञानी तपस्वी गुणों के आधार हैं इसलिये विशेषता से पूज्य हैं।

---

* इस विषय में यशस्तिलक में यों लिखा है—

भक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥

अर्थात्—जब भक्तिमात्र से दान देना है तो फिर उनमें साधु लोगों की क्या परीक्षा करना ? वे चाहे अच्छे हों अथवा न हों। अरे! दान देनेसे तो गृह तक शुद्ध हो जाता है तो क्या गृहस्थ लोग दानके फलके अनुभोक्ता न होंगे ? किन्तु अवश्य होंगे।

अनुबद्धुं जगद्बन्धुं जिनधर्मं च पुत्रवत् ।
यस्येज्जनयितुं साधूंस्तथा चाटयितुं गुणे ॥१८४॥

अर्थात्—अपनी कुलपरम्परा सदा चलनेके लिये पुत्रके उत्पन्न करने में जैसा उद्योग किया जाता है उसीतरह संसार हितु जिन धर्म निरन्तर चले इसलिये साधुओं के उत्पन्न करनेमें प्रयत्न करना चाहिये तथा जो वर्तमान में साधु लोग विद्यमान हैं उन में ज्ञान वगैरह गुण प्राप्त कराने में प्रयत्न करना चाहिये ।

पुण्यं यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषेण तादृशाम् ।
असिद्धावपि सिद्धौ स्वान्योपकारो महान्भवेत् ॥१८५॥

अर्थात्—यदि इस पञ्चम कलिकाल के दोष से ऊपर कहे अनुसार मुनियों की सिद्धि नहो तौभी उनके पैदा होने के लिये प्रयत्न करने वाले भव्य पुरुषों को पुण्य कर्म का बन्ध होता ही है और यदि उनकी सिद्धि होजाय तो फिर क्या कहना-अपना तथा और२ धर्मात्मा पुरुषों का बड़ा भारी उपकार होता है ।

मुनिभ्यो निरवद्यानि रत्नत्रयविबृद्धये ।
भक्त्या भक्तौषधावासादीनि नित्यं प्रकल्पयेत् ॥१८६॥

अर्थात्—रत्नत्रय की वृद्धि होने के लिये मुनि लोगों को निर्दोष आहार औषध तथा आवास आदि वस्तु भक्तिपूर्वक निरन्तर देनी चाहिये ।

व्रतिनीः क्षुल्लिकाश्चापि सत्कुर्याद्गुणमालिनीः ।
यस्माच्चतुर्विधे सङ्घे दत्तं बहुफलं भवेत् ॥१८७॥

अर्थात्—आर्यिका तथा शीलगुण वगैरह पालन करने वाली श्राविकाओं का भी उनके योग्य सत्कार करना चाहिये । क्योंकिमुनि आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका इन चार प्रकार के पात्रों को दिया हुआ बहुत फल का देने वाला होता है ।

सर्वान्धर्मार्थकामानां यथायोग्यमुपाचरन् ।
त्रिवर्गसम्पदा प्राज्ञोऽमुत्रेह च प्रमोदते ॥१८८॥

अर्थात्—धर्म अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिये सहायता करने वाले मित्रोंका—जो बुद्धिमान यथायोग्य सत्कार करते हैं वे त्रिवर्ग सम्पत्ति से इह लोक में तथा परलोक में आनन्द को प्राप्त होते हैं।

अकीर्त्या क्लिश्यते चित्तं तत्क्लेशश्चाऽशुभावहः।
चित्तप्रसत्तये तस्माच्छ्रेयसे तां सदार्जयेत् ॥१८९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—संसार में अपयश होने से चित्त में एक तरह का दुःख होता है और वही क्लेश अशुभ (पाप) का कारण है इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को—अपने चित्त की प्रसन्नता के लिये कल्याण के अर्थ कीर्त्ति (यश) का सम्पादन करना चाहिये।

गुणाननन्यसदृशान्कीर्त्यर्थी गुण्यसंस्तुतान्।
दानशीलतपोमुख्यांस्तान्नित्यं धारयेद्गृही ॥१९०॥

अर्थात्—संसार मे अपनी कीर्त्तिके चाहनेवाले सज्जन पुरुषों को—जो गुण दूसरे साधारण पुरुषों में न पाये जायँ, जिनकी बड़े २ बुद्धिमान लोग प्रशंसा करते हैं ऐसे दान, शील, तथा तप आदि प्रधान २ गुण धारण करना चाहिये।

अब दयादत्ति का वर्णन करते हैं।

सर्वेभ्यो जीवराशिभ्यः स्वशक्त्या करणैस्त्रिभिः।
दीयतेऽभयदानं यद्दयादानं तदुच्यते ॥१९१॥

अर्थात्—सम्पूर्ण जीवमात्रके लिये कृत, कारित तथा अनुमोदना से अपनी शक्तिके अनुसार अभयदान (जीवदान) देने को बुद्धिमान लोग दयादान (दयादत्ति) कहते हैं।

कानीनानाथदीनानां क्षुदाद्यैः पीडितात्मनाम्।
सुखिनः सन्तु बुद्ध्येति दानं भुक्त्यादि दीयताम् ॥१९२॥

अर्थात्—क्षुधादि असह्य दुःखों से जिनकी आत्मा पीड़ित हो रही है ऐसे कानीन (कन्यासे पैदा होनेवाले) तथा अनाथ आदि दुःखी पुरुषोंके लिये—ये लोग किसी प्रकार सुखी होवें इस बुद्धि से आहार, औषधादि दान देना चाहिये।

आपद्गताञ्जनान्सर्वानुद्धरेच्च स्वशक्तितः ।
जैनान्विशेषतो भक्त्या दयावान्दातृकुञ्जरः ॥१९३॥

अर्थात्—करुणावान श्रेष्ठ दाताको—सम्पूर्ण दुःखी जीवों का अपनी शक्तिके अनुसार दुःख दूर करना चाहिये। उसमें भी जिन धर्मानुयायी पुरुषों का तो विशेष भक्तिपूर्वक दुःख दूर करना चाहिये।

इहामुत्र दयार्द्रान्तःकरणो वल्लभो भवेत् ।
दयारिक्तस्तु सर्वत्र भुवो भारायते जनः ॥१९४॥

अर्थात्— ग्रन्थकार कहते हैं—जिनभव्यपुरुषों का हृदय दया से आर्द्र (भीजा हुआ) है वे पुरुष इस लोक में तथा परलोक में भी सम्पूर्ण जीवों के प्रेमपात्र होते हैं और जो लोग दयारहित हैं उन्हें तो मनुष्य रूप में केवल पृथ्वी को भार देनेवाले कहना चाहिये।

बिभ्यतामङ्गिनां दुःखात्समेषामभयप्रदः ।
दातृज्येष्ठः कृपार्द्रासौ निर्भयो लभते सुखम् ॥१९५॥

अर्थात्—दुःखों से डरनेवाले जीवमात्र को अभयदान का देनेवाला अर्थात्—उनके प्राणो की रक्षा करनेवाला और जिसका हृदय अत्यन्त दयालु है वह श्रेष्ठदाता निर्भय होकर सुख को प्राप्त होता है।

पाक्षिको नैष्ठिकश्चाथ गृही कालादिलब्धितः ।
सामग्रीवशतो दीक्षामेकामादातुमुद्यतः ॥१९६॥

अर्थात्—कालादिलब्धि की प्राप्ति रूप सामग्री के वशसे पाक्षिक गृहस्थ अथवा नैष्ठिक गृहस्थ दीक्षाके ग्रहण करनेमें प्रयत्न शील होता है।

अब सकलादत्ति का वर्णन करते हैं—

समर्थाय स्वपुत्राय तदभावेऽन्यजाय वा ।
यदेतद्दीयते वस्तु स्वीयं तत्सकलं मतम् ॥१९७॥

अर्थात्—सर्वतरह समर्थ अपने पुत्रके लिये अथवा पुत्रके न होने पर दूसरे से उत्पन्न होनेवाले (दत्तक) पुत्रके लिये अपनी धन धान्यादि सम्पूर्ण वस्तु का जो देना है उसे सकलादत्ति कहते हैं।

परिग्रहविरक्तस्य दानमेतत्प्रजायते ।
यतस्तदुत्तमं दानं प्रशस्यं कस्य नो भवेत् ॥१९८॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—यह सकलादत्ति जो पुरुष परीग्रह से विरक्त है उसीके होती है इसलिये ऐसा कौन होगा जिसे यह उत्तम दान अच्छा न लगेगा किन्तु सभी को अच्छा लगेगा ।

तृष्णाग्निना ज्वलत्येतज्जगद्वनमशेषतः ।
परिग्रहपरित्यागघनेनैव प्रशाम्यति ॥१९९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—यह संसार रूप गहन वन तृष्णा रूप अग्नि से चारों ओर जल रहा है । यह परिग्रह के त्याग रूप मेघ से ही बुझेगा ।

भावार्थ—जो लोग संसार के नाश करने की इच्छा रखते हैं उन्हें संसार के कारण परीग्रह का त्याग करना चाहिये ।

परिग्रहग्रहग्रस्ता भोगभूजेन्द्रचाक्रिणः ।
तादृशाः सुखिनो नैव यादृग्दाताऽस्य सर्वदा ॥२००॥

अर्थात्—इस परिग्रह रूप पिशाचसे ग्रसित भोगभूमि मनुष्य, इन्द्र तथा चक्रवर्त्ति उतने सुखी नहीं हैं । जितने सुखी इस सकलादत्ति के देने वाले हैं ।

त्रिशुद्ध्या गृहिणा तस्माद्वाञ्छाता हितमात्मनः ।
दीयतां सकलादत्तिरियं सर्वसुखप्रदा ॥२०१॥

अर्थात्—इसलिये अपने आत्मा का हित चाहनेवाले भव्य गृहस्थों को—सम्पूर्ण प्रकार के उत्तम २ सुखों के देनेवाली यह सकलादत्ति मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक देनी चाहिये ।

अब समानदत्ति का वर्णन करते हैं—

कुलजातिक्रियामन्त्रैः स्वसमान सधर्मणे ।
भूकन्याहेमरत्नाऽश्वरथहस्त्यादि निर्वपेत् ॥२०२॥

अर्थात्—कुल, जाति, क्रिया तथा मन्त्रादि से अपने समान सधर्मी पुरुषोंके-लिये पृथ्वी, कन्या, सुवर्ण, रत्न, अश्व, रथ, हस्ति आदि वस्तुएं देनी चाहिये।

निरन्तरेहया गर्भादीनादिक्रियमंत्रयोः।
व्रतादेश्च सधर्मेभ्यो दद्यात्कन्यादिकं शुभम् ॥२०३॥

अर्थात्—गर्भाधानादि क्रिया, मंत्र, तथा व्रतादि के निरन्तर चलने की इच्छासे अपने समान सधर्मी पुरुषोंके लिये कन्या, पृथ्वी, सुवर्ण, रत्न, हाथी वगैरह उत्तम २ वस्तुएं देनी चाहिये।

निस्तारकोत्तमं यज्ञकल्पादिज्ञं बुभुक्षुकम्।
वरं कन्यादिदानेन सत्कुर्वन्धर्मधारकः ॥२०४॥

अर्थात्—संसार के तिरने के लिये प्रयत्न करने वालों में श्रेष्ठ, प्रतिष्ठादि विधियोंका जाननेवाला तथा बुभुक्षु ऐसे पुरुषोंको—कन्या, सुवर्ण, हाथी, रथ, अश्व, पृथ्वी, रत्न आदि उत्तम २ पदार्थ के दान से सत्कार करने वाला पवित्र धर्मका धारक कहा जाता है।

दात्रा येन सती कन्या दत्ता तेन गृहाश्रमः।
दत्तस्तस्मै त्रिवर्गेण गृहिण्येव गृहं यतः ॥२०५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—जिस दाता ने अपनी कुलवती कन्या का दान दिया है समझो कि—उसने कन्यादान लेनेवाले को-धर्म, अर्थ, कामके साथ २ गृहस्थाश्रमही दिया है क्योंकि-गृहिणी (पत्नी) ही को तो घर कहते है।

कुलवृत्तोन्नतिं धर्म्मसन्ततिं स्वेच्छया रतिम्।
देवादीष्टिं च वाञ्छन्सत्कन्यां यत्नात्सदा वहत् ॥२०६॥

अर्थात्—अपने कुल की उन्नति, वृत्त की उन्नति, धर्ममार्ग में चलने वाली सन्तति (पुत्रादि), अपनी इच्छानुसार सम्भोग सुख तथा जिनदेवादिकी पूजन आदिके चाहने वाले पुरुषों को—प्रयत्न पूर्वक उत्तम कन्या के साथ विवाह करना चाहिये।

धर्मपत्नीं विना पात्रे दानं हेमादिकं मुधा।
कीटैर्वोभुज्यमानेऽन्तः कोऽम्भः सेकाद्गुणो द्रुमे ॥२०७॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—जिस पुरुष के धर्मपत्नी (स्त्री) नहीं है उसके लिये सुवर्ण, रत्न, रथ, अश्व, हाथी आदि पदार्थों का दानदेना एक तरह व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं-जिस वृक्षके भीतर के भाग को कीडोंने खा-लिया है उसमें जलसिञ्चन करना जिसतरह व्यर्थ है।

भावार्थ—जिस वृक्षको भीतर से जन्तु खाकर सड़ादेते हैं फिर उसमें—जल सिञ्चन करने से कुछ फायदा नहीं होता उसी तरह स्त्री के विना सुवर्णादिवस्तुओं का दान निष्फल है।

गोचरेषु सुखभ्रान्तिमोहकर्मोदयोद्भवाम्।
हित्वा तदुपभोग्येन मोचयेत्तान्परं स्ववत् ॥२०८॥

अर्थात्—चारित्रमोहनी कर्म के उदय से होनवाली सुख की भ्रान्ति को विषयों के अनुभव से छोड़कर-जिस प्रकार स्वयं विषयों से विरक्त हुवा है उसी तरह उन सधर्मी पुरुषों को भी विषयों से विरक्त करै।

दद्यात्कन्याधरादीनि पाक्षिको न तु नैष्ठिकः।
हिंसार्थत्वान्न दृग्द्वेषिसक्रान्तिश्राद्धपर्वणि ॥२०९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है—कन्या, पृथ्वी, सुवर्ण, रथ, रत्न आदि वस्तुओंका दान पाक्षिकश्रावक देवै नैष्ठिकश्रावक को नहीं देना चाहिये। परन्तु हिंसा का कारण होने से-सम्यग्दर्शन के शत्रुरूप सक्रान्त पर्व में तथा श्राद्धपर्व में तो यह भी नहीं देना चाहिये।

समदानफलेनाऽसौ भूत्वा त्रैवर्गिकाग्रणीः।
मोहमाहात्म्यमुच्छेद्य मोक्षेऽपि वलवान्भवेत् ॥२१०॥

अर्थात्—इसी समदत्ति के फल से यह पाक्षिक श्रावक धर्म, अर्थ, काम के धारण करने वालों में अग्रणी होकर और मोह की महिमा का नाश करके मोक्ष में जाने योग्य होता है। इस विषय में जिन्हें विशेष देखना हो उन्हें आदिपुराण, चारित्रसार सागारधर्मामृतादि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

॥ दानम् ॥

वाचनाप्रच्छानाम्नायाऽनुप्रेक्षा धर्मदेशनम् ।
स्वाध्यायं च पञ्चधा कुर्यात्काले ज्ञानविवृद्धये ॥२११॥

अर्थात्—ज्ञान की दिनोंदिन वृद्धि के लिये भव्य पुरुषों को—वाचना, प्रच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा तथा धर्मोपदेश ये पांच प्रकार स्वाध्याय करना चाहिये ।

स्वाध्यायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तितः ।
अज्ञानप्रतिकूलत्वात्तपःस्वेष परं तपः ॥२१२॥

अर्थात्—ग्रन्थकार स्वाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं—जैन शास्त्रोंके अनुसार अपने लिये अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते हैं । और यही स्वाध्याय अज्ञानका नाश करनेवाला है इसलिये तप में यह उत्कृष्ट तप भी है ।

स्वाध्यायाज्ज्ञानवृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्यमुल्वणम् ।
तस्मात्सङ्गपरित्यागस्ततश्चित्तानिरोधनम् ॥२१३॥
तस्मिन्ध्यानं प्रजायेतं ततश्चात्मप्रकाशनम् ।
तत्र कर्मक्षयाऽवश्यं स एव परमं पदम् ॥२१४॥

॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—स्वाध्याय के करने से ज्ञान की वृद्धि होती है ज्ञान की वृद्धि होने से चित्तमें उत्कट वैराग्य होता है वैराग्य के होने से परिग्रह का त्याग (छोड़ना) हाता है परिग्रह के त्याग से चित्त अपने वशमें होता है चित्तके वशी होने से ध्यान होता है ध्यान के होने से आत्मा की उपलब्धि होती है आत्मा की उपलब्धि होने से ज्ञानावर्णादि आठ कर्मों का नाश होता है और कर्मों का नाश ही मोक्ष कहा जाता है ।

भावार्थ—यह स्वाध्याय परम्परा मोक्ष का कारण है इसलिये भव्य पुरुषों को–शक्त्यनुसार स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये ।

सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिध्यन्ति ये ते स्वाध्यायतो ध्रुवम् ।
अतः स एव मोक्षस्य कारणं भववारणम् ॥२१५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं-पूर्वकाल में जितने सिद्ध हुवे हैं आगामी होंगे तथा वर्त्तमान में होने योग्य हैं वे सब नियम से इस स्वाध्याय से ही हुवे हैं होंगे तथा होनेवाले हैं इसलिये संसार का नाश करने वाला यही स्वाध्याय मोक्ष का कारण है।

इति सद्गृहिणा कार्यो नित्यो नैमित्तिकोऽपि च।
स्वाध्यायो रहसि स्थित्वा स्वयोग्यं शुद्धिपूर्वकम् ॥२१६॥

अर्थात्—इस प्रकार स्वाध्याय को परम्परा मोक्ष का कारण समझ कर भव्यगृहस्थों को—एकान्त स्थान में बैठकर मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक स्वाध्याय करना चाहिये।

॥ स्वाध्यायः ॥

मनःकरणसंरोधस्त्रसस्थावरपालनम्।
संयमः सद्गृही तं च स्वयोग्यं पालयेत्सदा ॥२१७॥

अर्थात्—मन और इन्द्रियों के वश करने को तथा त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने को संयम कहते हैं। इसलिये सद्गृहस्थों को—अपने योग्य संयम निरन्तर पालन करना चाहिये।

संयमो द्विविधो हि स्यात्सकलो विकलस्तथा।
आद्यः तपस्विभिः पाल्यः परस्तु गृहिभिस्तथा ॥२१८॥

अर्थात्—उपर्युक्त संयम—सकलसंयम तथा विकलसंयम इस प्रकार दो भेद रूप हैं। सकलसंयम मुनिलोगों के धारण करने योग्य होता है तथा विकलसंयम गृहस्थ लोगों के पालन करने योग्य है।

आरंभेन विना वासो गृहे स न विना वधात्।
मुच्यो मुख्यः सयत्नेन दुर्मोच्योऽवश्यभाविकः ॥२१९॥

अर्थात्—आरंभके विनातो गृहमें रहना नहीं हो सकना और हिंसा के विना आरम्भ नहीं होता।

भावार्थ—आरम्भ में जीवों की हिंसा अवश्य होती है। इसलिये-

प्रधान जो आरम्भ है वह तो प्रयत्न पूर्वक छोड़ा जा सकता है परन्तु आरम्भ के साथ २ आवश्यकीय होने वाला जो वध (हिंसा) है वह कठिनता से छूटता है।

त्यजेद्ववादिभिर्वृत्तिं नैष्ठिको बन्धनादिना।
विना भोग्यानुपेयात्तान्निर्दयं वा न योजयेत् ॥२२०॥

अर्थात्—नैष्ठिक श्रावक को—गाय आदि पशुओं के द्वारा अपनी जीविका नहीं करनी चाहिये यदि करे भी तो बन्धन आदि से रहित होना चाहिये। तथा पशुओं की रक्षा में निर्दयी पुरुष को नियोजित नहीं करना चाहिये।

तपस्यन्नपि मिथ्यात्वसंयमेन विनाऽधिकम्।
पश्चाग्न्यादिभिरेकाग्न्यं देवो भूत्वा भवी भवेत् ॥२२१॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—मिथ्यादृष्टि पुरुष और संयम (मन और इन्द्रियों का वश करना, त्रस तथा स्थावर जीवों की रक्षा) के बिना पश्चाग्नि आदिसे एकाग्रता पूर्वक बहुत तपश्चरण करके तपादि के प्रभाव से देव होकर भी फिर संसारी हो जाता है।

भावार्थ—संयम के विना कितना भी तपश्चरण क्यों न किया-जाय वह सब निष्फल है इसलिये संयमी होना जीवमात्र को आवश्यक है।

सम्यक्त्वरहितं ज्ञानं चारित्रं ज्ञानवर्जितम्।
तपः संयमहीनं च यो धत्ते तन्निरर्थकम् ॥ २२२ ॥

अर्थात्—जो पुरुष सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान, ज्ञान रहित चारित्र तथा संयम रहित तप धारण करता है उस का यह धारण करना सब निष्प्रयोजन है।

ऋते नृत्वं न कुत्राऽपि संयमो देहिनां भवेत्।
मत्वेत्येकापि कालस्य कला नेया न तं विना ॥२२३॥

अर्थात्—इस पवित्र मानव पर्याय को छोड़ कर और किसी पर्याय में जीवों को संयम नहीं होता है। ऐसा समझ कर आत्महित

चाहने वाले सत्पुरुषों को—काल की एक कला भी संयम के विना नहीं खोनी चाहिये।

॥ संयमः ॥

कर्माणि षण्मयोक्तानि गृहिणो वर्णभेदतः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधाः॥२२४॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—गृहस्थों के जो छह कर्म हैं उनका वर्णन मैं कर चुका। वे गृहस्थ वर्णभेद से—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इस प्रकार चार भेद रूप हैं।

यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाध्यापने तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥२२५॥

अर्थात्—जो द्विजन्म हैं उनके—पूजन करना, कराना, स्वयं पढ़ना, पढ़ाना, दान देना तथा दान लेना ये छह कर्म हैं।

यजनाध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
जातितीर्थप्रभेदेन द्विविधा ब्राह्मणादयः ॥ २२६ ॥

अर्थात्—क्षत्रिय, वैश्य ~~तथा शूद्र~~ इन तीन वर्णों के यजन (पूजन करना) अध्ययन (पढना) तथा दान देना ये तीन कर्म हैं पुनः वे ब्राह्मणादि जाति तथा तीर्थ इन दो भेदो से दो २ प्रकार हैं।

स्वस्वकर्मरताः सर्वे ते च स्युर्जातिक्षत्रियाः।
मन्त्र्यादिपदमारूढा जीवने तीर्थक्षात्रियाः ॥ २२७ ॥

अर्थात्—जो क्षात्रियलोग अपने २ कर्म में तत्पर हैं वे जातिक्षत्रिय कहलाते हैं और जो क्षत्रियलोग अपनी आजीविका के अर्थ मंत्री आदि पद को धारण किये हुवे हैं उन्हें तीर्थक्षात्रिय कहते हैं।

रत्नत्रयपवित्रत्वाद्ब्रह्मसूत्रेण लाञ्छिताः।
पूजिता भरताद्यैस्ते बाह्मणा धर्मजीविनः ॥ २२८ ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के धारण से पवित्र होने से ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से म-

ण्डित, भरत चक्रवर्त्ति आदि उत्तम पुरुषों से सत्कारा किये हुवे तथा धर्म ही जिनका आजीवन है वे ब्राह्मण कहे जाते हैं ।

क्षतात्पीडनतो लोकांस्त्रायन्ते क्षत्रियाऽस्तु ते ।
ऐक्ष्वाकाद्याः स्वखड्गेन प्रजाषड्भागभागिनः ॥२२९॥

अर्थात्—कष्टादि से दुःख को प्राप्त होने वाले लोकों की जो अपनी तलवार के बल से रक्षा करते हैं प्रजा के छठे भाग के अधिकारी तथा ईक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न होने वाले वे लोग क्षत्रिय कहेजाते हैं।

मषिः कृषिश्च वाणिज्यकर्मत्रितयवेतनाः ।
वैश्याः केचिन्मताश्चान्यैः पशुपालनतोऽपि च ॥२३०॥

अर्थात्—मषि कृषि तथा वाणिज्य (व्यापार) ये तीन कर्म जिनकी लोक यात्रा के निर्वाह के कारण हैं वे वैश्य कहे जाते हैं और कितनों का कहना है कि—पशुओ के पालन करने से भी वैश्य होते हैं ।

त्रिवर्णस्य समा ज्ञेया गर्भाधानादिकाः क्रियाः ।
व्रतमन्त्रविवाहाद्यैः पङ्क्त्या भेदो न विद्यते ॥२३१॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों वर्ण की व्रत मंत्र तथा विवाहादि से गर्भाधानादि क्रियाये एकही सी है और न इन तीनों वर्णों में पंक्ति भेद समझना चाहिये ।

पशुपाल्यात्कृषेः शिल्पाद्वर्तन्ते तेषु केचन ।
शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः ॥२३२॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों में कितने तो पशु पालन से अपना निर्वाह करते हैं कितने कृषिकर्म से तथा कितने शिल्प विद्या से करते हैं । और जो इन तीन वर्णों के मनुष्यों की बर्त्तन, भूषण तथा वस्त्रादि से सेवा करते है उन्हें शूद्र समझना चाहिये ।

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधाः शूद्राः प्रकीर्त्तिताः ।
येषां सकृद्विवाहोऽस्ति तेचाऽऽद्याः परथा परे ॥२३३॥

अर्थात्—उन शूद्रों के सत्—शूद्र तथा असत्—शूद्र ऐसे दो विकल्प हैं। जिन शूद्रों का एकही वक्त विवाह होता है वे सत्—शूद्र हैं और जिनका पुनः पुनः विवाह होता है वे असत्—शूद्र हैं।

सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधाः।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः ॥२३४॥

भावार्थ—सत्—शूद्रों के भी स्वाधीन तथा पराधीन ऐसे दो विकल्प हैं। जो दासी तथा दास हैं वे पराधीन सत्—शूद्र हैं और जो दासी दास न रह कर अपनी आजीविका का निर्वाह स्वयं करते हैं उन्हें स्वाधीन सत्—शूद्र कहते हैं।

असच्छूद्रा तथा द्वेधाः कारवोऽकारवः स्मृताः।
अस्पृश्याः कारवश्चान्त्यजादयोऽकारवोऽन्यथा ॥२३५॥

अर्थात्—तथा असत्-शूद्र के भी—कारव तथा अकारव ऐसे दो भेद हैं जो स्पर्श करने योग्य नही है उन्हें कारव असत्-शूद्र कहते हैं और जो अन्त्यज आदि लोग हैं उन्हें अकारव असत्—शूद्र समझना चाहिये।

अस्पृश्यजनसंस्पर्शान्मृद्भाण्डं वर्जयेत्सदा।
लोहभाण्डं भवेच्छुद्धं भस्मनः परिमार्जनात् ॥२३६॥

अर्थात्—अस्पृश्य शूद्रों का स्पर्श हो जाने से मृत्तिका के वर्त्तनों को फिर काम में न लाकर उन्हे फेंक देना चाहिये। और लोहे का वर्त्तन यदि अस्पृश्य शूद्रों से छूजाय तो वह भस्म (राख) से माँजने से शुद्ध हो सकता है।

भुक्तं मृद्भाण्डपर्णादिस्पृश्येतरजनैस्त्यजेत्।
लोहं भस्माग्निशुद्धं स्याद्भुक्तं संस्पृश्यजातिभिः ॥२३७॥

अर्थात्—अस्पृश्य शूद्रों से भोजन किये हुवे मृत्तिका के वर्तन तथा पत्रादिको छोड देना चाहिये। और स्पृश्य जाति के शूद्रों से भोजन किये हुवे लोह के भाजन भस्म (राख) तथा अग्नि से शुद्ध होते हैं।

यद्यस्पृश्यजनैर्भुक्तं कांश्यादिघटयेन्नवम् ।
अस्थ्यादिस्पृष्टं तद्भाण्डमयस्काराग्निना शुचि ॥२३८॥

अर्थात्—यदि अस्पृश्य शूद्र कांशी, पीतल, आदि के वर्त्तनों में भोजन करै तो उसे फिर नवीन ही बनाना चाहिये जबतक वह फिर से न बनाया जायगा तबतक शुद्ध नहीं हो सकता । यदि हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओं का उनवर्तनों से स्पर्श होजाय तो वे लोहार की अग्नि से अर्थात् लोहार के द्वारा अग्नि में तपाने से शुद्ध होसकते हैं क्योंकि—भस्त्रिका की अग्नि से वर्तन खूब ही तप्त होजाता है इसी से लोहार से तपाने की विधि है ।

अस्पृश्यजनसंस्पृष्टं धान्यकाष्ठफलाम्बरम् ।
इत्यादिस्वर्णपूताम्बुप्रोक्षणेनैव संस्पृशेत् ॥२३९॥

अर्थात्— अस्पृश्य शूद्रों से छूये हुये धान्य, काष्ठ, फल तथा वस्त्रादि वस्तुओं को—स्वर्ण से पवित्र किये हुये जल से सीच कर फिर उन्हे स्पर्श करना चाहिये ।

स्पृश्याऽस्पृश्यपरिज्ञाने वर्ण्यते जातिनिर्णयः ।
तद्भेदो मुनिभिश्चक्रे कर्मभूमेः प्रवेशने ॥२४०॥

अर्थात्—स्पृश्यजाति तथा अस्पृश्य जाति के जानने के लिये जाति का निर्णय किया जाता है इसका भेद प्राचीन मुनिलोगों ने कर्मभूमि के प्रवेश के समय में कहा है ।

अस्यामेवावसर्पिण्यां भोगभूमिपरिक्षये ।
अभीष्टफलदातॄणां विनाशे कल्पभूरुहाम् ॥२४१॥
क्षुत्पिपासादिसन्तप्ताः प्रजाः प्रणतकास्तदा ।
इति विज्ञापयन्देवं नाभेयं समुपत्य वै ॥२४२॥

॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—इसी हुण्डावसर्पिणी काल में भोगभूमि का सर्वथा नाश होजाने पर तथा मनोऽभिलषित फल के देनेवाले दशप्रकार के

कल्पतरुओं का अभाव हो जाने पर क्षुधा, पिपासादि की पीड़ा से आकुलित होकर सर्व प्रजा के लोक उसी समय भगवान आदि जिनेंद्र के पास जाकर यों प्रार्थना करने लगे—

वयं त्वां शरणं प्राप्ता वाञ्छन्तो जीविकां प्रभो ।
त्रायस्व नः प्रजेशस्त्वं तदुपायोपदेशतः ॥२४३॥

अर्थात्—हेप्रभो ! अपनी आजीविका के लिये आप के आश्रय आये हैं आप आजीविका के उपाय का उपदेश देने से प्रजा के स्वामी हैं इसलिये हमलोगों की रक्षा करो ।

आकर्ण्येतिवचस्तासां दीनं करुणयेरितः ।
वृषभश्चिन्तयामास हितमेवं शरीरिणाम् ॥२४४॥

अथात्—करुणा से प्रेरणा किये हुवे भगवान आदि जिनेन्द्र प्रजा के दीन वचनों को सुनकर उनके हित का इसप्रकार चिन्तवन करने लगे ।

विदेहेषु स्थितिर्नित्या यासावत्र विधीयते ।
षट्कर्मविधिसंयुक्ता वर्णत्रयकृता भिदा ॥२४५॥

अर्थात्—असि, मृषि, कृषि आदि छह कर्म युक्त तथा ब्राह्मण क्षत्रियादि तीनवर्ण से जिस मे भेद है ऐसी नित्य स्थिति जो विदेह क्षेत्र में है वही यहां भी चलाई जाय ।

मत्वेति चिन्तितं देवं तदैवाऽयात्सहाऽमरैः ।
शक्रस्तज्जीवनोपायमिति चक्रे विभागशः ॥२४६॥

अर्थात्—भगवान आदि जिनेंद्र को चिन्ता युक्त देख कर उसी समय सब देवों के साथ इन्द्र भी आया और विभाग पूर्वक प्रजा के जीवन का उपाय इस तरह किया ।

शुभे लग्ने सुनक्षत्रे विनीतायां जिनालयम् ॥
कृत्वा नगरमन्यच्च ग्रामादिजनरक्षकम् ॥२४७॥
प्रपाय्येक्षुरसं मिष्टं प्रजानां तत्प्रपालकः ।
गोत्रमिक्ष्वाकुनामाऽसौ लेभे ताभ्यस्तत्क्षणात् ॥२४८॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—प्रजापालक श्रीआदिजिनेन्द्र—शुभलग्न में तथा शुभ नक्षत्र में जिन मन्दिर तथा मनुष्यों की रक्षा के लिये नगरग्रामादि का निर्माण करके इसके बाद प्रजा के लोगों को साठेका रस पिला कर प्रजाके द्वारा उसी समय इक्ष्वाकुगोत्र इसनाम को प्राप्त हुवे।

असिमष्यादिषट्कर्मप्रजाजीवनकारणम् ।
पृथक्पृथगुपादिश्य विधाताऽऽसीज्जगद्गुरुः ॥२४९॥

अर्थात्—प्रजा के आजीविका के कारण असि, मषि, कृषि आदि छह कर्मों का अलग २ उपदेश करके जगद्गुरु श्री आदि जिनेन्द्र आदिब्रह्मा (प्रजापति) हुवे।

तत्तत्कर्मानुसारेण जाता वर्णास्त्रयस्तदा ।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः कृतास्तेऽनादिवेधसा ॥२५०॥

अर्थात्—उसीसमय अपने २ कर्म के अनुसार प्रजा में तीनवर्ण हुवे उन्हें आदि जिनेन्द्रने क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र इनतीन नामों से युक्त किये।

परीक्ष्याऽऽद्येनचक्रेशा क्षत्रिया व्रततत्पराः ।
ब्राह्मणाः स्थापिता दानहेतवे ब्रह्मभक्तितः ॥२५१॥

अर्थात्—इसके बाद आदि चक्रवर्त्ति भरत महाराज ने परीक्षा करके व्रत धारण करने वाले क्षत्रिय लोगों को ब्रह्मभक्ति से दान के लिये ब्राह्मण निर्माण किये।

त्रिवर्णेषु जायन्ते ये चोच्चैर्गोत्रपाकतः ।
देशावयवशुद्धानां तेषामेवमहाव्रतम् ॥२५२॥

अर्थात्—जो लोग उच्चगोत्र बन्ध के फल से ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण में उत्पन्न होते हैं एक देश व्रतादि शुद्ध उन्हीं लोगों के महाव्रत होता है।

नीचैर्गोत्रोदयाच्छूद्रा भवन्ति प्राणिनो भवे ।
प्रमत्तादिगुणाभावात्तेषां स्यात्तदणुव्रतम् ॥२५३॥

अर्थात्—यह जीव नीच गोत्र के उदय से शूद्र कुल में उत्पन्न होता है। प्रमत्तादि गुण स्थानों के न होने से उसके अणुव्रत होता है।

मनुष्यगतिरेकैव विपाकान्नामकर्मणः ।
चारित्रावृत्तिभेदाच्च गोत्रकर्मोदयादपि ॥ २५४ ॥

अर्थात्—नाम कर्म के विपाक से, चारित्र से, वृत्ति (जीविका) के भेद से तथा गोत्रकर्म के उदय से एक मनुष्यगति ही होती है।

चतुर्वर्णाः समुद्दिष्टाः पुरा सर्वविदा खलु ।
कैवल्याऽऽर्हास्त्रयः पूज्या हीनोन्त्यस्तदभावतः ॥२५५॥

अर्थात्—भगवान् आदि जिनेन्द्र ने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनवर्णों को केवल ज्ञान के योग्य बताये हैं इसलिये ये पूज्य हैं और शूद्रों को केवलज्ञान नहीं होता है इसलिये वे नीच कहे जाते हैं।

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनम् ।
कर्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥२५६॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णों को परस्पर में विवाह तथा एक साथ भोजन करना चाहिये। शूद्रों के साथ नहीं करना चाहिये। तथा शूद्रों को अपने जाति के साथ ही विवाह तथा भोजनादि करना चाहिये।

स्वां स्वां वृत्तिं समुत्क्रम्य यः परां वृत्तिमाश्रयेत् ।
स दण्ड्यः पार्थिवैर्वाढं वर्णसङ्करताऽन्यथा ॥२५७॥

अर्थात्—इन चारों वर्णों में अपनी २ वृत्ति का उल्लंघन करके जो दूसरों की वृत्ति का आश्रय ले—राजा लोगों को चाहिये कि—उन्हे अच्छी तरह दंड देवें ऐसा न किया जायगा तो वर्ण संकरता होगी।

अब सूतक का वर्णन करते हैं—

पञ्चातायां प्रसूतौ च दिनानि दश सूतकम् ।
एकादशाऽह्ने संशोध्य गृहं वस्त्रं तनुं तथा ॥२५८॥

मृद्भाण्डानि पुराणानि बहिःकृत्य विधाय च ।
शुद्धां पाकादिसामग्रीं पूजयेत्परमेश्वरम् ॥२५९॥
॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—प्रसूति के मरने पर दश दिन सूतक पालन करना चाहिये इसके बाद ग्यारहवें दिन घर, वस्त्र तथा शरीरादि शुद्ध करके और मृत्तिका के पुराने वर्तनों को अलग करके तथा पवित्र भोजनादि सामग्री बनाकर पहले ही जिन भगवान की पूजन करनी चाहिये ।

श्रुतं च गुरुपादांश्च पूजयित्वा यथाविधि ।
व्रतोद्योतनमादाय शुद्धो भूत्वा प्रवर्त्तताम् ॥२६०॥

अर्थात्—शास्त्रों की तथा मुनिराजों के पादार्विन्दों की यथा शास्त्रानुसार पूजन करके तथा व्रतका उद्यापन करके शुद्ध होकर फिर कार्य में लगना चाहिये ।

सूतके न विधातव्यं दानाऽध्ययनपूजनम् ।
नीचैर्गोत्रस्य बन्धत्वाद्गोत्रिणां पञ्चवासरान् ॥ २६१ ॥

अर्थात्—सूतक में दान, अध्ययन तथा जिन पूजनादि शुभ-कर्म नहीं करना चाहिये, क्योंकि सूतक के दिनों में दान पूजनादि करने से नीच गोत्र का वन्ध होता है और गोत्र के लोगों को पांच दिन पर्यन्त नही करना चाहिये ।

मतान्तरादिवापश्च दश द्वादश पक्षकम् ।
क्षत्रियद्विजवैश्यानां शूद्राणां सूतकः क्रमात् ॥२६२॥

अर्थात्—अन्यमत के आधार से—क्षत्रिय कुलोद्भव लोगों को पांच दिन, ब्राह्मण लोगो को दश दिन, वैश्यवंश समुत्पन्न लोगों को बारह दिन तथा शूद्र लोगों को पन्द्रह दिन पर्यन्त सूतक पालन करना कहा है ।

ग्रन्थ कार—मृत्यु सम्बन्धि सूतक का वर्णन करके अब रजस्वला स्त्री के सूतक का तथा रजस्वला स्त्री को किस तरह रहना चाहिये इस विषय का खुलासा करते है ।

कुर्यात्पुष्पवती मौनमास्नानं पुष्पदर्शनात् ।
अभुक्ता वर्जयेद्भुक्तिं पुनर्भुक्ता च तद्दिने ॥२६३॥

अर्थात्—पुष्पवती (रजस्वला) स्त्री को पुष्प के देखने के दिन से स्नान पर्यन्त मौन पूर्वक रहना चाहिये । यदि भोजन करने के पहले रजस्वला होजाय तो फिर भोजन नहीं करना चाहिये । अथवा भोजन करने के बाद रजस्वला होवै तो फिर उस दिन भोजन नहीं करना चाहिये ।

किन्तु—

तद्दिनात्त्रीणि सान्यानि दिनानि परिपालयेत् ।
शुम्भिगेहस्य वस्तूनि मा स्पृशेन्मा भ्रमेद्गृहे ॥२६४॥

अर्थात्—पुष्प दर्शन के दिन से लेकर तीन दिन पर्यन्त पालन करना चाहिये । तथा केलिगृह की वस्तुओं को नतो छूना चाहिये और न घर मे भ्रमण करना योग्य है ।

चौरीव रहसि प्रायस्तिष्ठन्ती मा वदेद्बहु ।
स्नायं स्नायं सचेलं चेद्भुञ्जीत रसवर्जितम् ॥२६५॥

अर्थात्—चौरी करने वाली स्त्री के समान बहुधा करके एकान्त स्थान में ही रजस्वला स्त्री रहै तथा न बहुत बोले और भोजन करने के समय वस्त्र सहित स्नान करके रस रहित भोजन करै ।

चण्डालिनीव दूरस्था मृद्भाण्डेऽगदले करे ।
समश्नुवीत मौनेन पापशत्रुभयादियम् ॥२६६॥

अर्थात्—चण्डालिनी के समान अलग वैठी हुई रजस्वला स्त्री को पाप शत्रु के डर से मृत्तिका के वर्तन में, वृक्षो के पत्रों में अथवा अपने हाथ ही में मौन पूर्वक भोजन करना चाहिये ।

भुञ्जीत पत्रकांशादिपात्रे सा तत्पुनर्नवम् ।
घटयेद्यदि शुद्धं स्यात्तदा नाऽपरथा क्वचित् ॥२६७॥

अर्थात्—यदि रजस्वला स्त्री कांशी, पीतल आदि धातुओं के भाजन में भोजन करै तो वह भाजन फिर से नया वनाया जावै तबही

शुद्ध (काम में लाने योग्य) होसकता है विना फिर से नवीन बनाये कभी पवित्र नही होसकता।

तस्याः स्पृष्टं जलाद्यं नो कल्पते भोजनेऽर्चने ।
दानेऽपि यच्च तच्छुप्तिर्बहुकार्यविरोधिनी ॥२६८॥

अर्थात्—रजस्वला स्त्री से स्पर्श हुई जलादि वस्तु—भोजन में, जिन पूजन में तथा दान में काम नहीं लानी चाहिये । यही कारण है कि—रजस्वला स्त्री की शुप्ति (स्पर्श) सब कार्य के नाश करने वाली है।

नेत्ररोगी भवेदन्धः पक्वान्नाद्यं विनश्यति ।
रङ्गो विरङ्गतां याति मञ्जिष्ठादेस्तदाश्रयात् ॥२६९॥

अर्थात्—रजस्वला स्त्री के स्पर्श से—जो नेत्र रोगी है वह तो अन्धा होजाता है, पकानादि वस्तु नष्ट होजाती है और मंजीठ आदि का रङ्ग विरङ्ग होजाता है।

रात्रौ शयीत भूमादावेकान्ते योगिनीव सा ।
सावधानमना नारीपर्यायं वहुनिन्दती ॥२७०॥

अर्थात्—सावधानमन पूर्वक स्त्री पर्याय की अनेक तरह निन्दा करती हुई रजस्वला स्त्री को—योगिनी (सांध्वी) स्त्री के समान एकान्त स्थान में पृथ्वी आदि पर रात्रि के समय शयन करना चाहिये।

चतुर्थरात्रौ भोग्या सा भर्त्रा सन्तानहेतवे ।
अवश्यं रात्रौ कामार्त्ता व्यभिचारं करोति हि ॥२७१॥

अर्थात्—सन्तान होने के लिये उस स्त्री के साथ चतुर्थ रात्रि में विषयोपभोग करना चाहिये। यदि उस दिन उसके साथ रमण न किया जाय तो नियम से वह काम से पीडित होकर व्यभिचार सेवन करती है।

रजोरक्तसमुत्पन्नाः सुसूक्ष्माः क्रमयोऽधिकाः ।
योनिवर्त्मनि कण्डूर्तिं नारीणां जनयन्ति हि ॥२७२॥

अर्थात्—क्योंकि—रजोरक्त में उत्पन्न होने वाले अत्यन्त छोटे २ जीव स्त्रियों के योनि स्थान में कण्डूति (खुजली) को उत्पन्न करते हैं।

एवं प्राग्वासरेणाऽमा चतुरो वासरानपि ।
समुत्क्रम्य दिनेऽन्यस्मिन्स्नात्वा वस्त्रैः प्रवर्त्तताम् ॥२७३॥

अर्थात्—इसी तरह पहले दिन से लेकर चारदिन व्यतीत करके पांचवे दिन स्नान करके दूसरे वस्त्र धारण करना चाहिये।

इत्थं रजस्वला रक्ष्या यत्नतो गृहमेधिना ।
अन्यथा रोगदारिद्रोपद्रवाः सन्त्यनेकशः ॥२७४॥

अर्थात्—इसप्रकार—गृहस्थ लोगों को—रजस्वला स्त्री का रक्षण करना चाहिये ऐसा न करने से रोग तथा दरिद्रता आदि अनेक उपद्रव होते हैं।

रक्ष्यमाणापि या नारी न तिष्ठति दुराशया ।
सा पापं बहु बध्नाति दुर्गतौ यद्भयावहम् ॥२७५॥

अर्थात्—अनेक प्रकार के उपायों से रक्षा की हुई भी खोटे अभिप्राय वाली जो स्त्री न ठहरती है अर्थात्—सुशील न रहकर व्यभिचार सेवन करती है वह स्त्री बहुत पाप का संचय करती है जो पाप कुगतियों में नाना प्रकार दुःख का देने वाला है।

तिरश्ची तेन पापेन शूकरी कुक्कुरी खरी ।
मात्राऽऽदिसङ्गनिर्मुक्ता दुर्गन्धा दुःखिनी भवेद् ॥२७६॥

अर्थात्—उसी पाप के फल से शूकरी, कुत्ती तथा गधी होकर अपनी माता आदि के सङ्ग से छूट कर दुर्गन्धा तथा दुःखिनी होती है।

अथ नारी भवेद्रण्डा वन्ध्या मृतसुता खला ।
दुर्भागिनी कुरूपा च भवे भवे नपुंसकम् ॥२७७॥

अर्थात्—और भी पाप का फल ग्रन्थकार बताते हैं—वह स्त्री पति विरहित (रण्डा) होजाती है, वन्ध्या होती है, जिसके मरा

हुआ पुत्र होता है, दुष्टा होती है, खोटे भाग्य वाली होती है, कुरूपिणी होती है तथा जन्म २ में नपुंसक पर्याय धारण करती है।

मत्वेति सत्कुलोत्पन्ना ऋतावुक्तविधानतः।
तिष्ठेद्यत्नेन पापस्य भीत्या सिंहस्य वा मृगी ॥२७८॥

अर्थात्—इसप्रकार पाप के फलको समझ कर उत्तम कुलमें उत्पन्न होने वाली स्त्री को चाहिये कि-पाप के भय से ऋतु के समय मे ऊपर कहे हुवे विधान के अनुसार प्रयत्न पूर्वक रहे जिस तरह सिंह के भय से मृगी रहती है।

गृहाश्रमो मया सूक्तः संहिताद्यनुसारतः।
वानप्रस्थस्य भिक्षोश्च आश्रमः कथ्यतेऽधुना ॥२७९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—सहिता, त्रिवर्णाचार आदि शास्त्रों के अनुसार गृहस्थाश्रम का मैंने वर्णन किया। अब वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्ष्वाश्रम का कथन किया जाता है।

उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक्क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः।
स चाऽपवादलिङ्गी च वानप्रस्थोऽपि नामतः ॥८०॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि-पहले जो उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक का इसी ग्रन्थ में वर्णन किया जा चुका है उसे ही अपवाद-लिङ्गी तथा वानप्रस्थ भी कहते हैं।

अष्टविंशतिकान्मूलगुणान्ये पान्ति निर्मलान्।
उत्सर्गलिङ्गिनो धीरा भिक्षवस्ते भवन्त्यहो ॥२८१॥

अर्थात्—जो विशुद्ध अट्ठाईस मूल गुण पालन करने वाले हैं तथा उत्सर्ग लिङ्ग (मुनिलिङ्ग) के धारण करने वाले हैं सहन शील वे महात्मा भिक्षु (साधु) कहे जाते हैं।

अचेलक्यं शिरोलोचो निराभरणसंस्कृतिः।
उत्सर्गलिङ्गमेतत्स्याच्चतुर्धा पिच्छधारणम् ॥२८२॥

अर्थात्—वस्त्र रहितपना, शिरके केशोंका लोंच करना,

आभरण रहित संस्कार तथा पिच्छी धारण करना इस तरह उत्सर्ग लिङ्ग चार प्रकार है।

भिक्षां चरन्ति येऽरण्ये वसन्त्यल्पं जिमन्ति च ।
बहु जल्पन्ति नो निद्रां कुर्वते नो तपोधनाः ॥२८३॥

अर्थात्—वे तपोधन (साधु लोग) भिक्षा वृत्ति से आहार लेते हैं, वन में निवास करते हैं, बहुत थोड़ा जीमते हैं, न बहुत बोलते ही हैं और न निद्रा लेते हैं।

ऋषिर्मुनिर्यतिः साधुर्भिक्षुकः स्याच्चतुर्विधः ।
तद्भेदा विस्तरादास्तां संक्षेपाद्वक्ष्यते शृणु ॥२८४॥

अर्थात्—ऋषि, मुनि, साधु तथा यति इस प्रकार भिक्षुक के चार विकल्प हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि—इनका विस्तार तो हम कहालों वर्णन करें परन्तु बहुत थोड़े मे कहते हैं इसलिये हे राजन् ! उसे तुम सुनो।

राजर्षिः परमर्षिश्च देवब्रह्मर्षिकौ तथा ।
ऋषेश्चतुर्भिदा प्रोक्ता ऋषिकल्पे जिनेश्वरैः ॥२८५॥

अर्थात्—ऋषि सम्बन्धि शास्त्रों में जिनदेव ने राजार्षि, परमर्षि, देवार्षि तथा ब्रह्मार्षि इस प्रकार ऋषियो के चार भेद किये हैं।

विक्रीयाऽक्षीणऋद्धीशो यः स राजर्षिरीरितः ।
परमर्षिजगद्वेत्ति केवलज्ञानचक्षुषा ॥२८६॥

अर्थात्—जो मुनिनाथ विक्रियाऋद्धि तथा अक्षीण ऋद्धि के स्वामी हैं (जिन्हें उपर्युक्त ऋद्धियें प्राप्त होगई हैं) उन्हे राजार्षि समझना चाहिये। और जो अपने केवलज्ञान लोचन से अखिल जगत को जानते हैं उन्हें परमार्षि समझना चाहिये।

बुद्ध्यौषधर्द्धिसम्पन्नो ब्रह्मर्षिरिह भाषितः ।
नभस्तलविसर्पी यो देवर्षिः परमागमे ॥२८७॥

अर्थात्—जिन्हे बुद्ध्यर्द्धि तथा औषधार्द्धि अधिगत होगई हैं

उन्हें परमागम (जिनशास्त्र) में ब्रह्मर्षि कहते हैं और जो मुनिराज अपनी ऋद्धि के प्रभाव से आकाश मण्डल में विहार करने वाले हैं उन्हें देवर्षि कहते हैं।

प्रत्यक्षं त्रिविधं ज्ञानमवधिश्चित्तपर्यये ।
केवलं तद्धरःप्रोक्तो मुनिर्मुनिर्जिनोत्तमैः ॥२८८॥

अर्थात्—अवधि ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान ये जो तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं इनके धारण करने वाले जो मुनिराज हैं उन्हें जिन भगवान ने मुनि कहा है।

अप्रमत्तगुणाच्छ्रेणी क्षपकोपशमाभिधे ।
एकत्राऽऽरोहणं कुर्याद्यस्तयोः स यतिर्भवेत् ॥२८९॥

अर्थात्—अप्रमत्त गुण स्थान से—क्षेपकश्रेणी तथा उपशम श्रेणी इस प्रकार जो दो श्रेणी हैं उन दोनों में किसी एक पर आरोहण करें उसे यति समझना चाहिये।

एभ्यो गुणेभ्य उक्तेभ्यो यो बिभर्त्ति परान्गुणान् ।
ज्ञानर्द्धिनिष्कषायोत्थान्स साधुः समयोदितः ॥२९०॥

अर्थात्—ऊपर कहे हुये गुणस्थानों के आगे के ज्ञानऋद्धि तथा कषायों की मन्दता से होने वाले गुणस्थानों को जो धारण करता है उसे शास्त्रों में साधु कहा है।

जिनलिङ्गधराः सर्वे सर्वे रत्नत्रयात्मकाः ।
भिक्षवस्त्वृषिमुख्यां ये तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे ॥२९१॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही जिनका आत्मा है और जिनलिङ्ग (मुनि लिङ्ग) धारण करने वाले हैं उन्हें भिक्षु तथा ऋषि कहना चाहिये। उन भिक्षुओं के लिये मैं निरन्तर नमस्कार करता हूं।

न्यूनाः कोट्योनवाऽमीषां संख्योत्कर्षतया मता ।
मुमुक्षणां प्रमत्ताद्ययोगिपर्यन्तवासिनाम् ॥२९२॥

अर्थात्—शिव सुख की अभिलाषा करने वाले तथा प्रमत्त गुणस्थान को आदि ले अयोगिगुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानों के धारण करने वाले इन मुनियों की उत्कृष्ट संख्या तीन न्यून नव कोठी समझनी चाहिये।

धर्माऽऽधेयस्य चाऽऽधाराश्चत्वारस्त्वाश्रमा मया।
प्रोक्ता ग्रन्थानुसारेण ज्ञातव्यास्ते मनीषिभिः ॥२९३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—धर्म रूप जो एक आधेय वस्तु है उसके आधार भूत ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्षाश्रम ये जो चार आश्रम हैं इनका और२ शास्त्रों के अनुसार मैंने वर्णन किया। बुद्धिमानों को ये चारो आश्रम समझने चाहिये।

आद्याऽऽश्रमेऽभ्यस्य जिनागमं यो
मेधाऽनुसारेण गृही च भूत्वा।
स्वाचारनिष्ठो भवति त्रिशुद्ध्या
सन्न्यस्य सोऽप्यामरशं लभेत ॥२९४॥

अर्थात्—जो भव्यात्मा अपनी बुद्धि के अनुसार पहले ब्रह्मचर्याश्रम मे जिन सिद्धान्त का अध्ययन कर इसके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करके, मन वचन तथा काय की शुद्धि पूर्वक अपने गृहस्थाश्रम सम्बन्धि आचार के पालन करने में दृढ़ होता है वह अन्त समय में संन्यास (सल्लेखना) धारण करके स्वर्ग सुख को प्राप्त होता है।

गृहाऽऽश्रमं यः परिहृत्य कोऽपि
तं वानप्रस्थं कतिचिद्दिनानि।
प्रपाल्य भिक्षुर्जिनरूपधारी
कृत्वा तपोऽनुत्तरमेति मोक्षम् ॥२९५॥

अर्थात्—और जो शिवसद्माभिलाषी भव्य पुरुष गृहस्थाश्रम छोड़कर और कितने दिवस पर्यन्त वानप्रस्थाश्रम का ठीक २ पालन

करके जिनराज समान यथाजातरूप (मुनिचिह्न) का धारक होता है वह नाना प्रकार दुष्कर तपश्चरणादि करके अन्त में शिव (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे चतुराश्रमस्वरूपसूचनो नाम नवमोऽधिकारः ॥९॥

भुक्त्यङ्गेहापरित्यागाद्ध्यानशक्त्याऽऽत्मशोधनम् ।
यो जीवतान्ते सोत्साहः साधयत्येष साधकः ॥ १ ॥

अर्थात्—जो उत्साह पूर्वक—मरण समय में भोजन, शरीर, तथा अभिलाषा के त्याग पूर्वक अपनी ध्यानजनित शक्ति से आत्मा की शुद्धता का साधन करता है उसे साधक कहते हैं।

उपासकस्य सामग्रीविकलस्येयमिष्यते ।
युक्तिः समग्रसामग्र्यां श्रेयस्करी जिनाकृतिः ॥ २ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कथन है कि—ऊपर जो हम विधि बता आये हैं यह विधि मुनिलिङ्ग धारण करने की जिसके पास सामग्री नहीं है उस श्रावक के योग्य समझना चाहिये और जिसके मुनिलिङ्ग धारण करने की सब सामग्री है उसके लिये तो फिर मुनिलिङ्ग धारण करना ही कल्याणकारी है।

विरक्ताः कामभोगेभ्यः कारणं प्राप्य किञ्चन ।
धीराः सङ्गं परित्यज्य भजन्ति जिनलिङ्गताम् ॥ ३ ॥

अर्थात्—जो लोग संसार में कुछ भी कारण को पाकर काम भोगादि से उदासीन होते हैं वेही धीर पुरुष परिग्रह छोड़कर मुनिलिङ्ग स्वीकार करते हैं।

अनादिवामदृगपि पुमान्धृत्वा जिनाकृतिम् ।
स्वं स्मरन्समतां प्राप्तो मुच्यतेऽसंशयं क्षणात् ॥ ४ ॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—जिनलिङ्ग को अङ्गीकार करके अनादि मिथ्यादृष्टि पुरुष भी अपने आत्मा का स्मरण करता हुआ सम-भाव को प्राप्त होकर निस्सन्देह संसार में छूट जाता है (मोक्ष में चला जाता है) तो सम्यग्दृष्टि पुरुष मुनिलिङ्ग के धारण से मोक्ष में जावें इसमें क्या आश्चर्य है ?

स्थास्नु नाश्यं बुधैर्नाङ्गं धर्मसाधनहेतुतः ।
केनोपायेन हा ! रक्ष्यमिति शोच्यं पतन्नतैः ॥ ५ ॥

अर्थात्—बुद्धिमानों को—कितने दिन पर्यन्त रहने वाला जो यह शरीर है इसे धर्म साधन का कारण होने से नाश नहीं करना चाहिये । तथा यह स्वभाव से ही नाश होने वाला है इसलिये इसके नाश होते समय हाय ! ! ! अब कैसे इसकी रक्षा करूं ऐसा शोक भी नही करना चाहिये ।

स्वस्थो देहोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतीकार्यश्च रोगवान् ।
उपकारमगृह्णन्सन्सद्भिस्त्याज्यो यथा खल· ॥ ६ ॥

अर्थात्—जिस समय शरीर स्वस्थ हो उस समय तो उसका अनुवर्तन करना चाहिये और जब व्याधि से समाकीर्ण होतो निरोग होने के लिये औषधादि उपचार करना चाहिये । परन्तु जब देखा कि अब यह बिल्कुल हमारे उपकार को स्वीकार नही करता है (सब तरह से शिथिल होकर धर्मकाय में कुछ भी उपयोग में नहीं आता है) तो उस समय इसे उसीतरह छोड़ना चाहिये जैसा दुष्ट पुरुष छोड़ा जाता है ।

अवश्यं नाशिनेऽङ्गाय धर्मो नाश्यो न सौख्यदः ।
नष्टमङ्गं पुनर्लभ्यं धर्मोऽतीवाऽत्र दुर्लभः ॥ ७ ॥

अर्थात्— ग्रन्थकार कहते हैं कि—अरे ! यह विनश्वर शरीर तो नियम से नाश होने वाला है इसके लिये बुद्धिमानों को—सुख देने वाला धर्म नाश करना योग्य नही है । क्योंकि-शरीर यदि नाश भी होगया तो वह फिर भी मिल सकता है परन्तु धर्म का मिलना तो बहुत दुर्लभ होजायगा ।

अब यदि यहां पर कोई यह शङ्का करे कि—यह जो सल्लेखना के धारण करने का उपदेश दिया गया है वह है तो ठीक, परन्तु इसमें तो आत्मघात होता है तो सल्लेखना का धारण करने वाला आत्मघाती नहीं कहा जायगा क्या ? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये ग्रन्थकार नीचे लिखा श्लोक कहते हैं—

धर्मक्षितावात्मघातो नैवास्त्यङ्गं समुज्झतः।
क्रोधद्युद्रेकतः प्राणान्शस्त्राऽऽद्यैर्हिंसतो हि सः॥ ८॥

अर्थात्—धर्म रूप पृथ्वी में शरीर छोड़ने वाला पुरुष, इस ने आत्मघात किया ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि—क्रोधादि का उद्रेक होने से शस्त्रादि से प्राणों की हिंसा करने वाला पुरुष ही आत्मघाती होता है।

उपसर्गेण कालेन निर्णीयायुः क्षयोन्मुखम्।
सन्न्यासं विधिवत्कृत्वा कुर्यात्फलवतीः क्रियाः॥ ९॥

अर्थात्—उपसर्गादिसे तथा वृद्धावस्था से आयु को क्षयोन्मुख समझ कर विधि पूर्वक सल्लेखना स्वीकार करके सर्व क्रियाओं को सफल करना चाहिये।

अरिष्टाऽध्यायमुख्योक्तैर्निमित्तैः साधु निश्चिते।
मृत्यावाराधनाबुद्धेर्नचाऽऽरात्परमं पदम्॥१०॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—शकुन शास्त्र में कहे हुवे प्रधान २ कारणों से आयु का निश्चय हो जाने पर जिन लोगों की बुद्धि आराधना (सल्लेखना) के धारण करने में उत्साहित है उनके लिये मोक्ष स्थान दूर नहीं है।

गाढापवर्त्तकवशाद्रंभान्याघातवत्मकृत्।
विनश्यत्यायुषि प्रायमविचारं समाश्रयेत्॥११॥

अर्थात्—अतिशय रोगादि के वश से—कदली तरु के समान एक दम आयु को विनाशीक समझकर किसी तरह के विचार रहित भोजन का त्याग करना चाहिये।

फलवत्क्रमतः पक्त्वा स्वत एव पतिष्याति।
काये रागान्महाधैर्यः कुर्यात्सल्लेखनां शनैः॥१२॥

अर्थात्—जिसतरह पका हुआ फल वृक्ष से नियम से गिर जाता है उसीतरह यह देह भी अपने आपही क्रम २ से जीर्ण

(वृद्ध) होकर गिरेगा ही-ऐसा समझकर, धीर पुरुषों को अनुराग पूर्वक धीरे २ सल्लेखना धारण करनी चाहिये।

देहस्य न कदाचिन्मे जन्ममृत्युरुजादयः।
न मे कोऽपिभवत्येष इति स्यान्निर्ममस्ततः ॥१३॥

अर्थात्—ये जन्म, मरण तथा रोगादि सब देह (शरीर) के हैं मेरे कभी कोई नहीं है और न कोई मेरा होता है ऐसा समझ कर शरीर में ममत्व परिणाम नहीं करना चाहिये।

पिण्डोऽयं जातिनामाभ्यां तुल्यो युक्त्या प्रयोजितः।
पिण्डे चेत्स्वार्थनाशाय तदा तं परिहापयेत् ॥१४॥

अर्थात्—पिण्ड (आहार) यह जाति (पुद्गल समुदाय रूप जाति) से तथा नाम (पिण्ड नाम) से शरीर के समान (जिस प्रकार शरीर पुद्गल समुदाय रूप है उसी तरह अन्न भी पुद्गल समुदाय रूप है और शरीर का जिस तरह पिण्ड नाम है उसी तरह अन्न का भी पिण्ड नाम है। भावार्थ-शरीर तथा अन्न ये दोनों एकही समान) है उस पिण्ड का शरीर में युक्ति पूर्वक उपयोग किया गया है तो अब जिस समय समझो कि शरीर की सामर्थ्य घटती चली उसी समय आहार का भी त्याग करना योग्य है।

श्रुतैः कषायमालिख्य वपुश्चाऽनशनादिभिः।
मध्ये परगणं स्थेयात्समाधिमृतये यतिः ॥१५॥

अर्थात्—शास्त्रावलोन के द्वारा कषायों को तथा उपवासादि से शरीर को कृश करके चतुर्विध संघ के सामने समाधिमरण के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

सेवितोऽपि चिरं धर्मो विराद्धेश्चन्मृतौ वृथा।
आराद्धेऽसावघं हन्ति तदात्वे जन्मसम्भवम् ॥१६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—अरे! जो धर्म बहुत समय तक सेवन किया गया है यदि वह मृत्यु के समय नाश कर दिया जायगा तो हमतो यही कहेंगे कि—उस मनुष्य का धर्म सेवन निष्फल ही

है। और वही धर्म समाधिमरण के समय यदि आराधन किया जाय तो जन्म २ में उपार्जन किये हुवे सब पाप कर्मों को नाश करता है।

भूपस्येव मुनेर्धर्मे चिरायाऽभ्यासिनोऽस्त्रवत्।
युद्धे वा भ्रश्यतो मृत्यौ कार्यनाशोऽयशोऽशुभम् ॥१७॥

अर्थात्—जिस प्रकार बहुत काल पर्यन्त शस्त्र विद्या के अभ्यास करने वाले राजा का यदि युद्ध काल में भ्रंश हो जाय तो उसके कार्य का नाश, लोक में अयश तथा अशुभ होता है उसी तरह जिसने मुनिधर्म का चिरकाल पर्यन्त अभ्यास किया है यदि उसका मरण समय मे भ्रंश (धर्म से पतन) हो जाय तो कार्य का नाश, लोक में अकीर्ति तथा अशुभ होता है।

साध्वभ्यस्तामृताध्वान्त्ये स्यादेवाऽऽराधको मुनिः।
प्रतिकूलं महापापं किञ्चिन्नोदेति तस्य चेत् ॥१८॥

अर्थात्—यदि मरण समय में समाधिमरण करने वाले पुरुष के समाधिमरण का प्रतिबन्धक कोई महापाप उत्पन्न न हो तो ठीक २ समाधिमरण के मार्ग का अभ्यास करने वाला वह अन्त-समय में आराधक होता है।

अनभ्यस्ताध्वनो जातु कस्याप्यस्याराधना भवेत्।
प्रान्तेऽन्धनिधिलाभोऽसौ नालम्ब्यो धार्मिकैः सदा ॥१९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—जिसने समाधिमरण का अभ्यास नहीं किया है उस पुरुष के भी यदि आराधना हो जाय तो हो जाय परन्तु धर्मात्मा पुरुषों को—समीपवर्त्ति यह अन्धनिधि का लाभ मरण समय मे स्वीकार करने योग्य नहीं है।

विधातव्यो दवीयस्यप्यमृते यतनो व्रते।
व्रतात्स्वः समयक्षेपो वरं न निरयेऽव्रतात् ॥ २० ॥

अर्थात्—बुद्धिमान पुरुषों को—दूर भी यदि मोक्ष है तो व्रत धारण करने मे प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि—मोक्ष प्राप्ति के लिये व्रत पूर्वक बहुत समय का व्यतीत करना तो अच्छा है परन्तु व्रत धारण के बिना नरक मे जाना अच्छा नहीं है।

दुर्भिक्षं चोपसर्गे वा रोगे निःप्रतिकारके ।
तनोर्विमोचनं धर्मायाऽऽहुः सल्लेखनामिमाम् ॥२१॥

अर्थात्—दुर्भिक्ष पड़ने पर, उपसर्गादि के आने पर तथा जिसका किसी प्रकार उपचार नहीं होसकता ऐसे निरुपाय रोग के होने पर धर्म के अर्थ शरीर के छोड़ने को आचार्य लोग सल्लेखना कहते हैं।

सल्लेखनां स सेवेत द्विविधां मारणान्तिकीम् ।
चतुर्द्धाऽऽराधनायाश्च स्मरन्नागमयुक्तितः ॥२२॥

अर्थात्—उसे चाहिये कि—शास्त्रानुसार तथा युक्ति से चार प्रकार की आराधना का स्मरण पूर्वक मरण समय में होने वाली दो प्रकार की सल्लेखना को धारण करे।

दृग्बोधवृत्ततपसां द्विधा साऽऽराधना मता ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां तदाऽऽराधकसूरिभिः ॥२३॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान,सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप इनके आराधन करने को निश्चय तथा व्यवहार से—आराधना के आराधन करने वाले महर्षिलोग दो प्रकार आराधना बताते हैं।

जीवादीनां पदार्थानां श्रद्धानं दर्शनं हि तत् ।
संशयादिव्यवच्छेदात्तज्ज्ञानं ज्ञानमुच्यते ॥२४॥

अर्थात्—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप इन नव पदार्थों के श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं और संशय, विपरीत तथा अनध्यवसाय इन तीन मिथ्याज्ञान रहित जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

पापक्रियानिवृत्तिर्या व्रतादिपरिपालनात् ।
त्रयोदशप्रकारेण प्राज्ञैस्तद्वृत्तमीरितम् ॥२५॥

अर्थात्—व्रत तपश्चरणादि के पालन करने से पाप कर्म की निवृति होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं उसे बुद्धिमान् पुरुषों ने तेरा प्रकार का बताया है।

वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः ।
प्रायश्चित्तोपवासाद्यैस्तपसः करणं तप ॥२६॥

अर्थात्—प्रायश्चित्त तथा उपवासादि से तप के करने को तप कहते हैं वह वाह्यतप तथा अभ्यन्तरतप इसतरह दो भेद रूप है फिर वही तप प्रायश्चित्त विनय, वैयात्रत्यादि तथा अनशन, अवमौदर्य वृत्तपरिसंख्यादि भेदों से वारह भेद रूप है ।

एतेषामुद्वहनं निर्वाहः साधनं च निस्तरणम् ।
उद्योतनं च विधिना व्यवहाराऽऽराधना प्रोक्ता ॥२७॥

अर्थात्—इन सम्यग्दर्शनादि के धारण करने को, निर्वाह करने को, साधन करने को, तथा विधिपूर्वक उद्यापन करने को व्यवहार आराधना कहते हैं ।

अब निश्चय आराधना का स्वरूप कहते हैं—

आत्मनो दर्शनं दृष्टिर्ज्ञानं तज्ज्ञानतो भवेत् ।
स्थिरीभावाच्च चारित्रं तत्रैव तपनं तपः ॥२८॥

अर्थात्—अपने आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं, आत्मा के ज्ञान से सम्यग्ज्ञान होता है, आत्मा में स्थिर (निश्चल) होने से सम्यक्चारित्र होता है तथा आत्मा में ही तपने को निश्चय तप कहते हैं ।

निश्चयाऽऽराधनासेयं निर्विकल्पसमाधिभाक् ।
स्वसंम्वेदनमाख्यातः शून्यध्यानं च तन्मतम् ॥२९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—इसी निश्चय आराधना को निर्विकल्पसमाधि, स्वसम्वेदन तथा शून्यध्यान भी कहते हैं ।

भावार्थ—इस निश्चय आराधना में अपने आत्मा को छोड़ कर नतो किसी का ध्यान किया जाता है और न किसी दूसरे पदार्थ का चिन्तवन करनाही होता है इसीलिये इसे निर्विकल्पसमाधि तथा शून्यध्यान आदि कहते हैं ।

सल्लेखनाऽथवा ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
रागादीनां चतुर्भुक्तेः क्रमात्सम्यग्विलेखनात् ॥३०॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं-अथवा सल्लेखना के बाह्य सल्लेखना तथा अभ्यन्तर सल्लेखना ऐसे दो भेद हैं । क्रम २ से रागादिके घटाने को अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और चार प्रकार के आहार के घटाने को बाह्य सल्लेखना कहते है।

रागो द्वेषश्च मोहश्च कषायः शोकसाध्वसे ।
इत्यादीनां परित्यागः साऽन्तःसल्लेखना हिता ॥३१॥

अर्थात्— राग, द्वेष, मोह, कषाय, शोक, तथा भयादिका जो त्याग करना है उसे अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

अन्नं खाद्यं च लेह्यं च पान भुक्तिश्चतुर्विधा ।
उज्झनं सर्वथाऽप्यस्या बाह्या सल्लेखना मता ॥३२॥

अर्थात्—अन्न, खाने योग्य वस्तु, स्वाद लेने योग्य वस्तु तथा पीने योग्य वस्तु इसप्रकार चार प्रकार भुक्ति का सर्वथा त्याग करने को बाह्य सल्लेखना कहते है।

पुष्टोऽन्तेऽन्नैर्मलैः पूर्णः कायो न स्यात्समाधये ।
कार्श्यस्तत्साधुना युक्त्या शोध्यश्चैष तदीहया ॥३३॥

अर्थात्—नाना प्रकार के अन्नादिसे अहोरात्र पुष्ट किया हुआ, तथा पुरीष, मूत्र, कफादि मलसे पूर्ण यह शरीर यदि मरण समय में समाधिसाधन के लिये न हो तो साधु पुरुषों को चाहिये कि—इसे युक्ति पूर्वक आहारादि के त्याग से कृश करे तथा सल्लेखना की अभिलाषा से शुद्ध करें।

असँल्लिखतः कषायांस्तनोः सल्लेखनाऽफला ।
जडैर्दण्डयितुं चैतान्वपुरेव हि दण्यते ॥३४॥

अर्थात्—कषायों को कृश नही करने वाले मनुष्यों को शरीर का कृश करना निष्फल है क्योंकि कषायों के कृश करने के लिये शरीर कृश करना मूर्ख लोगो का काम है।

भावार्थ—जो लोग ऐसा समझते हैं कि—पहले शरीर को कृश करना चाहिये शरीर के कृश हो जाने से कषायें तो अपने आप कृश हो जायगी। उनका ऐसा समझना भ्रम है। क्योंकि-पहले कषायों को कृश करने वाले भव्य पुरुषोंके ही शरीर का कृश करना सार्थक समझा जाता है इसलिये पहले कषायों को मन्द करना योग्य है।

प्रायो विधामदान्धानां कषायाः सन्ति दुर्दमाः।
येऽपि चाऽऽत्माङ्गभेदज्ञास्तान्दाम्यन्ति जयन्ति ते ॥३५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—जो लोग अन्न के मद से अन्ध हैं उनके लिये कषायें बहुत ही दुर्दमनीय हैं और जो लोग आत्मा तथा शरीर के भिन्न भाव को जानने वाले हैं वेही इन कषायों का दमन (नाश) करते हैं ऐसे पुरुष उत्कर्ष शाली होवें।

दुष्करा न तनोर्हानिर्मुनेः किन्त्वाऽत्र संयमः।
योगप्रवृत्तव्याघोप्त्य ? तदाऽऽत्मात्मनि युज्यताम् ॥३६॥

अर्थात्—मुनियों को शरीर का त्याग करना बहुत कठिन नहीं है किन्तु शरीर छोड़ते समय संयम का रहना बहुत ही कठिन है। इसलिये मन वचन तथा काय की प्रवृत्ति को रोककर अपने आत्मा को आत्मा में लगाना चाहिये।

संयतः श्रावको वान्ते कृत्वा प्रायं जितेन्द्रियः।
लीनः स्वाऽऽत्मनि च प्राणांस्त्यक्त्वा स्यादुदितोदयः॥३७

अर्थात्—जो इन्द्रिय विजयी संयमी (मुनि) अथवा श्रावक अन्तसमय में अनशन (उपवास) करके तथा अपने आत्मस्वभाव में लीन होकर प्राणो को छोड़ता है वह उदयशाली (पुण्यात्मा) होता है।

* दुर्दैवेनाऽप्यलं कर्त्तुं प्रविघ्नो भाविताऽऽत्मनः।
समाधिसाधने दक्षे गणे च गणनायके ॥३८॥

* "प्रविघ्नो" इस पाठ की जगह "न विघ्नो" पाठ हो तो अच्छा है। सागारधर्मामृत में इसी विषय का श्लोक है उसमें 'न' पाठ है—

समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न।
दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥

अर्थात्—समाधि के साधन करने में योग्य ऐसे निर्यापकाचार्य अथवा संघमुनी आदि महात्माओं के विद्यमान रहते हुवे समाधिमरण करने वाले भव्यात्मा पुरुषों को दुर्दैव (प्रतिकूल कर्म) भी विघ्न करने को समर्थ नहीं होसकता।

भ्रमता जन्तुनाऽनेनानऽन्ताः प्राप्ताः कुमृत्यवः।
समाधिपूतश्चैकोऽपि नाऽवापि चरमक्षणः ॥३९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अहो ! चिरकाल से अपार संसार में पर्यटन (भ्रमण) करते हुवे इस जीव की खोटी मृत्यु तो अनन्त वार हुई परन्तु समाधि (सल्लेखना) से पवित्र मरण एक भी समय नहीं हुआ।

श्लाघ्यन्ते साधवोऽत्यन्तं प्रभावं चारमक्षणम्।
भव्याः समाहिता यत्र प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥४०॥

अर्थात्—साधु लोग मरण समय में होने वाले अन्तिम समय की बहुत प्रसंशा करते हैं जिस अन्तिम समय में भव्यपुरुष सावधानमन होकर परम पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

सन्न्यासार्थी ज्ञकल्याणस्थानमत्यन्तपावनम्।
आश्रयेत्तु तदप्राप्तौ योग्यं चैत्यालयादिकम् ॥४१॥

अर्थात् —सन्न्यास (सल्लेखना) के अभिलाषी पुरुषों को—चाहिये कि —जिस स्थान में जिन भगवान का ज्ञान कल्याण हुवा है ऐसे पवित्र स्थान का आश्रय करें और यदि ऐसे स्थानों की कारणान्तरों से प्राप्ति न हो सके तो जिन मन्दिरादि योग्य स्थानों का आश्रय करें।

प्रस्थितः स्थानतस्तीर्थे म्रियते यद्यवान्तरे।
स्यादेवाऽऽराधकस्तद्धि भावना भवनाशिनी ॥४२॥

अर्थात्—किसी तीर्थस्थान मे जाने के लिये गमन किया हो और वहांतक पहुंचने के पहले ही यदि मृत्यु हो जाय तौभी वह आराधक होता ही है क्योंकि-समाधिमरण के लिये की हुई भावना भी संसार के नाश करने वाली है।

ममत्वाद्वेषरागाभ्यां विराधकेन येन हि ।
विराद्धो यस्तं क्षमयेत्क्षाम्येत्तस्मै त्रिधा च सः ॥४३॥

अर्थात्—ममत्व से, द्वेषसे अथवा रागसे अपने द्वारा जिसे दुःख पहुंचा है उससे क्षमा करावै। तथा जिस के द्वारा अपने को दुःख पहुंचा हो उसपर मन वचन काय से क्षमा करै।

तीर्णो जन्माम्बुधिस्तैर्यैः क्षमणं क्षामणं कृतम् ।
क्षमयतां न साम्यन्ति ये ते स्युर्दुःखितो भवे ॥४४॥

अर्थात्— ग्रन्थकार कहते हैं कि—उन महात्मा पुरुषों ने इस जन्म रूप समुद्र को तिरकर पारकर लिया है जिन्हों ने स्वयं क्षमा की है अथवा दूसरों से क्षमा कराई है। और जो लोग अपने ऊपर क्षमा करने वाले पुरुषों पर क्षमा नहीं करते है वे लोग नियम से भव २ में दुःखी होते है।

योग्ये मठादौ काले च स्वापराधं स सूरये ।
त्रिधोक्त्वा शोधितस्तेन निःशल्योऽध्वनि सञ्चरेत् ॥४५॥

अर्थात्—योग्य मठादि स्थान में तथा योग्य काल में अपने अपराध (पाप) को मन वचन तथा काय से आचार्य महाराज के समीप निवेदन करके और उनके द्वारा दिये हुवे प्रायश्चित्त से शुद्ध (निर्दोष) होकर शल्य रहित रत्नत्रय सम्पादन करने के मार्ग में विहार करै।

संविशुद्धिसुधासिक्तो यथाविधि समाधये ।
प्राग्वोदग्वा शिरः कृत्वा शान्तधीः संस्तरं भजेत् ॥४६॥

अर्थात्—शास्त्रानुसार विशुद्धता रूप अमृत से सिञ्चित होकर समाधि मरण के लिये उत्तर दिशा की ओर अथवा पूर्वदिशा की ओर अपना मस्तक करके शान्तता पूर्वक शय्या का आश्रय लेना चाहिये।

संस्थानत्रिकदोषायाऽप्यापवादिकलिङ्गिने ।
महाव्रतेहिने लिङ्गं दद्यादौत्सर्गिकं तदा ॥४७॥

अर्थात्—जिसके तीनों स्थानों में दोष हो, अपवाद लिंग का धारण करने वाला हो तथा जो महाव्रत लेने की अभिलाषा रखता हो उसके लिये आचार्य को चाहिये कि उत्सर्गलिग (मुनिलिंग) देवें

इस श्लोक में तीनों स्थानों में जिस के दोष हो ऐसा कहा है वे दोष कोन २ हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीयुत पं० आशाधर जी ने सागार धर्मामृत की टीका में यों स्फुट किया है—

दोषों के तीन स्थान, दो वृषण तथा एक गुह्य हैं । इनमें पहले दो स्थानों मे अधिक लम्बाई, नग्नता धारण करने मे तथा देने में प्रतिबन्धक है और दूसरे स्थान में अग्रभाग में चर्म न होने से और दीर्घता के होने से गुह्येन्द्री का बार बार स्फुरण होना रूप दोष है। ये दोष उस नग्नता देने के प्रतिबन्धक हैं । ऐसा समझना चाहिये ।

कक्षापटेऽपि मूर्च्छित्वादार्यो नार्हति तद्व्रतम् ।
आर्यिका साटकेऽमूर्च्छत्वाद्धात्कं च सदार्हति ॥४८॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि-मलमल्लक (लंगोट) मात्र में भी मूर्च्छा होनेसे पुरुष महाव्रत धारण करने योग्य नहीं कहा जाता और साटिका (साड़ी) तकमें मूर्च्छा के न होनेसे आर्यिका महाव्रत धारण करने योग्य कही जाती है ।

ह्रीको महार्द्धिको वा यो मिथ्याद्दक् प्रौढबान्धवः ।
नाग्न्यं पदेऽविविक्ते सः साधुलिङ्गोऽपि नार्हति ॥४९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—जो लज्जावान है, ऐश्वर्यशालीहै, मिथ्यादृष्टि है, अथवा जिसके बहुत कुटुम्ब लोग हैं ऐसा पुरुष यदि साधुलिङ्गका धारी भी क्यों न हो तौभी वह जन समुदाय में नग्नचिन्ह धारण करने योग्य नही है ।

यदाऽपवादिकं प्रोक्तमन्यदा जिनपैः स्त्रियः ।
पुंवद्गण्यते प्रान्ते परित्यक्तोपधेः किल ॥५०॥

अर्थात्—जिन स्त्रियोंने परिग्रहादि उपाधि छोड़दी हैं उनके लिऐ जिन भगवानने अपवादलिङ्ग अथवा और कोई लिङ्ग कहा है परन्तु अन्तसमय में तो उन्हें भी पुरुषों के समान नग्न होना चाहिये ।

वपुरेव भवो जन्तोर्लिङ्गं यच्च तदाश्रितम् ।
तद्ग्रहं जातिवत्तत्र मुक्त्वा स्वात्मगृहं श्रयेत् ॥५१॥

अर्थात्—जीवों को शरीर का प्राप्त होना इसे ही तो संसार कहते हैं इसलिये शरीर के आश्रित ब्राह्मणादि जाति के समान शरीर का आश्रय करके रहने वाले नग्नत्व आदि लिंग है उन्हें मृत्यु के समय छोड़ कर अपने आत्म चिन्तवन में निमग्न होना चाहिये।

अन्यद्रव्यग्रहादेव यद्बद्धोऽनादिचेतनः ।
तत्स्वद्रव्यग्रहादेव मुच्यतेऽतस्तमाद्रियात् ॥५२॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—जो यह अनादिचेतन दूसरे द्रव्यों के ग्रहणसे बँधा हुआ है वह अपने द्रव्य (आत्मद्रव्य) के ग्रहण करनेसे ही दूसरे द्रव्यके सम्बन्ध से रहित होगा इसलिये अपने आत्मद्रव्य को ही ग्रहण करना चाहिये।

विवेकिना विशुद्धेन त्यक्तं येन समाधिना ।
जीवितं तेन किं प्राप्तं नाऽपूर्वं वस्तु वाञ्छितम् ॥५३॥

अर्थात्—जिस विचारशील मानवने विशुद्ध समाधिपूर्वक अपने जीवन का परित्याग किया है (सल्लेखना पूर्वक मरण किया है) उसने संसार में ऐसी मनोभिलषित अपूर्व वस्तु क्या है जिसे न पाई हो ? किन्तु अवश्य पाई है।

गुरौ समर्पयित्वा स्वं भिदारोप्य महाव्रतम् ।
निर्वासा भावयेदेव तदनारोपितं परम् ॥५४॥

अर्थात्—जो दिगम्बर हो गये हैं उन्हें अपनेको अपने गुरुके आधीन करके और अपने में महाव्रतका आरोप करके भावना भानी चाहिये। अर्थात्—मैं महाव्रत का धारक हूं। और जिसने जिन दीक्षा नहीं ली है अर्थात्—वस्त्र सहितहै उसे—अपने में महाव्रतका आरोप न करके महाव्रत की भावना भानी चाहिये।

गुरुर्नियुज्य तत्कार्ये यथायोग्यं गुणोत्तमान् ।
यतींस्तं बहु संस्कुर्यात्स त्वार्याणां महामखः ॥५५॥

अर्थात्—गुरु (आचार्य) को चाहिये कि—मोक्षसाधनादि

उत्तम २ गुणों के पात्र संयमी श्रावकों को उनकी योग्यतानुसार उसके कार्य (बुरीकथा का न कहना, धर्मकथा सुनाना तथा मलोत्सर्गादिक्रिया करना आदि) में नियोजित करके उसमें रत्नत्रय का संस्कार करावै क्योंकि रत्नत्रय का संस्कार करना आर्य पुरुषों का बड़ा भारी यश है।

कल्प्यां बहुविधां भुक्तिं प्रदर्श्येष्टां तमाशयेत् ।
जडत्वात्तत्र रज्यन्तं ज्ञानवाक्यैर्निषेधयेत् ॥५६॥

अर्थात्—पवित्र तथा अनेक प्रकार की उत्तम २ भोजन सामग्री उस समाधि धारक पुरुष को दिखाकर भोजन के लिये देनी चाहिये। यदि अज्ञानता से उस में आसक्त होने लगे तो उसी समय नाना प्रकार के धर्म सम्बन्धी आख्यानों (कथाओं) को सुनाकर भोजन से विरक्त करना चाहिये।

भोजितेन्द्रिय ! मार्गज्ञ ! ऋषिपुङ्गव ! सद्यशः ।
इमे किं प्रतिभासन्ते पुद्गलास्तेद्य सौख्यदः ॥५७॥

अर्थात्—हे इन्द्रियो के जीतने वाले ! हे जिनमार्ग के जानने वाले ! हे ऋषियों में उत्तम ! हे सत्कीर्त्ति भाजन ! क्या आजये पुद्गल तुम्हें सुख के देने वाले भासमान मालूम पड़ते हैं ?

परन्तु—

न सोऽस्ति पुद्गलः कोऽपि यस्त्वया स्वाद्य नोज्झितः ।
अस्य मूर्त्तस्य तेऽमूर्त्तेरुपकारः कथं भवेत् ॥५८॥

अर्थात्—इस लोकाकाश में ऐसा कोई पुद्गल नहीं बचा है जिसे तुमने भोगकर न छोड़ा हो, दूसरे यह पुद्गल मूर्त्तीक पदार्थ है तो अब तुम्हीं कहो कि—इस मूर्त्तीक से तुम्हारे अमूर्त्तीक आत्म द्रव्य का उपकार कैसे हो सकता है ?

शुद्धो बुद्धः स्वभावस्ते स एव स्वहितावहः ।
सुखमिन्द्रियजं दुःखकारणं स्वाथ्यवारणम् ॥५९॥

अर्थात्—शुद्धस्वरूप तथा ज्ञायकस्वरूप तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है और वही आत्महित का कारण है। और इन्द्रियों से उत्पन्न

होने वाला जो सुख है वह दुःख का हेतु तथा स्वास्थ्य का नाश करने वाला है।

यन्मन्यते भवानेवं भुञ्जेऽहं सुखदायिनीम् ।
एनां भुक्तिं समालम्ब्य करणैरनुभवन्ननु ॥६०॥

अर्थात्—ये भोजनादि केवल इन्द्रियों की पूर्त्ति के कारण हैं ऐसा इन्द्रियों से अनुभव करते हुवे भी मैं सुख देने वाला भोजन करता हूं ऐसा जो तुम मानते हो—

परन्तु—

इमां ततोऽधुना भ्रान्तिं निरस्य स्फुरतीं हृदि ।
सोऽयं क्षणोऽस्ति ते यत्र जाग्रति स्वहिते चणा. ॥६१॥

अर्थात्—यह तुम्हारा भ्रम है इसलिये तुम्हारे हृदय में स्थित इस भ्रम को दूर करो ! तुम्हारे लिये यह वह समय है जिस में आत्महित के लिये उद्यमशील पुरुष जाग्रत होते है।

पुद्गलोऽन्योऽहमन्यश्च सर्वथेति विचिन्तय ।
अन्यद्रव्यग्रहावेशं येनोज्झित्वा स्वमाविशेः ॥६२॥

अर्थात्—यह पुद्गल कोई ओर भिन्न वस्तु है और मैं दूसरा ही हूं इस प्रकार विचारते रहो ! और इसी पवित्र विचार से पुद्गलादि द्रव्य के ग्रहण के आवेश को छोड़ कर अपने खास आत्मद्रव्य में प्रवेश करो !!!

क्वचिच्चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तं चरेद्ध्रुवम् ।
तत्रैवोत्पद्य सौवर्णचिर्भिटासक्तसाधुवत् ॥६३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—यदि किसी पुद्गल में आसक्त होकर मरे तो वह नियम से उसी जगह उत्पन्न होकर सञ्चार (गमन) करता है जिस तरह मृत्यु समय एक साधु अपने पास रखी हुई चिरभटी (ककड़ी) मे आसक्त होकर उसी मे कीड़ा हुआ था।

किन्त्वङ्गस्योपयोग्यन्नं तदङ्गातीदृमाशु न ।
तत्तृष्णां त्यज भिन्धि स्वं कायाद्बन्धयशुभाश्रवम् ॥६४॥

अर्थात्—किन्तु यदि तुम यह समझो कि अब यह (आत्मा) शरीर की स्थिति का कारण अन्न नही ग्रहण करता है तो उसी समय तृष्णा को छोड़ो ! शरीर से अपने आत्मद्रव्य को भिन्न करो ! तथा खोटे (पापबन्ध के कारण) आश्रव को रोको ! !

वितृष्णं क्षपकं कृत्वा सूरिरेतद्वचोऽमृतैः ।
पोषयेत्स्निग्धपानेन परित्याज्याऽशनं क्रमात् ॥६५॥

अर्थात्—आचार्य महाराज को चाहिये—इस प्रकार सुमधुर अपने वचनामृत से उस क्षपक (मुनि) वेषधारी को तृष्णारहित करके तथा धीरे २ भोजन घटाकर स्निग्ध वस्तुओं के पाने से पोषण करे ।

षोढा पानं घनं लेपि सिक्थवत्सेतरं तथा ।
प्रयोज्य कृशयित्वा च शुद्धपानं च पूरयेत् ॥६६॥

अर्थात्—घनपान (दही आदि) अघनपान (कांजी) लेपिपान (जो हाथ में चिपकता हो) अलेपपान (जो हाथ में नहीं चिपकता हो) सिक्थपान (जो स्निग्ध हो) असिक्थपान (जो स्निग्ध न हो) इन छह प्रकार पेय पदार्थ का प्रयोग करके और फिर क्रम से एक एक घटाकर केवल जल पान कराना चाहिये ।

साधो ! सल्लेखना तेऽन्त्या सेयं तमिति शिक्षयेत् ।
व्यतिक्रमपिशाचेभ्यः संरक्षैनां सुदुर्लभाम् ॥६७॥

अर्थात्—हे साधु ! तुम्हारे लिये यह अन्तिम सल्लेखना है अतिशय दुर्लभता से अधिगत (प्राप्त) होने वाली है । इसलिये इसकी अतीचार रूप पिशाच से रक्षा करो इसप्रकार उपदेश देना चाहिये ।

आशंसा जीविते मृत्यौ मित्ररागं सुखस्पृहाम् ।
निदानं संस्तराऽऽरूढस्त्यजन्सल्लेखनां चरेत् ॥६८॥

अर्थात्—संस्तर (शय्या) पर सोये हुवे भव्यात्मा पुरुष को चाहिये कि—आगामी जीवन की अभिलाषा, दुःख तथा उपसर्गादि से मरण की मनोभावना, मित्र मे अनुराग, पहले उपभोग किये हुवे सुखों में इच्छा तथा सल्लेखना के माहात्म्य से आगामी जन्म में

सुखाभिलाषा रूप निदान इन पांच अतीचारों को छोड़ कर सल्लेखना (समाधि) का सेवन करै ।

सपर्यायां सजन्नस्यां मा शंस प्राणितं स्थिरम् ।
बहिर्द्रव्यं वरं भ्रान्त्या को हास्यो नायुराशिषा ॥६९॥

अर्थात्—हे उपासक ! लोगों से किये हुवे सत्कार में आसक्त होकर यह कभी मत समझो कि—यह जीवन चिरकाल पर्यन्त स्थिर रहने वाला है क्योंकि—ये बाह्यपदार्थ भ्रम से मनोहर मालूम देते हैं तो फिर इस बाह्यवस्तु देह के जीवन की इच्छा करने से तुम्हे कौन नही हंसेगा ? किन्तु सब तुम्हारी हंसी करेंगे ।

क्षुदादिभयतस्तूर्णं माकार्षी मरणे धियम् ।
दुःखं सोढा शमाप्नोति मुमूर्षुर्दुःखमश्नुते ॥७०॥

अर्थात्—भूख प्यास की आतुरता से तथा रोग उपसर्गादि की यन्त्रणा (पीडा) से मृत्यु अच्छी है ऐसा विचार कभी मत करो ! क्योंकि—दुःखो के सहन करने वाला सुख को प्राप्त होता है और मरणाभिलाषी दुःखों को भोगता है ।

रजःक्रीडावता साकं मारत्वं मित्रेण रञ्जय ।
मोहदुश्चेष्टितैर्मुक्तैरेताहक्षैरलं वहु ॥७१॥

अर्थात्—हे भव्य ! जिसके साथ तुम धूलि में खेले हो उस प्रणयी (मित्र) के साथ भी अब अनुराग मत करो ! क्योंकि—मूर्खता से ऐसी खोटी २ लीलायें वहुत की है अव इन से कुछ साध्य नही है ।

भावार्थ—अब सुख दुःख में सहगामी प्रणयी का प्रणय भी छोड़ो !

शय्यादौ कुत्राचित्प्रीतिविशेषे मा सज स्मृतिम् ।
भावितो विषयैः प्राणी भ्रशं भ्राम्यति जन्मनि ॥७२॥

अर्थात्—हे भद्र ! स्नेह के हेतु शय्यादि में भी अपनी स्मृति को मत लगाओ क्योंकि—इन विषयो के सम्बन्ध से ही तो यह अनुपम शक्तिशाली आत्मा संसार मे भ्रमण करता है।

एतत्फलेन राजा स्यां स्वर्गी स्यां भोगवानपि ।
निदानं मा कुरुष्वेति निदानं विपदां ध्रुवम् ॥७३॥

अर्थात्—हे सहनशील ! इस समाधि के अनुभाव से मुझे राज्य लक्ष्मी मिले देवालय (स्वर्ग) मिले अथवा नाना प्रकार के उत्तम २ ऐश्वर्य प्राप्त होवे । विपत्तिकेन्द्र ऐसे निदान को कभी भूल के भी न करो !!

दुःखं स्याद्वा सुखं स्याद्वा मरणं स्यात्समाधिना ।
विना येनेन्द्रियं सौख्यमप्यभूद्दुःखदं मम ॥७४॥

अर्थात्— हे उपासक ! इस समाधि (सल्लेखना) के धारण से दुःख हो, सुख हो, अथवा मरण हो क्योंकि—जिस के न होने से इन्द्रिय सम्बन्धि सुख भी मेरे लिये दुःख के समान है" ऐसी भावना करो।

इति भावनया चैतदतिचारगणातिगाम् ।
साधुः सल्लेखनां कुर्यान्निर्मलां सुखसिद्धये ॥७५॥

अर्थात्—इसप्रकार पवित्र भावना से—अतिचार रहित निर्मल सल्लेखना (समाधि), शिवसुख की सिद्धी के अर्थ साधु पुरुष को—धारण करनी चाहिये ।

इति वृत्तशिखारत्नं जातसंस्कारमुद्धरन् ।
तीक्ष्णपानक्रमत्यागादयं प्राये प्रवेक्ष्यति ॥ ७६ ॥
सञ्ज्ञाय तु निवेद्यैवं गणिना चतुरेक्षिणा ।
सोऽनुज्ञातः समाहारमाजन्म त्यजतात्त्रिधा ॥७७॥

॥ युग्मम् ॥

अर्थात्—इसप्रकार अभ्यास से उत्कर्षशाली अथवा सर्व व्रत में उत्तम इस सल्लेखना का धारक यह श्रावक क्रम से खरपान छोड़ कर चार प्रकार आहार का त्याग करैगा ।

विचारशील निर्यापकाचार्य से इसप्रकार कहलाकर और फिर उनकी आज्ञानुसार सर्व प्रकार के आहारका मन बचन तथा कायसे त्याग करना चाहिये ।

रुजाद्यपेक्षया चाऽम्भः सत्समाधौ विकल्पयेत् ।
मुञ्चेत्तदपि चासन्नमृत्युः शक्तिक्षये भृशम् ॥७८॥

अर्थात्—पित्तकोप, उष्णकाल, जलरहितप्रदेश तथा जिसकी पित्तप्रकृति हो इत्यादि कारणों में से किसी एकभी कारण के होने पर निर्यापकाचार्य को—समाधिमरण के समय जल पीनेकी आज्ञा उसके लिये देनी चाहिये । तथा शक्तिका अत्यन्तक्षय होने पर उस निकटमृत्यु धर्मात्मा श्रावक को—फिर जलका भी त्याग करदेना चाहिये ।

तदा सङ्घोऽखिलो वर्णिमुखग्राहितसत्क्षमः ।
तदविघ्नसमाध्यर्थं दद्यादेकां तनूत्सृतिम् ॥७९॥

अर्थात्—उससमय सर्व संघ को चाहिये कि—उस ब्रह्मचारी श्रावकके मुखसे " तुमने जो हमारा अपराध कियाहै उसके लिये मैं क्षमा करता हूं और जो मैंने तुम्हारा अपराध किया है उसके लिये तुमभी मेरे ऊपर क्षमा करो ! ! " ऐसा कहलवाकर उसकी समाधि " सल्लेखना " में किसी तरह का विघ्न न आवे इसलिये फिर उसे कायोत्सर्ग कराना चाहिये ।

सन्न्यासिनस्ततः कर्णे दद्युर्निर्यापका जपम् ।
संसारभीतिदं जैनैस्तर्पयन्तो वचोऽमृतैः ॥८०॥

अर्थात्—इसके पश्चात् निर्यापकाचार्य को चाहिये कि-सल्लेखना धारी पुरुषके श्रवणो में संसारसे भय उत्पन्न करानेवाले नमस्कार मंत्रादि का निरन्तर श्रवण कराते रहें ।

मिथ्यात्वं त्यज सम्यक्त्वं भज भावय भावनाः ।
भक्तिं कुरु जिनाद्येषु त्रिशुद्ध्या ज्ञानमाविश ॥८१॥

अर्थात्—हे जितेन्द्रिय ! अब तुम मिथ्यात्व को छोड़ो ! सम्यक्त्व का आश्रय करो ! अनित्य अशरणादि बारह प्रकारकी भावनाओं का चिन्तवन करो ! जिन भगवान आचार्य उपाध्याय आदि में मन वचन कायसे भक्ति करो तथा अपने आत्मज्ञान में प्रवेश करो ! ! !

व्रतानि रक्ष कोपादीञ्जय यंत्रय खान्यहो ।
परिषहोपसर्गांश्च सहस्व स्मर चात्मनः ॥८२॥

अर्थात्—धारण किये हुये व्रतकी रक्षा करो ! क्रोधादिक पापों का विजय करो ! पञ्चेन्द्रियों को वशकरो ! परीषह तथा उपसर्गादि को धैर्य पूर्वक सहन करो ! तथा अपने आत्माका चिन्तवन करो ! ! !

तद्दुःखं नास्ति लोकेस्मिन्ना भून्न च भविष्याति ।
मिथ्यात्ववैरिणा यन्न दीयते भवसंकटे ॥८३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अहो! जीवन ग्रहण की परम्परा से पूर्ण इस अपार संसार में ऐसा कोई दुःख नहीं है न हुआ और न कभी होगा जिसे मिथ्यात्वशत्रु न देता हो ।

मिथ्यात्वं भावयन्संघश्रीर्भूयो बौद्धरोपितम् ।
धनदत्तसदस्याशु स्फुटिताऽक्षोऽपतद्भवे ॥८४॥

अर्थात्—बौद्धगुरुके उपदेशसे बन्दक नाम कोई मानव मिथ्यात्वका चिन्तवन करता हुआ धनदत्त की सभामें अन्धा होकर संसार में पर्यटन (भ्रमण) करने लगा ।

सम्यक्त्वसुहृदा यन्न प्राणिनो दीयते सुखम् ।
अधोमध्योर्द्ध्वभागेषु नास्ति नासीन्न भावि तत् ॥८५॥

अर्थात्—पाताललोक मध्यलोक तथा उर्द्ध्वलोक (स्वर्ग) में ऐसा कोई सुख नही है, न हुआ तथा न कभी आगामी होगा जो सुख इस आत्माको सम्यक्त्व रूप मित्र के प्रभाव से प्राप्त न होता हो ।

भावार्थ—संसार में ऐसा तो कोई दुःख नहीं है जो मिथ्यात्व के सेवन से न भोगना पड़ता हो तथा ऐसा कोई सुख भी नहीं है जो सम्यक्त्व के सेवन से न मिलता हो। इसलिये आत्महित के अभिलाषी भव्यपुरुषों को मिथ्यात्व के त्याग पूर्वक सम्यक्त्व धारण करना अत्यन्त आवश्यक है ।

देखो ! इसी सम्यक्त्व के प्रभाव से—

ह्रासितोत्कृष्टश्वभ्राऽऽयुः श्रेणिकः प्रथमाऽवनेः ।
निर्गत्य दृग्विशुद्ध्यैव तीर्थकर्त्ता भविष्यति ॥८६॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक ने सप्तम नरक की उत्कृष्ट स्थिति को घटाकर न्यून करदी तथा आगामी इसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से प्रथम नरक से निकल कर त्रिभुवन महनीय तीर्थंकर का अवतार धारण करेंगे।

अनित्याश्रुतिसंसारैकत्वान्यत्त्वाशुचित्वतः ।
आश्रवः सम्वरो निर्जरा लोको धर्मदुर्लभौ ॥८७॥

द्वादशैता अनित्याद्या भावनाः प्रागभाविनाः ।
भावयेद्भाविता· प्राच्यैर्मनःकपिवशीकृतौ ॥८८॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—अपने मन रूपी शाखा-मृग (वन्द्र) को यदि तुम वश करने की अभिलाषा रखते होतो—पूर्वकाल में धर्मात्मा पुरुषों ने जिन्हें चिन्तवन किया है तथा जिनके चिन्तवन करने का अपने को अभी अवसर प्राप्त नहीं हुआ ऐसी अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर निर्जरा, लोक, धर्म तथा दुर्लभ ये जो द्वादश भावनायें हैं इनका निरन्तर हृदय में आराधन करो ! !

जीवितं शारदब्दाभं धनमिन्द्रधनुर्निभम् ।
कायश्च संततापायः कोपेक्षामुत्रसाधने ॥८९॥

अर्थात्—यह जीवन शरत्कालीनमेघ के समान क्षणनश्वर है धन इन्द्र धनुष के समान अवलोकन करते २ नाश होने वाला है तथा यह शरीर भी निरन्तर इस प्रकार विनाश युक्त है इस प्रकार अपने लोचनों के सामने सर्व वस्तुओं को विनश्वर देखने पर भी परलोक साधन में उपेक्षा करनी चाहिये क्या ?

वने मृगार्भकस्येव व्याघ्राऽऽघ्रातस्य कोपि न ।
शरणं मरणे जन्तोर्मुक्त्वैकं धर्ममार्हतम् ॥९०॥

अर्थात्—निर्जन अरण्य में सिंहके पञ्जे में फंसे हुये मृगशावकः

को बचाने के लिये कोई समर्थ नहीं है। उसीतरह इस जीव को यमराज के पञ्जे में फंस जाने पर ज़िनधर्म को छोड़ कर कोई आश्रय नही है।

न तद्द्रव्यं न तत्क्षेत्रं न स कालो भवो न सः।
भावश्च भ्रमताऽनेन ज्ञात्वा मुक्तं मुहुर्न यत् ॥९१॥

अर्थात्—न तो वह द्रव्य है न वह क्षेत्र है न वह काल है न वह संसार है तथा न भाव है जिसे-असार संसार में भ्रमण करते हुवे इस आत्मा ने बार २ ग्रहण करके न छोड़ा हो।

एकः स्वर्गे सुखं भुंक्ते दुःखं चैको भुवस्तले।
मध्येऽपि तद्द्वयं चैको न कोप्यन्यः सखात्मनः ॥९२॥

अर्थात्—एक तो स्वर्ग में सुख का उपभोग करता है और एक पृथ्वीतल (नरक) में निरन्तर दु खो को भोगता है तथा मध्य-लोक में सुख तथा दु ख ये दोनों ही हैं परन्तु इस आत्माका तो दोनों में से कोई भी मित्र नहीं है।

चेतनादात्मनो यत्र वपुर्भिन्नं जडात्मकम्।
तत्र तज्जादयः किं न भिन्नाः स्युः कर्मयोगजाः ॥९३॥

अर्थात्—चेतन स्वभाव आत्मा से जड़ स्वरूप यह शरीर ही जब भिन्न है तो उस शरीर के सम्बन्ध से तथा कर्म के परिपाक से होने वाले ये मित्र पुत्र कलत्रादि भिन्न नही हैं क्या? किन्तु अवश्य भिन्न हैं।

रेतःशोणितसंभूते वर्चःक्रिमिकुलाऽऽकुले।
चर्मावृत्ते शिरानद्धे नृदेहे का सतां रतिः ॥ ९४ ॥

अर्थात्—वीर्य तथा शोणित (खून) से उत्पन्न होने वाला, विष्टा तथा कीड़ों के समूह से पूर्ण, चर्म से आच्छादित तथा नाड़ी से बँधे हुवे इस अत्यन्त अपवित्र शरीर में सज्जन पुरुषों को अनुराग करना चाहिये क्या? किन्तु नही करना चाहिये।

मिथ्यात्वादिचतुर्द्वारैः कर्माऽऽश्रवति देहिनः।
छिद्रैर्वारीव पोतस्य शुभाऽशुभमिहाम्बुधौ ॥९५॥

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्रमें से नावके छिद्रों में जल आता रहता है उसीतरह मिथ्यात्व अविरत प्रमाद तथा कषाय इन चारों के द्वारा इस आत्मा मे शुभ तथा अशुभ कर्मोंका आश्रव आता रहता है।

द्रव्यभावाश्रवस्यास्य निरोधः सम्वरो मतः।
सम्यक्त्वाविरतिमष्ठैः स विधेयो मुमुक्षुभिः ॥९६॥

अर्थात्—सम्यग्ज्ञान के धारक तथा जिनके हृदय में संसार से छूटने की उत्कट अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि—द्रव्याश्रव तथा भावाश्रव के रोकने रूप जो सम्वर है उसे धारण करें।

कर्मणामेकदेशेन गलनं निर्जराऽऽत्मनः।
तपसा सा विपाकेन सकामाऽकामतो द्विधा ॥९७॥

अर्थात—पूर्व बँन्धे हुये कर्मोका एक देश से जो गलना (नाश होना) है उसे निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा तपादि से तथा कर्मों के विपाक से सकामानिर्जरा तथा अकामानिर्जरा इसतरह क्रमसे दो भेद रूप समझनी चाहिये।

लोक्यते दृश्यते यत्र जीवाद्यर्थकदम्बकः।
स लोकस्त्रिविधोऽनादिनिधनः पुरुषाकृतिः ॥९८॥

अर्थात—जिसजगह जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वरादि पदार्थों का समूह अवलोकन कियाजाय (देखाजाय) वह अनादि निधन तथा पुरुषाकार लोक ऊर्द्धलोक मध्यलोक तथा अधोलोक इन भेदों से तीन भेद रूप हैं।

दयादिलक्षणो धर्मः सर्वज्ञोक्तः स्वशक्तितः।
पतन्तं दुर्गतौ धत्ते चेतनं सुखदे पदे ॥९९॥

अर्थात्—जिस का सर्वज्ञ भगवान ने उपदेश दिया है तथा जिसमें जीव मात्र की रक्षा करना ही प्रधान मानागया है वही तो यथार्थ में धर्म है और वही धर्म दुर्गति मे गिरते हुवे इस आत्मा को अपनी सामर्थ्य से निकालकर सुखदायक जो मोक्षादि स्थान हैं उनमें स्थापित करता है।

अर्थात्—पहले राज्य भोगादि विभूति के बीच में पुनः पुनः भ्रमण करते हुवे मेरे लिये बोधि (ज्ञान) तथा समाधि को छोड़कर और कोई वस्तु कुछ भी दुर्लभ नहीं थी। यदि दुर्लभ (दुष्प्राप्य) थी तो यही बोधि तथा समाधि !

भावार्थ—संसार में भ्रमण करते हुवे इस जीव ने राज्य सम्पति आदि ऐश्वर्य तो कितनी ही बार पाया है परन्तु बोधि समाधि कभी नही पाई है। इसलिये दुर्लभ इस मानव जीवन को बोधि समाधि रूप अनर्घ्य अलंकरण से अलंकृत करना उपादेय तथा कल्याण कारी है।

भावनाः षोडशाप्यत्र भावनीया महात्मना।
सद्दर्शनविशुद्ध्याद्यास्तीर्थकृत्वप्रदायिकाः ॥१००॥

अर्थात्—भव्यपुरुषों को—तीर्थंकर पद की देने वाली दर्शन-विशुद्धि, विनय, शीलव्रत आदि षोडश भावनायें भानी चाहिये।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थमिति भावनाः।
भावनीयाः सदाप्राज्ञैर्मरणे किं न युक्तितः ॥१०१॥

अर्थात्—जीव मात्र में मैत्री, अपने से जो गुणों में उत्कर्ष शाली हैं उनमें प्रमोद (हर्ष), जो जीव आर्त्ति से पीडित हैं उनमें करुणा भाव तथा जो अविनयी हैं उनमें मध्यस्थ भाव इस प्रकार ये चार भावनायें बुद्धिमान पुरुषों को—मृत्यु के अवसर मे युक्ति पूर्वक नहीं भानी चाहिये क्या ? किन्तु अवश्य भानी योग्य हैं।

क्षन्तव्यं सह सर्वैर्मे मयि ते च क्षमान्त्विति।
जीवा ज्ञानमया एते भाव्या मैत्री च मित्रवत् ॥१०२॥

अर्थात्—मुझे सबके साथ क्षमा करनी चाहिये तथा वे सब मेरे साथ क्षमा करें। क्योंकि सब जीव ज्ञान स्वरूप हैं। इसलिये मुझे अपने मित्रके समान मानने चाहियें।

ये द्विधाऽऽराधनोपेता मूलोत्तरगुणान्विताः।
प्रमोदस्तेषु कर्त्तव्यो धनिष्विव दरिद्रिणा ॥१०३॥

अर्थात—जिसप्रकार दरिद्र पुरुष धनवान को देख कर हर्षित होते हैं उसीतरह जो दो प्रकार की आराधना सहित हैं तथा मूलगुण और उत्तर गुणोंसे युक्तहैं उन महात्मा पुरुषों में धर्मात्मा पुरुषोंको—सदैव प्रमोदित (आनन्दित) रहनों चाहिये।

रोगशोकदरिद्राद्यैः पीडिता येऽत्र जन्तवः।
तेषां दुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यं क्रियतामिति ॥१०४॥

अर्थात्—रोग, शोक, दरिद्रता आदि से जो जीव दुःखी हैं उनके दुःखोंके दूर करने की अभिलाषा को कारुण्य कहते हैं। धर्मात्माओं को इस कारुण्यभावना का भी चिन्तवन करना चाहिये।

अतिमिथ्यात्विनः पापा मद्यमांसातिलोलुपाः।
नाराध्या न विराध्यास्ते मध्यस्थमिति भाव्यते ॥१०५॥

अर्थात—जो लोग मिथ्यात्वी हैं तथा जो मदिरा मांसादि अपवित्र पदार्थों में अत्यन्त लोलुप हैं ऐसे लोगों की नतो स्तुति करनी चाहिये और न उनसे विरोध ही करना चाहिये। इसे माध्यस्थ भाव कहते हैं। यहभी चिन्तवन योग्य है।

जीवास्तु द्विविधा ज्ञेया मुक्ताः संसारिणोऽपरे।
आद्या नित्यचिदानन्दाः सम्यक्त्वादिगुणैर्युताः॥१०६॥

अर्थात—मुक्तजीव तथा संसारी जीव इसप्रकार जीवों के दो विकल्प हैं। उनमें मुक्तजीव नित्य चिदानन्द स्वरुप तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणों से विभूषित हैं।

अन्ये नारकतिर्यक्त्वनरदेवभवोद्भवाः।
एतेषां योनिभेदास्तु लक्षाश्चतुरशीतिकाः ॥१०७॥

अर्थात्—तथा संसारी जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव इस प्रकार चार भेद रुपहैं इनके योनि भेद चोरासी लाख होतेहैं।

नारकाणां चतुर्लक्षास्तिरश्चां व्यधिपष्ठिकाः।
नृणां चतुर्दश प्रोक्ताश्चतुर्लक्षाः सुधासिनाम् ॥१०८॥

अर्थात्—नारकी जीवों के चार (४) लाख, तिर्यञ्चों के बासठ

(६२) लाख, मनुष्यों के चौदह (१४) लाख तथा देवों के चार (४) लाख इसप्रकार सामान्यता से चौरासी लाख योनि भेद हैं।

नित्येतरनिगोताग्निपृथ्वीवार्वायुकाङ्गिनाम् ।
प्रत्येकं सप्तसप्तैता वृक्षाणां दशलक्षकाः ॥१०९॥

अर्थात्—नित्यनिगोद सातलाख, इतरनिगोद सातलाख, अग्निकाय सातलाख, पृथ्वीकाय सातलाख, जलकाय सातलाख, वायुकाय सातलाख तथा वनस्पतिकाय दशलाख ये सब मिलाकर बावन (५२) लाख हुये।

षड्लक्षा विकलाक्षाणां पञ्चाक्षाणां चतस्रकाः ।
एवमेकत्र निर्दिष्टा लक्षा द्वाषष्टि योनयः ॥११०॥

अर्थात्—तथा विकलेन्द्रियों (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियों) के छहलाख और पञ्चेन्द्रियों के चारलाख इस प्रकार ये सब मिलाकर (तिर्यञ्चों) के बॉसठ (६२) लाख भेद होते हैं।

अशुद्धिनिश्चयेनैते चेद्रागादिमयाः खलु ।
तथापि शुद्धद्रव्येण मुक्तवद्गुणिनोऽखिलाः ॥१११॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ये सब जीव रागादि स्वरुप हैं परन्तु शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षासे सिद्धभगवान के समान ही गुणी समझने चाहिये।

अतो ज्ञानमयत्वात्ते सर्वाराध्याः किलाङ्गिनः ।
भेदेन तेषु पञ्चैव परमेष्ठिन उत्तमाः ॥११२॥

अर्थात्—ये सब जीव ज्ञानस्वरुप हैं इसलिये तो सबही आराधन करने के योग्य है। परन्तु इनमें भेद करने से तो फिर पञ्च-परमेष्ठी ही उत्तम समझने चाहियें।

अब परमेष्ठी शब्द की व्याकरण शास्त्र के अनुसार व्युत्पत्ति बताते हैं——

परमेऽत्युत्तमे स्थाने तिष्ठन्ति परमेष्ठिनः ।
ते चार्हन्सिद्ध आचार्यः पाठकः साधुराख्यया ॥११३॥

अर्थात्—परम (अत्युत्तम) स्थान में जो रहने वाले हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं वे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तथा साधु नामसे विश्रुत (प्रसिद्ध) हैं।

अब क्रमसे पाचों परमेष्ठी का पृथक् २ स्वरूप कहते हैं उनमें पहले ही अर्हन्त भगवान का स्वरुप बताते हैं—

स्वभावज्ञानजा मर्त्यविहितैरतिशयान्वितः ।
प्रातिहार्यैरनन्तादिचतुष्केन युतो जिनः ॥११४॥

अर्थात्—दश, स्वभावसे (जन्मसे) उत्पन्न होने वाले, दश, केवलज्ञानके समयमें होने वाले, चतुर्दश, देवताओं के द्वारा होने वाले, आठ प्रातिहार्य तथा चार अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनादि, इसप्रकार छयालीस अतिशयों से जो विभूषित हैं उन्हे अर्हन्त कहते हैं।

अब सिद्ध भगवान का स्वरूप कहते हैं—

सिद्धः कर्माष्टनिर्मुक्तः सम्यक्त्वाद्यष्टसद्गुणः ।
जगत्पुरुषमूर्द्धस्थः सदानन्दो निरञ्जनः ॥११५॥

अर्थात्—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से विराजमान, लोकाकाश के ऊपर स्थित, सतत आनन्द मंडित तथा निरञ्जन (कर्ममलादि रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् हैं।

आचाराद्या गुणा अष्टौ तपो द्वादशधा दश ।
स्थितिकल्पः षडावश्यमाचार्योऽमीभिरन्वितः ॥११६॥

अर्थात—दर्शनाचार, ज्ञानाचारादि पञ्च आचार, तीनगुप्ति, बारह प्रकार तप, उत्तमक्षमादि दश प्रकार धर्म तथा छह आवश्यक कर्म इन छत्तीस गुणों के जो धारक होते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं।

एकादशाङ्गसत्पूर्वचतुर्दशश्रुतं पठन् ।
व्याकुर्वन्पाठयन्नन्यानुपाध्यायो गुणाग्रणीः ॥११७॥

अर्थात्—जो गुणश्रेष्ठ साधु-स्वयं एकादशाङ्ग शास्त्र तथा चतुर्दश पूर्व शास्त्रों को पढते हैं, व्याख्यान करते हैं तथा और २ शिष्यवर्ग को पढाते हैं उन्हें उपाध्याय समझने चाहिये।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रिकं भेदेतरात्मकम् ।
यथावत्साधयन्साधुरेकान्तपदमाश्रितः ॥११८॥

अर्थात्—जो अपने आत्मद्रव्य से अभिन्न स्वरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का यथायोग्य साधन करनेवाले हैं तथा विजन प्रदेश में निवेश करने वाले हैं उन्हें साधु (मुनि) कहते हैं ।

भजनीया इमे सद्भिः सम्यक्त्वगुणसिद्धये ।
स्नानपूजनसद्ध्यानजपस्तोत्रसदुत्सवैः ॥११९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—शिवसुखाभिलाषी पुरुषों का—जिनका हम ऊपर स्वरूप कह आये हैं ऐसे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तथा साधुओं की अभिषेक से, पूजन से, ध्यान से, जपसे, स्तुति से तथा उत्तम २ उत्सव महोत्सवादि से सेवा (पूजन) करनी चाहिये ।

भव्यः पञ्चपदं मन्त्रं सर्वावस्थासु संस्मरन् ।
अनेकजन्मजैः पापैर्निःसन्देहं विमुच्यते ॥१२०॥

अर्थात्—महर्षियों का उपदेश है कि—जो धर्मात्मा भव्यपुरुष निरन्तर "णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" इस महामन्त्र का चिन्तवन करते रहते हैं वे भव्यात्मा—निःसन्देह जन्म २ मे उपार्जन किये हुवे पापकर्मों से रहित होते हैं ।

एकद्वयचतुःपञ्चषट्षोडशसदक्षरैः ।
स पञ्चत्रिंशतावर्णैर्वाक्यैर्मंत्रं जपेद्व्रती ॥ १२१ ॥

अर्थात्–व्रती पुरुषों को-एकाक्षर का (ॐ) दो अक्षरों का (सिद्ध असा–ॐ ह्रीं) चार अक्षरों का (अरहन्त-असिसाहू) पांच अक्षरों का (असिआउसा) छह अक्षरों का (अरहन्त सिद्धा, अरहन्तसिसा, ॐ नमः सिद्धेभ्य) सोलह अक्षरों का (अरहन्त सिद्ध आयरिया उवज्झाया साहु) पैंतीस अक्षरों का (णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,णमो लोए सव्वसाहूणं) इस प्रकार मन्त्रों का जप करना चाहिये।

पापोऽपि यत्र तन्मन्त्रं प्रान्ते ध्यायन्सुरो भवेत् ।
तत्र सम्यक्त्वपूतात्मा सदा ध्यायन्न किं जनः ॥१२२॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अहो ! जिस महामन्त्र का अवसान (मरण) समय में स्मरण करने से पापी पुरुष भी देव होता है तो उसी मंत्रराज के ध्यान से सम्यक्त्व विशुद्ध मानव क्या निर्जर (देव) पर्याय को नहीं प्राप्त होगा ? किन्तु निःसन्देह होगा।

चौरो रूपखुरो नाम शूलारूढोऽपि तत्पदम् ।
जिनदासोपदेशेन ध्यात्वा देवीं गतिं ययौ ॥१२३॥

अर्थात—इसी महामंत्र का—जिनदास श्रावक के उपदेश से शूली के ऊपर चढ़ा हुआ रूपखुर नाम चौर भी ध्यान करके देव हुआ था।

दत्तं नागश्रिया मन्त्रं मातङ्गचरकुक्कुरः ।
समादायाऽभवन्नागदेवः स्वाम्युपकारकृत् ॥१२४॥

अर्थात—पूर्व काल में किसी चण्डाल का पाला हुआ श्वान नागश्री के द्वारा सुने हुये इसी महामन्त्र का चिन्तवन करके अपने स्वामी का उपकार करने वाला नागदेव हुआ था।

गोपो विवेकहीनोऽपि पठन्पञ्च नमस्कृतीः ।
जातः सुदर्शनश्रेष्ठी चम्पायां यः सुदर्शनः ॥१२५॥

अर्थात—ज्ञानहीन गुवाल भी-इसी पञ्चनमस्कार महामंत्र के स्मरण करनेसे चम्पापुरी मे सुदर्सन नाम सेठ हुआ था। ग्रन्थकार कहते हैं—अहो ! वास्तव में वह सुदर्सन (देखने में सुन्दर) था।

अधिक कहांतक कहें किन्तु यों समझिये कि—

सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिद्धयन्ति ये केचिदिह जन्तवः ।
सर्वे ते तत्पदं ध्यात्वा रहस्यमिति सूत्रजम् ॥१२६॥

अर्थात—इस संसार में जितने आत्मा पूर्व समय में सिद्धावस्था को प्राप्त हुवे हैं. आगामी कालमें होंगे तथा वर्तमान समय में होने वाले हैं वे सब इसी पञ्च त्रिंशताक्षरात्मक महा मंत्रराजके

ध्यान करने से हुवे हैं होंगे तथा होनेवाले हैं। इस मंत्रके विषय में विशेष क्या कहाजाय किन्तु इतने में ही समझ लीजिये कि—यह जिनसूत्र का रहस्य है।

अर्हत्सिद्धौ समाराध्यौ तेषु पञ्चसु भेदतः।
सदाप्तत्वं यदापन्नौ निरावरणबोधिनौ ॥१२७॥

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि—ऊपर जो हम पञ्चपरमेष्ठी के पांच विकल्प कर आये हैं उनमें अरहन्त तथा सिद्धजिन निरन्तर आराधन करने के योग्य हैं। क्योंकि—ये दोनों आप्तत्व (देवत्व) स्वरूप के धारक हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मों के आवरण से रहित हैं और सर्वज्ञ (त्रिभुवन वर्ति समस्त वस्तुओं को एक समय में जानने वाले) हैं।

तत्राऽपि भेदतः सिद्धः समाराध्यो विशेषतः।
नित्यत्वान्निष्कलत्वाच्च सर्वकर्मक्षयत्वतः ॥१२८॥

अर्थात्—अरहन्त तथा सिद्ध में भी विशेषपने सिद्ध भगवान समाराधन करने योग्य हैं क्योंकि—सिद्धभगवान नित्य हैं अविकल हैं तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय आदि आठ कर्मोंको क्षय कर दिये हैं।

ध्यानं यदर्हदादीनां सालम्बं तन्निगद्यते।
सरागर्षिगृहस्थानां साधनं तस्य दर्शितम् ॥१२९॥

अर्थात्—इन अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तथा साधुओं का जो ध्यान करना है उसे सालम्बध्यान कहते हैं। वह सालम्ब ध्यान सराग मुनी तथा गृहस्थों के साधन करने योग्य है।

कदाचिद्वीतरागाणां दुर्ध्यानापोहनाय वै।
सालम्बं तत्स्मृत ध्यानं गोणत्वेन शुभाश्रवात् ॥१३०॥

अर्थात्—यदि किसी समय वीतरागी मुनियों के भी आर्त्त रौद्रादि दुर्ध्यान होने लगे तो उसके नाश करने के अर्थ यह सालम्ब (अर्हन्तादि का स्मरण रूप) ध्यान—शुभ (पुण्य) कर्म के आश्रव का हेतु होनेसे गौणरुप से माना गया है।

आद्यसंहननोपेता निःकषाया जितेन्द्रियाः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ताः परीषहभटाजिता. ॥१३१॥
पर्यङ्काद्यासनाभ्यस्तास्तन्द्रनिद्राविवर्जिताः ।
इत्यादिगुणसम्पन्ना योगिनो ध्यानसिद्धये ॥१३२॥

अर्थात्—वज्रवृषभनाराच संहनन के धारक, क्रोध मान माया लोभादि कषायों से विनिर्मुक्त, इन्द्रियों के जीतनेवाले, राग तथा द्वेष रहित, परीषह रूप भटपुरुषों के वशवर्त्ति न होने वाले (परीषहों के जीतने वाले) पद्मासन तथा खड्गासन आदि ध्यानासनों के जानने वाले, आलस्य तथा निद्रा के अधीन न होने वाले इत्यादि उत्तम २ गुणों से शोभमान साधु लोग ही ध्यान की सिद्धि के लिये योग्य हैं ।

धारणा यत्र काचिन्न न मन्त्रपदचिन्तनम् ।
मनःसङ्कल्पनं नास्ति तद्ध्यानं गतलम्बनम् ॥१३३॥

अर्थात्—जिस ध्यान में न तो किसी प्रकार की धारणा है न किसी प्रकार के मन्त्रादिका चिन्तवन है और न मन का सङ्कल्प है उसे आलम्ब रहित (निरालम्ब) ध्यान कहते हैं ।

आत्मानमात्मनात्मानं निरुध्यात्तस्थितो मुनिः ।
कृतात्मात्मगतं ध्यायेत्तन्निरालम्बमुच्यते ॥१३४॥

अर्थात्—अपने स्वभाव में स्थिर जो साधु आत्मा को आत्मा के द्वारा रोकते हैं तथा आत्मा को आत्मा मे लगाकर ध्यान करते हैं उसे भी निरालम्ब ध्यान कहते हैं ।

गते मनोविकल्पेऽस्य यो भावः कोऽपि जायते ।
स एवाऽऽत्मस्वतत्वं च शून्यध्यानं च तन्मतम् ॥१३५॥

अर्थात्—मनका विकल्प मिट जाने पर साधु पुरुषों का जो अवर्णनीय भाव होता है उसे आत्मा का स्वतत्त्व कहते हैं तथा उसे ही शून्यध्यान भी कहते हैं ।

अभेद एक एवाऽऽत्मा भेदे च त्रितयात्मकः ।
दर्शनज्ञानचरित्रं दाहकादित्रिधाग्निवत् ॥१३६॥

अर्थात्— अभेद विवक्षा से यह आत्मा एकही है और भेद विवक्षा से दर्शन ज्ञान तथा चारित्र इन भेदों से त्रितयात्मक है। इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं-यदि वास्तवमें विचाराजाय तो दाहात्मक शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है जो अग्नि है वही दाह है और जो दाह है वही अग्नि है परन्तु भेद विवक्षा को लेकर "वह्निर्दहति दाहाऽऽत्मशक्त्या" अर्थात्—अग्नि अपनी दाह शक्ति से जलाती है ऐसा प्रयोग होता है। उसी प्रकार आत्मा अभेद विवक्षा से दर्शन ज्ञान तथा चारित्र रूप है इन से भिन्न आत्मा नहीं है किन्तु भेद विवक्षा से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र से पृथक् २ है।

निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप कहते हैं कि—

आत्मनो दर्शने दृष्टिर्ज्ञाने ज्ञानं च योगिनः ।
स्वरूपाचरणे प्रोक्तं चारित्रं विश्वदर्शिभिः ॥१३७॥

अर्थात्—सर्वज्ञभगवान ने साधुपुरुषों का–अपने आत्मा के श्रद्धान को, दर्शन आत्मा के ज्ञानको ज्ञान तथा आत्मामें आचरण करने को चारित्र कहा है।

इत्यतदाऽऽत्मनोरूपं ध्यात्वा चाऽन्तर्मुहूर्ततः ।
कर्माणि भस्मसात्कृत्य तदनुज्ञानभाग्भवेत् ॥१३८॥

अर्थात्—इसप्रकार आत्मा के रूप का ध्यान करके तथा अन्तर्मुहूर्त मात्रमें कर्मोंको दग्ध करके इसके बाद यह आत्मा केवल ज्ञानका भोगने वाला होता है।

तपः करोतु चारित्रं चिनोतु पठतु श्रुतम् ।
यावद्ध्यायेन्न चात्मानं मोक्षस्तावन्न जायते ॥१३९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते है—तबही तक तपश्चरण करो! तबही तक व्रतादि धारण करो! तथा तबही तक शास्त्रोंका परिशीलन करो! जबतक आत्माका ध्यान न किया जाय तथा जबतक मोक्ष निलयकी प्राप्ति नहो।

तद्ध्यानं तु गृहस्थानां जायते न कदाचन ।
शशानां शृङ्गवत्कच्छपानां रोमप्रचायवत् ॥१४०॥

अर्थात्—महर्षिलोगों का कहना है कि— यह निरालम्ब ध्यान गृहस्थ लोगों को कभी नहीं होता है । इसी बातको निदर्शनसे प्रस्फुट करते हैं कि—जिसप्रकार शशक (खरगोश) के शृंग नहीं होते हैं तथा कछुवों के केश नही होते हैं उसीतरह यह शून्यध्यान भी गृहस्थो के नही होता है ।

अतस्तद्भावना कार्या परोक्षं श्रावकैः सदा ।
सिद्धौ यादृग्वसेत्सिद्धस्तादृकायेऽस्मि निर्मलः ॥१४१॥

अर्थात्—इसलिये गृहस्थों को परोक्ष में निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये कि— " मोक्ष स्थान में जिस प्रकार कर्ममल शुद्ध सिद्ध भगवान निवास करते हैं उसी प्रकार मैं भी इस शरीर मे रहता हूं किन्तु हूं उन्हीं के समान शुद्ध " !!

सिद्धोहमस्मि शुद्धोहं ज्ञानादिगुणवानहम् ।
काये वसन्नसंख्यातप्रदेशोहं निरञ्जनः ॥१४२॥

अर्थात्—मैं शरीर में रहता हूँ तौ भी—सिद्ध हूं, शुद्ध (पवित्र) हूँ ज्ञानादि गुण का धारक हूँ असंख्यात प्रदेशी हूँ तथा अञ्जन रहित हूँ ।

देहे वसंस्ततोभिन्नः काष्ठे वह्निरिवाऽनिशम् ।
सम्यगात्मनि संप्राप्ते क्षयं कर्त्तास्मि तस्य तु ॥१४३॥

अर्थात्—जिसप्रकार काष्ठ में अग्नि पृथक् रहती है उसी प्रकार शरीर में रह कर भी मैं उस से भिन्न हूँ । और आत्मा में सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर शरीर का नाश करने वाला भी हूँ ।

इति भावनया चक्री राज्यं भुक्त्वा च मुक्तवान् ।
लोचानन्तरमेवाऽसौ केवलज्ञानमापिवान् ॥१४४॥

अर्थात्—इस प्रकार आत्मभावना से महाराज भरतचक्रवर्ति राज्य का उपभोग करके उसे छोड़दिया । ग्रन्थकार कहते हैं देखो !

इस आत्मभावना का अभ्युदय कि—केशलौंच करने के बादही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

॥ इति भावना ॥

यथाऽर्हदादयः पञ्च ध्येया धर्मादयस्तथा।
चत्वारो देवताभ्यस्तु नवभ्यो मे नमः सदा ॥१४५॥

अर्थात्—जिसप्रकार पञ्च परमेष्ठी ध्यान करने के योग्य हैं उसी प्रकार जिनधर्मादि चार और भी ध्याने योग्य हैं। इन नव ही देवताओं के लिये मेरा निरन्तर नमस्कार हो।

ऊपर श्लोक मे जिनधर्म आदि जो चार देवता कहे हैं वे कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि—

चत्वारो देवता एते जिनधर्मो जिनागमः।
जिनचैत्यं जिनावास आराध्या सर्वदोत्तमैः ॥१४६॥

अर्थात्—जिनधर्म, जिनागम (जैनशास्त्र) जिनप्रतिमा तथा जिनालय ये चार देवता हैं। बुद्धिमानों को—निरन्तर इनका आराधन करना चाहिये।

जिनादौ भक्तिरेकास्तु किमन्यैः संयमादिभिः।
विघ्नानुच्छिद्य या दोग्धि सर्वान्कामानिहामुतः १४७॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—अहो! पञ्च परमेष्ठी में एक अविचल भक्ति होना ही अच्छा है और संयमादि से विशेष क्या साध्य है? क्योंकि-एक भक्तिही ऐसी है जो सर्व विघ्नोंका नाश करके इह लोक तथा परलोक में मनोऽभिलषित वस्तुओं की देने वाली है।

पञ्चधा वाचनामुख्यं स्वाध्यायं विदधन्मुनिः।
सत्कालाध्यनाद्यष्टशुद्धया स्याछ्रुतपारगः ॥१४८॥

अर्थात्—जो मुनि-शास्त्रोचित समय में 'अध्ययन करना' आदि आठ प्रकार की शुद्धि पुर्वक वाचना नाम स्वाध्याय को प्रधानता से उपयोग में लाकर पांच प्रकार स्वाध्याय करते हैं उन्हें ही श्रुत के पारगामी समझना चाहिये।

खण्डपद्यैस्त्रिभिः कुर्वन्स्वाध्यायं चात्मनाकृतैः ।
ऋषिनिन्दाप्तजाड्योऽपि यमोऽभूत्सप्तऋद्धिभाक् ॥१४९॥

अर्थात्—मुनीलोगों की निन्दा करनेसे जिसे मूर्खता प्राप्त हुई है ऐसा यम नाम कोई राजा—अपने बनाये हुवे तीन खंडित श्लोकोंका ही स्वाध्याय करनेसे सप्तऋद्धि का उपभोग करने वाला हुआ था ।

स्तोकामपि त्वाहिंसां यः कुर्याद्दोदूयते न सः ।
रुजा यः किं पुनः सर्वां स सर्वा न रुजः क्षिपेत् ॥१५०॥

अर्थात—ग्रन्थकारका कहना है—अहो ! जोपुरुष थोड़ा भी अहिंसाव्रतका पालन करता है वहभी जब रोगसे पीड़ित नहीं होता है फिर जो सर्वप्रकार अहिसा व्रतका दृढ़ता पूर्वक पालन करैगा वह सर्व पीड़ाओंका नाश नहीं करैगा क्या ? किन्तु अवश्य करैगा ।

यमपालो हृदेऽहिंसन्पर्वाहं महितोऽप्सुरैः ।
धर्माख्यस्तत्र मेषघ्नो भक्षितः शिशुमारकैः ॥१५१॥

अर्थात्—किसी सरोवर में हिंसा न करने वाला यमपाल तो जलदेवता के द्वारा सत्कार कियागया और उसी जगह—बकरे का मारने वाला "धर्म" मछलियों के द्वारा खाया गया ।

मा कृथाः कामधेनुं गामसत्यव्याघ्रसम्मुखीम् ।
स्तोकोप्यत्र मृषावादो नाना दुःखाय जायते ॥१५२॥

अर्थात—ग्रन्थकार कहते हैं—हे भव्य ! तुम अपनी वाणीरूप कामधेनुको असत्यरूप व्याघ्रके सामने मत करो ! क्योंकि—थोड़ा भी झूठ बोलना इस संसारमें अनेक प्रकारके दुःखोंका कारण होता है ।

भावार्थ—कामधेनु मनोभिलपित वस्तु की देने वाली होती है उसी प्रकार सत्य बोलने को भी कामधेनु के समान इच्छित वस्तुका देने वाला समझकर उसे असत्य रूप सिंहके सामने कभी मत करो । (कभी झूँठ मत बोलो) क्योंकि-जिसप्रकार व्याघ्र गायको भक्षण कर लेता है उसीप्रकार असत्य बोलने से तुम कभी सत्य बोलोगे तोभी कोई

तुम्हारे वचनोंपर विश्वास नहीं लावेगा! तात्पर्य यही हुआकि तुम्हारे सत्यवचनरूप कामधेनुका असत्यव्याघ्रने घात कर डाला है। और फिर इसी असत्य से संसार में अनेक प्रकार दुःख देखने पड़ेंगे।

अजैर्होतव्यमत्रेति धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति।
वाच्यं छागैरिति परावर्त्याऽऽयान्निरयं वसुः ॥१५३॥

अर्थात्—प्रद्युम्नचरित्रादिमें—पर्वत और नारद के बिवादमें सत्यवादी महाराज वसु असत्यपक्षको अच्छी बताकर उसीसमय नरक धाम सिधारे, यह कथा प्रसिद्ध है। उसीका सारांश इस श्लोक में दर्शाया गया है—"अज" से हवन करना चाहिये इस स्थल में एक का तो कहना था कि अज (तीन वर्षके पुराने ध्यान) से हवन करना चाहिये। इसपर पर्वतका कहना था—यह अर्थ ठीक नहीं है किन्तु अज (छाग-बकरे) से हवन करना चाहिये। नारद और पर्वत के इसविवादमें मध्यस्थ वसु भूपतिने कहा कि—"छागै र्वाच्यमिति" अर्थात्-बकरे को मारकर यज्ञ करना चाहिये। इसी अर्थ को पलट कर उसी समय नरकावास वासी हुवे।

चुरांस्तां तदभिध्यापि म कार्या जातुचित्त्वया।
प्रछन्परस्वं तत्प्राणाञ्जिहीर्षन्हन्ति च स्वकम् ॥१५४॥

अर्थात्—हे पुरुषोत्तम! तुम्हें चौरी तथा चौरी का चिन्तवन तक भी कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि—दूसरों के धन को चुराने वाला उसके प्राणों के हरण की इच्छा करता हुआ स्वतः अपना भी नाश करलेता है।

मुषित्वा निशि कौशाम्बीं दिने पञ्चाग्निमाचरन्।
परिव्राट् शिक्यकारूढोऽधोगाद्दुमूर्तैर्नृपात् ॥१५५॥

अर्थात्—कौशाम्बी नाम नगरी में—रात्रि के सयम चौरी करके और दिन में पञ्चाग्नि तपश्चरण करने वाला कोई संन्यासी साधु अपने पाप के प्रगट हो जाने से राजा के द्वारा शूली दिया जाकर नरक गया।

मनसा खण्डयन्शीलं दशास्यः प्रतिकेशवः।
सीतायां लक्ष्मणान्मृत्वा जगाम वालुकाप्रभाम् ॥१५६॥

अर्थात्—प्रतिनारायण रावण केवल मन के संकल्प मात्र से अपने ब्रह्मचर्य को जनकनन्दिनी के सम्बन्ध में खण्डित कर और लक्ष्मण के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होकर तीसरे नरक में गया।

ग्रन्थकार कहते हैं कि—इन बुरे कर्मों के दृष्टान्तों की संख्या हम कहां तक बतावें किन्तु यों समझिये कि—

अन्येऽपि भूरिशो यत्र गृहस्थाश्च तपोधनाः।
स्खलित्वा दुःखिनो जातास्तच्छीलं दृढमाचरेः ॥१५७॥

अर्थात्—और भी कितने गृहस्थ तथा तपस्वी (साधु) इस ब्रह्मचर्य से च्युत होकर दुःखी हुवे हैं इसलिये इस ब्रह्मचर्य व्रत का अखण्डरीति से रक्षण करो !!! यही व्रत दुःखों से तुम्हें बचावेगा।

चेतनाऽचेतनाः सङ्गा बाह्याऽभ्यन्तरतो द्विधा।
भ्रमतस्ते पुराऽभूवन्न ये ते न जगत्त्रये ॥१५८॥

अर्थात्—बाह्य तथा अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार ये चेतन तथा अचेतन परिग्रह—इस संसार में भ्रमण करते हुवे तुम्हें पहले कभी प्राप्त न हुवे हों ऐसा नहीं है किन्तु अवश्य कितनी ही वक्त प्राप्त हुवे हैं।

कूटेष्टस्य स्मरं स्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतिम्।
मोपेक्षां त्वं कुरु ग्रन्थे मूर्च्छतो मनसः क्वचित् ॥१५९॥

अर्थात्—कूटेष्ट तथा स्मश्रुनवनीत आदि की इसी परिग्रह के लोभ से खोटी मृत्यु का स्मरण करते हुवे तुम-परिग्रह में मूर्च्छा को प्राप्त होने वाले अपने मन की उपेक्षा कभी मत करो (परिग्रह में मन को आसक्त मत होने दो) नहीं तो जिसप्रकार स्मश्रुनवनीत आदिकों की बुरी गति हुई है उसीप्रकार दुर्गति का पात्र होना पड़ेगा।

॥ व्रतपालनम् ॥

क्रोधाद्याविष्टचित्तः प्राग्द्वीपायनादिकः।
फलयोग्यं तपोऽहं ममसात्कृतवान्क्षणात् ॥१६०॥

अर्थात्—क्रोध, मान, माया आदि कषायों से जिनका आत्मा आविष्ट था ऐसे द्वीपायनादि कितने ही मुनियों ने कल्याण रूप फल के देने योग्य अपने तपश्चरण वृक्ष को क्षणमात्र में क्रोधादि वह्नि के आधीन किया।

कषायस्नेहवानात्मा कर्म बध्नात्यनेकधा ।
स्निग्धोघटो रजो वा यत्तत्त्याज्यो यत्नतो हि सः॥१६१॥

अर्थात्—क्रोध मान माया लोभादि कषाय तथा अनुराग युक्त जो आत्मा होता है वह नियम से अनेक प्रकार कर्म बन्ध करता है। जिस प्रकार सचिक्कण घट (कलश) धूली का बन्ध करता है (चिकने घड़े पर धूल चिपक जाती है) इसलिये प्रयत्न पूर्वक क्रोधादि छोड़ने योग्य हैं।

ज्वलन्तं संयमारामे कषायाग्निं शमाम्बुभिः ।
विध्यापय यशश्छाये निर्वाणफलदायके ॥१६२॥

अर्थात्—निखिल संसार में कीर्त्ति का विस्तार होना ही जिस की छाया है तथा जो मोक्षरूप फल का देने वाला है ऐसे संयम रूप उपवन में जलती हुई कषाय वह्नि को शान्त स्वभावरूप नीर से बुझाओ!

॥ कषायजयः ॥

स्पर्शाद्गजो रसान्मीनो गन्धात्षट्चरणः क्षयम् ।
रूपान्मुधा पतङ्गोऽगात्सारङ्गः शब्दमोहितः ॥१६३॥

अर्थात्—स्पर्श इन्द्रिय के वशवर्त्ति होकर हाथी, रसना इन्द्रिय के आधीन होकर मत्स्य, गन्ध के वश होकर मधुकर (भ्रमर), नयन इन्द्रिय की आसक्ति से पतङ्ग तथा शब्द के श्रवण में मोहित होकर मृग ये सब एक २ इन्द्रिय के वशवर्त्ति होकर नष्ट हुवे।

एकैकविषयादेव दुःख्यभूत्सर्वतो न कः ।
महानुभाव ! मत्वेति तद्वशं स्वं कुरुष्व मा ॥१६४॥

अर्थात्—इस संसार में ऐसा कौन है जो इस प्रकार एक २

विषय की वश वर्तिता से दुःखी न हुआ हो ? इसलिये हे महानु-भाव ! तुम्हें चाहिये कि—इन विषयों के वश न होओ।

अनुकूले समुत्पन्ने तास्मिन्रागं विधेहि मा।
प्रतिकूलेऽन्यथा भावमिति गोचरनिग्रहः ॥ १६५ ॥

अर्थात्—अपने अनुकूल यदि तुम्हें कोई विषय प्राप्त होवे तो उसमें प्रीति मत करो तथा कोई बात प्रतिकूल (विरुद्ध) देखो तो उसमें द्वेष मत करो ! क्योंकि—इष्ट वस्तुं में अनुराग न करने को तथा अनिष्ट वस्तु में द्वेष न करने को ही तो विषय जीतना कहते हैं।

जयार्थी गोचराणां यः स जयेत्प्राग्निजं मनः।
नायके हि जिते सर्वा पृतना विजिता भवेत् ॥१६६॥

अर्थात्—जो लोग यह चाहते हैं कि—हम पञ्चेन्द्रियों के विषयों को जीतें (अपने आधीन करलें) उन्हें पहले ही अपना मन वश करना चाहिये। क्योंकि—जिसने सेना के स्वामी को जीत लिया है समझो कि उसने सारी सेना ही अपने आधीन करली।

पश्याहो ! नरकं प्राप्तः शालिर्मानसदोषतः।
मुनिनेति विबुध्येदं कार्यं चित्तनिरोधनम् ॥ १६७ ॥

अर्थात्—अहो ! देखो इसी मनके दोष से शालि नाम कोई मानव नरक में गया। इसप्रकार मनके वश न करने को हानि कारक समझ कर साधु लोगों को—पहले अपना चित्त (मन) वश करना श्रेय है।

अस्यानेके गुणाः सन्ति कृते चित्तनिरोधने।
जलसेके तरोः पत्रशाखापुष्पफलानि वा ॥१६८॥

अर्थात्—इस चित्त के रोकने (वश करने) में मुनियों को कितने ही गुण हैं। जिसप्रकार वृक्षका जल से सिञ्चन करने से उसमें पल्लव, शाखा, सुमन तथा फलादि समुद्भूत होते हैं।

श्रुतक्रीडावने भ्रान्तमर्कटं रामय त्वतः।
नियन्त्र्य चञ्चलं ज्ञानवैराग्यशृङ्खलेन वै ॥१६९॥

अर्थात्—अपने मन रूप चञ्चल वानरको ज्ञान तथा वैराग्य

-रूप शृंखला (साँकल) से बांध कर शास्त्र रूप केलिकानन में अच्छी तरह खिलाओ।

श्रौतस्कन्धीयवाक्यं वा पदं वाऽक्षरमेव वा।
यत्किञ्चित्स्वदते तत्राऽऽलम्ब्य चित्तं नय क्षयम् ॥१७०॥

अर्थात्—हे उपासक ! द्वादशाङ्ग शास्त्र के किसी एक वाक्य का अथवा नमस्कारादि महामन्त्र रूप पदका तथा "ॐ" इस अक्षर का जो तुम्हें रुचिकर हो उसका अवलम्बन करके अपने अन्तःकरण को आत्मा में लगाओ !!!

श्रुतेन शुद्धमात्मानं स्वसंवित्या प्रगृह्य च।
आराध्य तल्लयापास्तचिन्तो भूत्वा व्रजामृतम् ॥१७१॥

अर्थात्—हे श्रावक ! पहले स्वसम्वेदन (आत्मानुभव) से अपने आत्मा का चित्स्वरूप निश्चय करके तथा श्रुतज्ञान से वह रागद्वेषादिरहित है इस प्रकार भावना से चिन्तारहित होकर मोक्ष को प्राप्त होओ !!!

सन्न्यासः परमार्थेन निश्चयज्ञैः स हि स्मृतः।
विन्यसः स्वस्वरूपे यो विकल्पातीतयोगिनः ॥१७२॥

अर्थात—महर्षि लोग-वास्तव में सन्यास (समाधि-सल्लेखना) उसे ही कहते हैं जो विकल्प रहित मुनियों का अपने खास आत्म-स्वभाव में लीन होना है।

॥ इन्द्रियजयः ॥

यदा परीषहः कश्चिदुपसर्गोथ वा मनः।
क्षिपेत्तस्य तदा ज्ञानसारैर्निर्यापको हरेत् ॥१७३॥

अर्थात्—यदि किसी समय कोई परीषह अथवा उपसर्गादि उस समाधिशील साधु के मन को क्षोभित करें तो उस समय निर्यापकाचार्य को चाहिये कि—ज्ञान सम्बन्धि वचनों के द्वारा उसके परीषहादि को दूर करे।

नरकादिगतिष्वद्य यावत्तप्तोऽसुखाग्निभिः।
त्वमङ्गसङ्गतः साधोऽविशञ्ज्ञानामृताम्बुधौ ॥१७४॥

अर्थात्—हे साधो ! इस शरीर के संसर्ग से ज्ञानरूप पीयूष-पयोधि में कभी प्रवेश न कर तुम केवल दु खरूप अग्नि से आजतक नरकादि कुगतियों में संतप्त हुवे हो।

और—

अधुना समुपात्तात्मकायभेदस्य साधुभिः ।
भक्त्याऽनुगृह्यमाणस्य किं दुखं प्रभवेत्तव ॥१७५॥

अर्थात—इस समय तो तुम्हें आत्मा तथा शरीर की भिन्नता मालूम हो गई है तथा साधु लोग भक्ति पूर्वक तुम्हारे पर अनुग्रह करते हैं तो क्या अब तुम्हें किसी तरह का दुःख हो सकता है? कभी नहीं !

जडाः शरीरमारोप्य स्वस्मिन्दुःखं विदन्त्यहो ।
आत्मनस्तत्पृथक्कृत्य भेदज्ञा आसते सुखम् ॥१७६॥

अर्थात—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है कि—मूर्ख लोग तो अपने आत्मा में शरीर का आरोप करके (शरीर ही को आत्मा समझ कर) दुःख को प्राप्त होते हैं और आत्मा तथा शरीर के भेदको जानने वाले बुद्धिमान पुरुष अपने आत्मासे शरीर को भिन्न करके सुखको प्राप्त होते हैं।

पराधीनेन दुःखानि भृशं सोढानि जन्मनि ।
त्वयाऽद्यात्मवशः किञ्चिन्निर्जरायै सहस्व भो ॥१७७॥

अर्थात्—हे साधो ! तुमने पराधीन अवस्था में जन्म २ में अनेक दुःख सहे हैं इसलिये अब आत्मवशवर्ति होकर कर्मोंकी निर्जरा के लिये इससमय भी कुछ दुःख सहन करो ! !

स्वं ध्यायन्नात्तसन्न्यासो यावत्त्वं संस्तरे वसेः ।
क्षणे क्षणे प्रभूतानि तावत्कर्माणि निर्जरेः ॥१७८॥

अर्थात्—अपने आत्मा का ध्यान करते हुये सन्न्यास पूर्वक जबतक तुम संस्तर(शय्या)पर रहोगे तबतक समय २ में प्रचुर कर्मनिर्जरा को प्राप्त होते रहेंगे।

नाभेयाद्यान्क्षुधाद्युग्रपरीषहजये स्मर ।
तत्रोपसर्गविजये शिवभूत्यादिकान्मुनीन् ॥१७९॥

अर्थात्—यदि तुम क्षुधा पिपासादि प्रधान २ परीषहों को जीतना (वश करना) चाहते हो तबतो आदिजिनेन्द्र आदिका ध्यान (चिन्तवन) करो ! और यदि तीव्र (प्रचण्ड) उपसर्ग का जय करना चाहते हो तो शिवभूति आदि महामुनियों का निरन्तर हृदय में आराधन करो ! !

तार्णपूलमहापुञ्जे मोङ्गायोपरिपातिते ।
पवनैः शिवभूतिः स्वं ध्यात्वाऽऽसीत्केवली द्रुतम् ॥१८०॥

अर्थात्—अनिल से उड़ा हुआ बहुत बड़ा तृण का समूह शिवभूति मुनि के ऊपर गिरा तौभी वे अपने आत्मध्यान के द्वारा बहुत शीघ्र केवलज्ञान के धारक हुवे ।

श्रीवर्द्धनकुमारादिद्वात्रिंशत्पुरुषौघटा ।
ललिताद्याः सरित्पूरात्स्वं ध्यात्वा सुगतिं श्रिताः ॥१८१॥

अर्थात्—श्री वर्द्धनकुमार प्रभृति वत्तीस मुनियों का निवह तथा ललितादि मुनि नदी के प्रवाह में वहते हुवे भी अपने आत्मध्यान से सुगति को प्राप्त हुवे ।

मुनिर्गजकुमारोपि पञ्चकीलैः प्रकीलितः ।
विमममेन साम्येन निश्चलो मुक्तिमीयवान् ॥१८२॥

अर्थात्— शत्रुलोगों के द्वारा—पांच कीलों से प्रकीलित गजकुमार मुनिराज अपने अविचल साम्यभाव से मोक्ष को प्राप्त हुवे ।

न्यस्याङ्गेषु धिया भौष्या ज्वलिता लोहशृङ्खला ।
कौन्तेया ध्यानतः सिद्धा द्विषद्भिः कीलिताङ्घ्रयः ॥१८३॥

अर्थात्—शत्रु लोगों ने दूसरे लोगों को " ये भूषण हैं " ऐसा कहकर जलती हुई लोहमयी शृंखलायें जिनके शरीर में पहरा दीं तथाजिनके चरणों को बांध दिये तौभी पाण्डव लोग आत्मध्यान में तत्पर होकर सिद्ध पदको प्राप्त हुवे ।

शिरीषपुष्पमृद्वङ्गो भक्ष्यमाणो दयातिगम् ।
शिवया सुकुमारोऽसूंस्तत्याज समतां न हि ॥१८४॥

अर्थात्—शिरीषपुष्प के समान अतिशय कोमल अङ्गके धारक अवान्तिसुकुमार के शरीर को पूर्वजन्मके वैरानुबन्ध से शृगाली ने निर्दयता पूर्वक भक्षण किया तोभी उसधीरने अपने प्राणों को छोड़ दिये परन्तु धैर्य को नहीं छोड़ा।

जननीचरया व्याघ्र्या कोशलो द्वेषतो गिरौ।
दशनैर्दश्यमानोऽपि ध्यानात्केवलमापिवान् ॥१८५॥

अर्थात—ग्रन्थकार कहते हैं कि—अहो! देखो!! संसारकी लीला जो पूर्व भवमें खास माता थी उसी स्नेह प्रचुरा माताने जन-नान्तर के द्वेषसे अपने दाँतों से खास अपने पुत्रका भक्षण किया तौभी कोशल मुनिने अपने धैर्य को न छोड़ा और प्रत्युत आत्मध्यान से केवलज्ञान को प्राप्त हुये।

निःकारणं कृतैर्दुःखैः क्रुद्धभूतैस्तपस्विषु।
भग्नेष्वितस्ततोऽमुञ्चत्प्राणान्विद्युच्चरः शमी ॥१८६॥

अर्थात—निष्प्रयोजन क्रोधाविष्ट व्यन्तरदेवादि के द्वारा दिये हुये दुःखों से तपस्वि लोगोंको इधर उधर भागने पर विद्युच्चर ने आत्मध्यान में लीन होकर प्राणों को छोड़े।

व्यन्तर्याऽभयया शुद्धशीलो मुनिसुदर्शनः।
कृतोपसर्गान्सोढ्वाऽभूदन्तकृत्केवली तथा ॥१८७॥

अर्थात—अभयानाम व्यन्तरी के द्वारा किये हुये घोर उपसर्गों को सहन करके शुद्धस्वभावी सुदर्शनमुनि अन्तकृत्केवली हुये।

इत्यचिन्नृपशुस्वर्ग्युपसृष्टाऽक्लिष्टचेतसः।
अन्येऽपि बहवो धीराः किलार्थं स्वमसाधयन् ॥१८८॥

अर्थात—इसप्रकार अचेतन, मनुष्य, पशु तथा देव आदिके द्वारा किये हुये उपसर्गोंसे भी जिनका चित्त कभी विचलित नहीं हुवा है ऐसे औरभी कितने धैर्यशाली महात्माओंने अपने आत्मध्यान की सिद्धि की।

तत्क्षपकत्वमंप्यङ्ग ! संलीय स्वात्मानि ध्रुवम् ।
मुञ्चाङ्गमन्यथा नाना भवक्लेशान्साहिष्यसे ॥१८९॥

अर्थात—हे साधो ! अब तुम अपने आत्मा में लीन होकर इस शरीर को छोड़ो। यदि अबभी शरीर के छोड़ने में प्रयत्नशील न होओगे तो तुम्हें अनेक प्रकार संसार में दुःख सहन करना पड़ेंगे।

॥ परीषहोपसर्गजयः ॥

शुद्धः स्वात्मैव चाऽऽदेयश्चिदानन्दमयो रुचिः ।
दृष्टिरित्याञ्जसी तस्य स्वानुभूत्या पुरादितः ॥१९०॥
पृथक्त्वेनानुभवनं संवित्तत्रैव तृप्तितः ।
अतीवान्तर्लयं मासे स्थितिश्चर्यात्मनो मता ॥१९१॥

॥ युगलम् ॥

अर्थात—शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अपना आत्माही ग्रहण करने योग्य है इस प्रकारकी प्रीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसी आत्मा का अपने आत्मानुभवसे शरीरादि वस्तुओंसे भिन्न अनुभव करने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा उसी आत्मा में—अत्यन्त वैराग्य से अन्तःकरण को लीन होने पर जो आत्माकी स्थिति है उसे सम्यक्‌ चारित्र समझना चाहिये।

भेदरत्नात्रयाधीनस्वात्मानं विद्धि तन्मयम् ।
परमं तपनीयं वा स्निग्धत्वादिगुणान्वितम् ॥१९२॥

अर्थात—हे उपासक ! भेदरूपसे रत्नत्रयाधीन अपने आत्मा कोभी रत्नत्रयस्वरूपही समझो ! क्योंकि—सुवर्ण यद्यपि स्निग्धगुण तथा पीतगुण से भेदरूपहै तौभी वास्तव में अभिन्नही है। उसी तरह आत्मा कोभी समझो।

अल्पशोपि परद्रव्ये वाञ्छां विनिवार्य श्रुतपरः शश्वत् ।
स्वात्मानं भतपसि निरन्तरं तपसि तत्तपसि ॥१९३॥

अर्थात—हे पुरुषोत्तम ! श्रुत ज्ञान में श्रद्धा को दृढ़ करके शरीरादि परवस्तुओं में थोड़ी भी अभिलाषा को घटाकर जब तुम

अपने आत्मा में निरन्तर तपश्चरण करोगे तभी वास्तव में तपश्चरण करने वाले होओगे।

निराशत्वात्तनैःसङ्ग्यलब्धसाम्यसहायकः।
निर्विकल्पसमाधिस्थः पिबाऽऽमोदाऽऽमृतं स्थिरः॥१९४॥

अर्थात्—निरभिलाषा से प्राप्त हुवे निर्ग्रन्थव्रत से अधिगत समताभाव जिनका सहायक है ऐसे तुम निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर आनन्दरूप अमृतका पान करो!!!

संन्यस्येति कषायवद्वपुरिदं निष्णातसूरेर्विधौ
न्यस्तात्मा यतिराद्तदीयमुररीकुर्वंश्च लिङ्गं परम्।
सद्दग्बोधचरित्रभावनमयो मुक्तेः समीहाकरो॥
हित्वाऽसून्गुरुपञ्चकस्मृतिशिवी स्यादष्टमे जन्मनि॥१९५॥

अर्थात्—क्रोधादि कषायों के समान शरीर को भी कृश करके जिस ने अपने आत्मा को संसार से पार करने वाले निर्यापकाचार्य के आधीन करादिया है, जिस ने दिगम्बरलिङ्ग को धारण किया है, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के चिन्तवन में समासक्त है तथा जिसे मोक्ष में जाने की अभिलाषा है वह मुनि पञ्चपरमेष्ठी के स्मरण पूर्वक प्राणों को छोड़ कर आठमें जन्म में मोक्ष को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसां संभाव्य चाराधनां
बाह्याभ्यन्तरसङ्गभङ्गकरणादुत्कृष्ट आराधकः।
क्षिप्त्वा मोहरजोन्तरायकरिपून्ध्यानेन शुक्लेन वै
प्राप्याहृन्त्यमनुत्तरं शिवपदं याति ध्रुवं तद्भवे॥१९६॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा सम्यकतप की अराधना का आराधन करके, बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह का नाश होने से उत्कृष्ट आराधक वह मुनिराज—मोहनीय अन्तराय कर्म-शत्रुओं का शुक्लध्यान के द्वारा नाश करके तथा निरूपम अर्हन्त पद को प्राप्त होकर नियम से उसी भव में शिवसद्म का वासी होता है।

प्रान्ते चाराध्य कश्चिद्विधिवदुरुबलः साधुसिंहोऽप्रमत्त-
स्तत्वश्रद्धानबोधाविरतिपरिहृतीस्सतपोभिश्चतुर्धा।

कृत्वा पापस्यरोधं गलनमपि शुभध्यानयोगाद्विहाय—
प्राणान्सर्वार्थसिद्धिं श्रयति सुखमयीं मध्यमः सिद्धिकामः

अर्थात्—मृत्यु के समय में शास्त्रानुसार आराधन करके— अत्यन्त शक्तिशाली, सावधान, तथा मनोभिलषितसिद्धि की अभिलाषा करने वाला वह मध्यम आराधक साधु केशरी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप इन चार प्रकार की आराधना से पाप का निरोध तथा नाश करके शुभध्यान से प्राणों को छोड़ कर सुखपूर्ण सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होता है।

सद्दृग्वाऽणुव्रती वा भवतनुसुखतो निस्पृहः शान्तमूर्ति-
र्मृत्यौ पश्चार्हदादीन्गुणगरिमगुरून्सम्यगाराध्य चित्ते।
कश्चिद्भव्यो जघन्यः प्रसुरनरभवं सौख्यमासाद्यचश्च-
त्सप्ताष्टष्वन्तराले शिवपदमचलं चाश्नुते जन्मसूक्तम् १९८

अर्थात्—जो संसार सम्बन्धि अत्यल्प विषय सुख से निरभिलाषी है जो शान्तस्वरूप का धारक है वह फिर सम्यग्दृष्टि हो अथवा अणुव्रत का धारक हो ऐसा कोई जघन्य आराधक भव्य-पुरुष— मृत्युके समय अपने चित्त में गुणके महत्व से महनीय अर्हन्तादि पञ्चपरमेष्ठी का आराधन करके तथा देवगति मानवजन्म मे होने वाले उत्तम सुखोंका अनुभव करके सातवें तथा आठवें भव के बीचमें अविनश्वर शिव सुखको प्राप्त होता है।

सम्यक्त्वपूर्वकमुपासकधर्ममित्थं
सल्लेखनां तमभिधाय गणेश्वरेऽत्र।
जोषं स्थिते प्रविचकास सभा समस्ता
भानाविवोदयगिरिं नलिनीति भद्रम्॥१९९॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक को—इस प्रकार सम्यक्त्व पूर्वक-श्रावक धर्मका तथा सल्लेखना का उपदेश देकर जब भगवान गौतम गणधर चुप होरहे उससमय सारी सभा बहुत प्रफुल्लित (आनन्दित) हुई। जिसप्रकार दिनमणि को उदयगिरि का आश्रय लेने पर कमलिनी विकसित होती है।

मेधाविनो गणधरात्स निशम्य धर्मं
श्रीगौतमादिति सपौरजनः प्रशस्तम् ।
भूयो निजं दृढतरां प्रविधाय दृष्टिं
नत्वा जिनं मुनिवरांश्च गृहं जगाम ॥२००॥

अर्थात्—राजगृह नगर निवासी भव्यजनों के साथ २ महाराज श्रेणिक-बुद्धिशाली भगवान गौतम गणधर से उपर्युक्त कथनानुसार उपासक धर्म सुनकर अपने सम्यग्दर्शन को औरभी सुदृढ करके समवशरण में विराजमान वीरजिनेन्द्र तथा और २ मुनिराजों को अभिवादन करके अपने गृह गये ।

अनादिकालं भ्रमता मया या
नाराधिता क्वापि विराधितैव
आराधनां मङ्गलकारिणीं ता--
माराधयामीह जिनेन्दुभक्तः ॥२०१॥

अर्थात्—महाराज श्रेणिक अनुताप करते हैं कि—अहो ! अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते हुवे मैंने जिसका कभी आराधन न किया किन्तु प्रत्युत विराधना तो अवश्यकी । आज कल्याण कारिणी उसी आराधना का जिन भगवान का पादसेवी होकर आराधन करूंगा ।

इतिश्री सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना
विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे सल्लेखनास्वरुपकथनं
श्रेणिकस्य राजगृहप्रवेशनं दशमोऽधिकारः ॥१०॥

ग्रन्थकर्त्तुः प्रशस्तिः

स्वस्ति स्वस्तिलकायमानमुकुटघृष्टाङ्घ्रिपाथोरुहे
स्वस्त्यानन्दचिदात्मने भगवते पूजाऽर्हते चार्हते ।
स्वस्ति प्राणिहितंकराय विभवे सिद्धाय बुद्धाय ते
स्वत्युत्पत्तिजराविनाशरहितस्वस्थाय शुद्धाय ते ॥१॥

अर्थात्—स्वर्गके तिलकसमान इन्द्रके मुकुटों से जिनके चरण घिसे जाते हैं। भावार्थ-जिनके चरण सरोज में पाकशासन आकर अपने मुकुटको विनम्र करता है उनके लिये कल्याण हो। जिनकी आत्मा आनन्दरूप है ऐसे पूजनीय अर्हन्त भगवानके लिये कल्याण हो। अखिल संसार के जीवोंका उपकार करने वाले, विभव स्वरूप तथा बुद्धस्वरूप सिद्धभगवान के लिये कल्याण हो। और उत्पत्ति वृद्धावस्था तथा मरण रहित निरन्तर ज्यों के त्यों स्थित रहने वाले शुद्ध स्वरूपके लिये कल्याण हो।

वाग्भातपत्रचमरासनपुष्पवृष्टी—
पिण्डीद्रुमामरमृदङ्गरवेणलक्ष्यः ।
येऽनन्तबोधसुखदर्शनवीर्ययुक्ता—
स्ते सन्तु नो जिनवराः शिवसौख्यदा वै ॥२॥

अर्थात्—दिव्यध्वनि, भामण्डल, छत्र, चामर, आसन, पुष्प वृष्टी, अशोकतरु तथा देवदुन्दुभि इन आठ प्रतिहार्यो से केवलज्ञान दशाको प्रगट करने वाले तथा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तदर्शन से विभूषित जिनभगवान हमलोगो के लिये मोक्ष सुख के प्रदाता हो।

सम्यक्त्वमुख्यगुणरत्नतदाकरा ये
संभूय लोकशिरसि स्थितिमाधदधानाः ।

सिद्धाः सदा निरुपमा गतमूर्तिवन्धा
भूयासुराशु मम ते भवदु खहान्यै ॥३॥

अर्थात्—जिनमे सम्यक्त्व प्रधान है ऐसे जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु अव्याबाधादि गुणरत्न हैं उनके आकर (खानि) होकर लोकाकाशके शिखर पर अपनी स्थिति को करने वाले, निरूपम (जिनका उपमान संसार में कोई नहीं है जिसकी उनको उपमा दीजाय)तथा मूर्तिमान पुद्गलादिके सम्वन्ध रहित (अमूर्तिक) सिद्धभगवान मेरे संसार दुःखों के नाश करने वाले हो ।

मूलोत्तरादिगुणराजिविराजमानाः
क्रोधादिदूषणमहीध्रतडित्समानाः ।
ये पञ्चधा चरणचारणलब्धमाना
नन्दन्तु ते मुनिवरा बुधवन्द्यमानाः ॥४॥

अर्थात्—अट्ठाईस मूलगुण तथा चौरासी लाख उत्तरगुण की राजि (माला) से शोभायमान, क्रोध, मान, माया लोभादि दोष रुप पर्वत के खण्ड करने मे बिजली के समान, पञ्चप्रकार चारित्रके धारण करने से जिन्हें सन्मान प्राप्त हुवा है तथा बुद्धिमान लोग जिन्हें अपना मस्तक नवाते हैं ऐसे मुनिराज दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त होवें ।

ये ध्यापयन्ति विनयोपनतान्विनेया—
न्सद्द्वादशाङ्गमखिलं रहसि प्रवृत्तान् ।
अर्थं दिशन्ति च धिया विधिवद्विदन्त—
स्तेऽध्यापका हृदि मम प्रवसन्तु सन्तः ॥ ५ ॥

अर्थात्—जो—एकान्त में विनयपूर्वक आये हुवे शिष्य लोगों को सर्व द्वादशाङ्गशास्त्र पढ़ाते हैं तथा अपनी बुद्धिसे उसके अर्थका उपदेश करते हैं विधिपूर्वक सर्व शास्त्रो के जाननेवाले वे अध्यापक (उपाध्याय) मेरे हृदय कमलमें प्रवेश करैं ।

रत्नत्रयं द्विविधमप्यमृताय नूनं
ये ध्यानमौननिरतास्तपसि प्रधानाः ।

संसाधयन्ति सततं परभावयुक्ता—
स्ते साधवो ददतु वः श्रियमात्मनीनाम् ॥६॥

अर्थात्—जो ध्यान तथा मौनमें लीन हैं जो तपश्चरणादि के करने में सदैव अग्रगण्य समझे जाते हैं जो शिव सदन के अनुपम सुखके लिये व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रयका साधन करते हैं शत्रु मित्रों को एक समान जानने वाले वे साधु (मुनिराज) तुम लोगोंके लिये आत्मीय लक्ष्मी के देने वाले हों।

लोकोत्तमाः शरणमङ्गलमङ्गभाजा—
मर्हत्सिद्धमुक्तमुनयो जिनधर्मकश्च।
ये तान्नमामि च दधामि हृदम्बुजेऽहं
संसारवारिधिसमुत्तरणैकसेतून् ॥ ७ ॥

अर्थात्—जो लोक में श्रेष्ठ हैं, संसारवर्त्ति जीवों को आश्रयस्थान तथा मंगल रूप हैं, तथा संसार रूप नीरधि के पार करने में जहाज समान हैं ऐसे अर्हंत्सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु तथा जिनधर्म को मैं अपने हृदय कमल में धारण करता हूँ तथा उनके लिये नमस्कार भी करता हूं।

स्याद्वादचिह्नं खलु जैनशासनं
जन्मव्ययध्रौव्यपदार्थशासनम्।
जीयात्त्रिलोकीजनशर्म्मसाधनं
चक्रे सतां वन्द्यमनिन्द्यबोधनम् ॥ ८ ॥

अर्थात्—स्याद्वाद (अनेकान्त) मत का चिह्न, उत्पत्ति, विनाश, तथा ध्रौव्य (नित्यावस्था) गुण से युक्तपदार्थ का उपदेश देनेवाला, तीनों लोक में जितने प्राणिवर्ग हैं उन सब के लिये सुख का प्रधान कारण जैन शासन इस संसार में चिरकाल पर्यन्त रहै जिसके द्वारा प्राचीन समय में सत्पुरुषों को—प्रणाति योग्य निर्दोषज्ञान की प्राप्ति हुई है।

सन्नन्दिसङ्घसुरवर्त्मदिवाकरोऽभू—
च्छ्रीकुन्दकुन्द इति नाम मुनीश्वरोऽसौ।

जीयात्स यद्विहितशास्त्रसुधारसेन
मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम् ॥ ९ ॥

अर्थात्—श्रेष्ठ नन्दिसंघ रूप गगन में सूर्य के समान तेजस्वी श्री कुन्दकुन्द मुनिराज हुवे हैं जिन के बनाये हुवे शास्त्र रूप अमृत रस से इस संसार का मिथ्यात्वरूप सर्पराज का उत्कट विष नाश हुआ वे मुनिराज निरन्तर जय को प्राप्त होवें।

भावार्थ—जिस तरह सर्प का विष अमृत के सेवन से दूर होजाता है उसी तरह जिनके शास्त्र रूप अमृत से मिथ्यात्व रूप सर्प से काटे हुवे जगंत का विष दूर हुआ है। जिनके द्वारा मिथ्यामत का नाश होकर जैन शासन की प्रवृत्ति हुई है) वे कुन्दकुन्द मुनिराज इस जगत को सदैव पवित्र करें।

आम्नाये तस्य जातो गुणगणसहितो निर्मलब्रह्मपूतः
सद्विद्यापारयातो जगति सुविदितो मोहरागव्यतीतः।
सूरिश्रीपद्मनन्दी भवविहृतिनदीनाविको भव्यनन्दी
स्यान्नित्यानित्यवादी परमतविलसन्निर्मदीभूतवादी॥१०॥

अर्थात्—उन्हीं कुन्दकुन्द मुनिराज की आम्नाय में—अनेक प्रकार पवित्र गुण समूह से विराजमान, निर्दोष ब्रह्मचर्य से पवित्र, स्याद्वादरूप पवित्र विद्या के पार को प्राप्त, अखिल संसार में प्रसिद्ध, मोह, द्वेष, रागादि से सर्वथा विनिर्मुक्त, भवभ्रमण रूप अगम्य नदी के कर्णधार (खेवटिया), भव्यजनो को आनन्ददायी, कथञ्चित् नित्य तथा कथञ्चित् अनित्यरूप स्याद्वादमार्ग का कथन करने वाले तथा जिन्हो ने अच्छे २ परमतावलम्वी विद्वानों का अवलेप दूर कर दिया है—ऐसे श्री पद्मनन्दी आचार्य हुवे।

तत्पट्टे शुभचन्द्रकोऽजनिजनिर्भ्रान्त्यान्तरूपार्थवि-
द्वेधा सत्तपसां विधानकरणः सद्धर्मरक्षाचणः।
येनाऽद्योति जिनेन्द्रदर्शननभोनक्तं कलौ ज्योत्स्नया
सद्वृत्त्याऽमृतगर्भया गुरुवृथानन्दात्मना स्वात्मना॥११॥

अर्थात्—श्री पद्मनन्दी आचार्य के पट्टपर—उत्पत्ति, विनाश,

तथा नित्यस्वरूप पदार्थ के जानने वाले, अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग तप के धारण करने वाले, पवित्र जिनसाशन की रक्षा करने में उत्साह-शील, श्री शुभचन्द्र मुनिराज हुवे । अपनी आत्मा के द्वारा बडे २ विद्वान पुरुषो को आनन्द के देनेवाले जिन शुभचन्द्र मुनिराज ने इस कलिकालरूप रात्रि में—भीतर अमृतरस पूरित सदाचरणरूप ज्योत्स्ना (चांदनी) से जिन शासन रूप गगन मण्डल को प्रकाशित किया ।

तस्मान्नीरनिधेरिवेन्दुरभवच्छ्रीमाज्जिनेन्दुर्गणी
स्याद्वादाम्बरमण्डले कृतगतिर्दिग्वाससां मण्डनः ।
यो व्याख्यानमरीचिभिः कुवलये प्रल्हादनं चक्रिवा—
न्सद्वृत्तः सकलः कलङ्कविकलः षट्कर्मनिष्णातधीः ॥१२॥

अर्थात्—जिसप्रकार जलधि से चन्द्रमा समुद्भूत होता है उसीतरह शुभचन्द्र मुनिराज के पट्टपर विराजमान होने वाले, जिस प्रकार चन्द्रमा का गमन आकाश में होता है उसीतरह स्याद्वादरूप गगनमण्डल मे विहार करने वाले, जिसप्रकार शशि दिशाओं का भूषण होता है उसीतरह दिगम्बर मुनिराजों के अलङ्कार स्वरूप, जिसप्रकार चन्द्रमा अपने मयूख मण्डल से पृथ्वी में आल्हाद करता है उसीतरह जिन शासनाभिमत पदार्थ द्योतक व्याख्यान रूप किरण मण्डल से अखिल वसुन्धरावलय में आल्हाद करने वाले, जिस प्रकार चन्द्रविम्ब सद्वृत्त(गोलाकार)है उसीतरह उत्तम २ आचरणों के धारक, जिस प्रकार कुमुदवान्धव षोड्श कला सहित होता है उसी तरह अनेक प्रकार की कलाओ से मण्डित, इतनी समानता होने पर भी चन्द्रमा से विशेष गुणके भाजन ।

भावार्थ—चन्द्रमातो कलङ्क सहित होता है और यह कलङ्क रहित थे। तथा जिनकी विदुषी बुद्धि षडावश्यक पालने में अतिशय समर्थ थी ऐसे जिनचन्द्र मुनिराज हुवे ।

श्रीमत्पुस्तकगच्छसागरनिशानाथः श्रुतादिर्मुनि—
र्जातोऽर्हन्मततर्ककर्कशतयाऽन्यान्वादिनो योऽभिनत् ।
तस्मादष्टसहाश्रिकां पठितवान्विद्वद्भिरन्यैरहं
सोऽयं सूरिमतल्लिका विजयते चारित्रपात्रं भुवि ॥१३॥

अर्थात्—जिसप्रकार चन्द्रमण्डलके उदय से नीराधि वृद्धिको प्राप्त होता है उसीतरह लक्ष्मी विभूषित श्री पुस्तकगच्छ रूप रत्नाकर के वढाने के लिये शशिमण्डल तुल्य श्रुतमुनि हुवे। जिन्होंने जिनशाशन सम्बन्धि प्रमाणशास्त्रकी कठोरतासे परवादियोंका अभिमान भङ्ग किया। उन्हीं श्रुतमुनि से तथा ओर २ विद्वानो से मैंने अष्टसहश्री पढ़ी। जो वसुन्धरावलय में उत्तम २ चारित्रके धारण करने योग्य पात्र हैं वेही आचार्यवर्य श्री श्रुतमुनि विजय को प्राप्त होवें।

सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य समभूद्रत्नादिकीर्त्तिर्मुनिः
शिष्यस्तत्वविचारसारमतिमान्सद्ब्रह्मचर्यान्वितः।
योऽनेकैर्मुनिभिस्त्वणुव्रतिभिराभातीह मौण्डैर्यगणो
चन्द्रो व्योम्नि यथा ग्रहैः परिवृतो भैश्चोल्लसत्कान्तिमान् ॥१४॥

अर्थात्—आचार्य श्री जिनचन्द्रके—जीवादितत्त्वों के विचार से तीक्ष्ण बुद्धिशाली तथा पवित्र ब्रह्मचर्य से मण्डित श्री रत्नकीर्त्ति मुनि शिष्य हुवे! जो अपने सङ्घमे अनेक मुनियों तथा अणुव्रतके धारी क्षुल्लक ऐलकादि साधु निवह से ऐसे शोभाको प्राप्त होते है समझो कि—विशद गगनमण्डलमे शोभनीय कान्तिविलसित चन्द्रमा जिस तरह ग्रह तथा तारागण से मण्डित शोभता है।

तच्छिष्यो विमलादिकीर्त्तिरभवन्निर्ग्रन्थचूडामणि—
र्यो नाना तपसा जितेन्द्रियगणः क्रोधेभकुम्भे सृणिः।
भव्याम्भोजविरोचनो हरशशाङ्काभस्वकीर्त्योज्वलो
नित्यानन्दचिदात्मलीनमनसे तस्मै नमो भिक्षवे ॥१५॥

अर्थात—उन रत्नकीर्ति मुनिके—निर्ग्रन्थमुनियों के चूड़ामणि, अनेक प्रकार के दुर्द्धर तपश्चरणादि से इन्द्रियों को जीतने वाले, क्रोध रूप गजराज को अपने आधीन करने के लिये अंकुश के समान, भव्यजनरूप कमलों के विकासित करने के लिये सूर्य समान तथा अष्टमी के चन्द्रमा की कान्ति समान अपनी विशद कीर्ति मे उज्वल ऐसे विमलकीर्ति मुनि हुवे। नित्यआनन्दस्वरूप आत्मा में जिनका

हृदय तल्लीन है। उन साधु बिमलकीर्ति महाराज के लिये मेरा नमस्कार है।

यः कक्षापटमात्रवस्त्रममलं धत्ते च पिच्छं लघु
लोचं कारयते सकृत्करपुटे भुङ्क्ते चतुर्थादिभिः।
दीक्षां श्रौतमुनीं बभार नितरां सत्क्षुल्लकः साधकः
आर्यो दीपद आख्ययाऽत्र भुवनेऽसौदीप्यतां दीववत्॥१६॥

अर्थात्—जो निर्मल खंडवस्त्रमात्र तथा पिच्छी धारण करते हैं, केशोंका लोच करते हैं जो दो २ तीन २ दिन बाद एकही वक्त अपने पाणिपात्र में आहार करते हैं जिन्होने श्री श्रुतमुनि से दीक्षा धारण की है वे श्रेष्ठ क्षुल्लक दीपकभिक्षु इस संसारमें दीपकके समान देदीप्यमान होवैं।

छात्रोऽभूज्जैनचन्द्रो विमलतरमतिः श्रावकाचारभव्य-
स्त्वग्रोतान्वकजातोद्धरणतनुरुहो भीषुहीमातृसूतः।
मीहाख्यः पण्डितो वै जिनमतनयनः श्रीहिसारेपुरेऽ-
स्मिन्ग्रन्थः प्रारम्भि तेन श्रीमहति वसता नूनमेष प्रसिद्धे॥१७॥

अर्थात्—अत्यन्त निर्मल बुद्धि के धारक, श्रावकाचार के पालन करने में सरल चित्त, अग्रोतकुल में उत्पन्न होने वाले उद्धरण (के पुत्र, भीषुहीनाम जननी से उत्पन्न तथा जिनशासन के एक अद्वितीय नेत्र, श्रीमीहनाम विद्वान जिनचन्द्र मुनि के शिष्य हुवे। लक्ष्मी से सुन्दर तथा प्रख्यात श्री हिसारपुर में रहने वाले उन पण्डित मीहने इस (धर्मसंग्रह) ग्रन्थ के रचने का आरम्भ किया।

सपादलक्षे विषयेऽतिसुन्दरे
श्रिया पुरं नागपुरं समस्ति तत्।
पेरोजखानो नृपतिः प्रपाति य-
न्न्यायेन सौर्येण रिपून्निहन्ति च॥१८॥

अर्थात्—लक्ष्मी से अतिशय मनोहर सपादलक्ष देश में नागपुर नाम पुर है। पेरोजखान नाम राजा उसका पालन करता है वह अपने शत्रु समूह का विध्वंश नीति और वीरता के साथ में करता है।

नन्दन्ति यस्मिन्धनधान्यसम्पदा
लोकाः स्वसन्तानगणेन धर्मतः ।
जैना घनाश्चैत्यगृहेषुपूजनं
सत्पात्रदानं विदधत्यनारतम् ॥१९॥

अर्थात्—जिस नागपुर में सर्वलोक धन्य धान्यादि विभूति से, अपने पुत्र पुत्रादि सन्तान निवह से तथा धर्म से सदा आनन्दित रहते हैं। और जैन धर्मानुयायी सज्जन पुरुष—निरन्तर जिनमन्दिर में जिन भगवान की पूजन तथा पात्रदानादि उत्तम २ कर्म करते रहते हैं।

चान्द्रप्रभे सद्मनि तत्र मण्डिते
कूटस्थसत्कुम्भसुकेतनादिभिः ।
महाभिषेकादिमहोत्सवैर्लस—
त्सद्वृद्धसङ्गीतरसेन चाऽनिशम् ॥२०॥

अर्थात्— उन्नत २ शिखरों पर फहराती हुई शोभनीय कलश युक्त वैजयन्ती (ध्वजा) से, प्रतिदिन होने वाले नवीन २ महाभिषेकादि उत्सवों से तथा सुन्दर गीत सङ्गीतादि के मधुर २ रस से विभूषित श्री चन्द्रप्रभ जिनालय में—

मेधाविनामा निवसन्नहं बुधः
पूर्णं व्यधां ग्रन्थामिमं तु कार्तिके ।
चन्द्राब्धि वार्णकमितेऽत्र (१५६१) वत्सरे
कृष्णे त्रयोदश्यहनि स्वशक्तितः ॥२१॥

अर्थात—हिसार निवासी मेधावी नाम मुझ विद्वान ने—अपनी शक्ति के अनुसार विक्रम सम्वत १५६१ कार्तिक वद्य त्रयोदशी के दिन इस धर्मसंग्रह नाम ग्रन्थको समाप्त किया।

मेधाविनाम्नः कविनाकृतोऽयं
श्रीनन्दनोऽर्हत्पदपद्मभृङ्गः ।

यो नन्दनोऽभूज्जिनदाससंज्ञोऽ-
नुमोदकोऽस्यास्तु सुदृष्टिरेषः ॥२२॥

अर्थात्—मुझ मेधावी कवि का—सुन्दर स्वरूपधारी, तथा श्री जिनभगवान के चरण कमलों का मधुकर जिनदासनाम सुत है वह सम्यग्दृष्टि भी इस ग्रन्थ का अनुमोदन करने वाला हो।

सामन्तभद्रवसुनन्दिकृतं समीक्ष्य
सच्छ्रावकाचरणसारविचारहृद्यम् ।
आशाधरस्य च बुधस्य विशुद्धवृत्तेः
श्रीधर्मसङ्ग्रहमिमं कृतवानहं भो ॥२३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—उत्तमश्रावकों के आचार सम्बन्धि सार २ विचार से मनोहर—भगवान्समन्तभद्र, वसुनन्दिसैद्धान्तिक तथा शुद्ध आचारशाली विद्वान आशाधर आदिके निर्माण किये हुवे उत्तम २ श्रावकाचारों का अवलोकन करके यह धर्मसंग्रह श्रावकाचार मैंने रचा है।

यद्यत्र दोषः क्वचिदर्थजातः
शब्देषु वा छान्दसि कोऽथवा स्यात् ।
युक्त्या विरुद्धं गदितं मया य-
त्संशोध्य तत्साधुधियः पठन्तु ॥२४॥

अर्थात्—सज्जन पुरुषों से मैं प्रार्थना करता हूं—यदि इस धर्मसंग्रह उपासकाचार में अर्थ से उत्पन्न हुआ, शब्दजनित, अथवा छन्दशास्त्र सम्बन्धि कोई दोष पड़गया हो तथा युक्तिविरुद्ध कुछ मैंने लिखाहो तो विद्वान पुरुषों को—उसे ठीक २ शुद्ध करके पढ़ना चाहिये।

शास्त्रं प्राच्यमतीवगभीरं
मधुतरमर्थैर्ज्ञातुमलं कः ।
तस्मादल्पं पिच्छलममलं
कृतमिदमन्योपकृतौ नूनम् ॥२५॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—बड़े २ और अत्यन्त गंभीर प्राचीन शास्त्रों को अर्थ से कोईभी पुरुष जानने के लिये समर्थ नहीं है, इसीलिये वहुतछोटा, पिच्छल (अर्थ सान्द्र), तथा निर्मल यह धर्म-संग्रह नाम नवीन शास्त्र दूसरों के कल्याण के लिये वनाया गया है।

गर्वान्न मयाऽकारि न कीर्तौ
न च धनमानानिमित्तं त्वेतत् ।
हितबुद्ध्या केवलमपरेषां
स्वस्य च बोधविशुद्धिविवृद्ध्यै ॥२६॥

अर्थात्—यह धर्मसंग्रह श्रावकाचार न तो मैंने किसी तरह के अभिमान से वनाया है, न यश विस्तार के लिये रचा है, किन्तु केवल दूसरों के हितके लिये तथा अपने ज्ञानकी निर्मलता वढ़ाने के लिये इसे रचा है।

सद्दर्शनं निरतिचारमवन्तु भव्याः
श्राद्धा दिशन्तु हितपात्रजनाय दानम् ।
कुर्वन्तु पूजनमहो जिनपुङ्गवानां
पान्तु व्रतानि सततं सह शीलकेन ॥२७॥

अर्थात्—भव्यश्रावकों को चाहिये—अतिचार रहित शुद्ध सम्यग्दर्शनका पालन करैं, अपने कल्याण के लिये सत्पात्रों को दान देवैं, प्रति दिन जिन भगवान की पूजन करैं तथा तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत के साथ व्रतों का पालन करैं।

गाढं तपन्तु जिनमार्गरता मुनीन्द्राः
सम्भावयन्तु निजतत्त्वमवद्यमुक्तम् ।
धर्मी भवेद्विजयवान्नृपतिः पृथिव्यां
दुर्भिक्षमत्र भवतान्न कदाचिनाऽपि ॥२८॥

अर्थात्—जिनधर्मरत दिगम्बर साधु दुर्द्धर तपश्चरणादि करैं, निर्दोष अपने आत्मतत्व का निरन्तर चिन्तवन करैं, धर्मात्मा तथा शत्रु निवहका विजयी राजा होवै, तथा पृथ्वी में कभी दुर्भिक्ष आदि व्याधियें न होवैं।

राज्यं न वाञ्छामि न भोगसम्पदो
न स्वर्गवासं न च रूपयौवनम् ।
सर्वं हि संसारनिमित्तमाङ्गिनां
तदात्वमृष्टं क्षणिकं च दुःखदम् ॥२९॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं—न मैं यह इच्छा करता हूं कि मुझे राज्य की प्राप्ति हो, न विषयभोगादि सम्पत्ति की मुझे इच्छा है, न सुखकर स्वर्ग में रहने को जी चाहता है और न सुन्दरता तथा यौवन की मुझे चाहना है परन्तु यदि चाहना है अथवा अभिलाषा है तो केवल विचार जीवों को दुःख देनेवाला तथा क्षणिक यह सर्व संसार कारण नष्ट हो जाय ।

यद्दुर्लभं भवभृतां भवकाननेऽस्मि—
न्वम्भ्रम्यतां विविधदुःखमृगारिभीमे ।
रत्नत्रयं परमसौख्यविधायि तन्मे
हृद्यास्तु देव ! तव पादयुगप्रसादात् ॥३०॥

अर्थात—ग्रन्थकार जिनदेव से प्रार्थना करते हैं—हे करुणार्द्र-हृदय ! आपके पादसरोज की प्रसन्नता से—आधि, व्याधि, जन्म मरणादि शतसहस्र दुःखरूप भयंकर सिंहादि जन्तुओ से आकीर्ण इस दुष्प्रवेश संसार वनमें भ्रमण करते हुये संसारी जीवों को अत्यन्त दुर्लभ शिवसुखदायक, व्यवहार तथा निश्चय भेद स्वरूप रत्नत्रय की उपलब्धि हो ।

अज्ञानभावाद्यदि किञ्चिदूनं
प्ररूपितं काप्यधिकं च भाषे ।
सर्वज्ञवक्त्रोद्भविके हि तन्मे
क्षान्त्वा हृदब्जेऽधिवसेः सदा त्वम् ॥३१॥

हे नाथ ! आप के कहे हुवे से—यदि अपनी अज्ञानता से कुछ थोड़ा लिखा हो अथवा कहीं अधिक लिख दिया हो तो मुझे चरण कमल सेवी समझ कर क्षमा करके मेरे हृदय सरोज में निरन्तर निवास करो ! ! !

यावत्तिष्ठति भूतले जिनपतेः स्नानस्य पीठं गिरि-
स्त्वाऽऽकाशे शशिभानुविम्बमधरे कूर्म्मस्य पृष्ठे मही।
व्याख्यानेन च पाठनेन पठेनेनेदं सदा वर्त्ततां
तावच्च श्रवणेन चित्तनिलये सन्तिष्ठतां धीमताम् ॥३२॥

अर्थात्—इस वसुन्धरा वलय में जवतक जिन भगवान के जन्माभिषव का निकेतन सुमेरुगिरि विराजमान रहैं, जवतक विशाल गगनमण्ड में चन्द्रमा तथा सूर्य का विम्ब अपने प्रकाश को चमकाते रहैं तथा जवतक इस मध्यलोक में कच्छप के पीठ पर यह वसुधा रहै तवतक यह हमारा धर्मसंग्रह ग्रन्थ व्याख्यान के देने से, दूसरों को अभ्यास कराने से, स्वयं अभ्यास करने से तथा सुनने से बुद्धिमानों के हृदयस्थान में निरन्तर बना रहै।

भूयासुश्चरणा जिनस्य शरणं तद्दर्शने मे रति-
र्भूयाज्जन्मानि जन्मनि प्रियतमासङ्गादिमुक्ते गुरौ।
सद्भक्तिस्तपसश्च शक्तिरतुला द्वेधाऽपि मुक्तिप्रदा
ग्रन्थस्याऽस्य फलेन किञ्चिदपरं याचे न योगैस्त्रिभिः॥३३॥

अर्थात्—ग्रन्थकार ग्रन्थ वनाने के उपलक्ष में जिन भगवान से विनय पूर्वक याचना करते हैं—हे दयापारावार ! इस धर्मसंग्रह ग्रन्थ के फल के उपलक्ष में आप से प्रार्थना करता हूं कि—आप के चरण कमलों का मुझे आश्रय मिले ! उनके दर्शनों मे दिनोंदिन गाढ उत्कण्ठा हो ! जीवन जीवन में—अङ्गनाओं के सङ्गविरहित मुनिराजों के चरणों में पवित्र भक्ति हो ! तथा शिव सुख के देनेवाली शक्ति तपश्चरण के साधन करने के लिये हो ! वस यही याचना करता हूं इससे दूसरी प्रार्थना मन वचन काय से नही करना है।

व्याख्याति वाचयति शास्त्रमिदं शृणोति
विद्वांश्च यः पठति पाठयतेऽनुरागात्।
अन्येन लेखयाति वा लिखति प्रदत्ते
स स्याल्लघु श्रुतधरश्च सहस्रकीर्त्तिः ॥३४॥

अर्थात्—जो विद्वान-इस धर्मसंग्रह ग्रन्थ को-व्याख्यान करते

हैं बाँचते हैं श्रवण करते हैं स्वयं पढते हैं अथवा प्रेमपूर्वक दूसरों को पढाते हैं दूसरों से लिखवाते हैं वा स्वयं लिखते हैं तथा शास्त्रदान करते है वे धर्मात्मा पुरुष थोड़ेही समय में शीघ्र जैनशास्त्र के जानने वाले होकर संसार में सुयश के अनुभोक्ता होते हैं।

शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा
शान्तिः सुप्रजसां तपोभरभृतां शान्तिर्मुनीनां मुदा।
श्रोतॄणां कविताकृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः
शान्तिः शान्तिरघाग्निजीवनमुचः श्रीसज्जनस्याऽपि च।२५॥

अर्थात—ग्रन्थकार संसारकी कुशलता के लिये जिनभगवान से प्रार्थना करते हैं—जिनधर्म के लिये शान्ति हो, पृथ्वी का रक्षण करने वाले राजालोगों के लिये शान्ति हो, प्रजामें शान्ति हो, अनेक प्रकार दुष्कर तपश्चरण करने वाले साधु महात्माओं के लिये शान्ति हो, ग्रन्थ के सुनने वाले तथा कविता रचने वाले सुकवियों के लिये शान्ति हो, जैन शास्त्रो के व्याख्यान करने वालो के लिये शान्ति हो, पाप, वह्नि तथा मेघकी शान्ति हो, और सज्जन पुरुषो के लिये भी शान्ति हो यही हमारी आन्तरंगिक अभिलाषा है।

यः कल्याणपरम्परां प्रकुरुते यं सेवते सत्तमा
येन स्यात्सुखकीर्तिजीवितमुरु स्वस्त्यत्र यस्मै सदा।
यस्मान्नास्त्यपरः सुहृत्तनुमतां यस्य प्रसादाच्छ्रिय-
स्तं धर्मादिकसङ्ग्रहं श्रयत भो यस्मिञ्जनो वल्लभः॥२६॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते है—जो उत्तरोत्तर अधिक कल्याण (सुख) करने वाला है, जिसे अच्छे २ सत्पुरुष सदैव सेवन करते हैं, जिससे सुख, कीर्ति तथा जीवित वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जिसके लिये सदैव स्वस्ति (मङ्गल) है, जिसे छोड़कर दूसरा जीवो का कोई अनुपम मित्र नहीं है, जिसके अनुग्रह,से लक्ष्मी प्राप्त होती है, तथा जिसमें लोक प्रेम पात्र होता है उसी धर्मसंग्रह ग्रन्थका आपलोग आश्रय करैं। इस श्लोकमें यह बात विलक्षण है जो क्रमसे सातो विभक्तियां का समावेश किया गया है।

कूपान्निष्काश्य पातुं भवति हि सलिलं दुष्करं यस्य कस्य
केनाप्यन्येन नूत्नोत्कुटनिहितमहो अन्यथा वा तदेव।

तद्वत्पूर्वप्रणीतात्कठिनविवरणाज्ज्ञातुमर्थोऽत्र शक्यः
कैश्चिज्जातप्रबोधैस्तदितरसुगमो ग्रन्थ ऐष न्यधायि ॥३७॥

अर्थात्—जिसप्रकार—प्रत्येक साधारण मनुष्य को—कूवे से जल निकाल कर पीना कठिन है तथा दूसरे पुरुषों के द्वारा कलश में भरे हुवे जल का पीना उतना दुष्कर नहीं होता । उसीप्रकार प्राचीन २ महर्षियों के निर्माण किये हुवे कठिन २ प्रकरणों से—जो बुद्धिमान लोग हैं वेही अर्थ की अवधारणा कर सकते हैं । इसलिये उन कठिन विषयों से सरल यह ग्रन्थ मैंने रचा है । जिसे साधारण बुद्धि वाले भी समझ सकेंगे ।

धर्मसङ्ग्रहमिमं निशम्य यो
धर्ममार्गमवगम्य चेतनः ।
धर्मसङ्ग्रहमलं करोत्यसौ
सिद्धिसौख्यमुपयाति शाश्वतम् ॥३८॥

अर्थात्—जो बुद्धिमान इस धर्मसंग्रह उपासकाचार को श्रवण करके और धर्म के मार्ग को ठीक २ समझ कर अत्यन्त धर्मसंग्रह करता है वह भव्यात्मा नियम से सिद्धि तथा सुख को प्राप्त होता है ।

धर्मतः सकलमङ्गलावली
रोदसीपतिविभूतिमान्वली ।
स्यादनन्तगुणभाक्च केवली
धर्मसङ्ग्रहमतः क्रियात्सुधीः ॥३९॥

अर्थात्—धर्म के प्रसाद से सर्वमङ्गल होता है, इन्द्र की सम्पत्ति का अनुभोक्ता होता है संसार में अद्वितीय वल (शक्ति) का धारक होता है तथा अन्त में अनन्त चतुष्टय का धारी केवली (अर्हन्त) पद का भोगने वाला होता है इसलिये बुद्धिमानो को धर्म का सञ्चय अवश्य करना चाहिये ।

सुधीः क्रियाद्यत्नममुष्य रक्षणे
तत्लानलाम्भःपहरस्तयोगतः ।

जानन्कविश्रान्तिमथ प्रवर्त्तने
भूयात्समुत्कश्च परोपकृद्यतः ॥४०॥

अर्थात्—ग्रन्थकार कहते हैं-कविलोगों के परिश्रम को जानने वाले बुद्धिमान पुरुषों को—इस धर्मसंग्रह पुस्तक का — तैल, अग्नि, जल तथा दूसरों के हाथ में देने आदि से सदैव रक्षण करते रहना चाहिये। तथा यह परोपकारी है इसलिये इसके प्रचार करने में भी उत्कण्ठित रहना चाहिये।

चतुर्दशशतान्यस्य चत्वारिंशोत्तराणि वै।
सर्वं प्रमाणमावेद्यं लेखकेन त्वसंशयम् ॥४१॥

अर्थात्—ग्रन्थकार का कहना है कि—लेखक लोगों को—इस धर्मसंग्रह ग्रन्थ की सम्पूर्ण श्लोक संख्या सन्देह रहित १४४० बतानी चाहिये।

॥ इत्येतद्ग्रन्थकविसम्बन्धसंसूचिका चूलिका समाप्ता ॥

शुद्धाशुद्धिपत्र ।
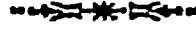
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३	८	कलङ्कस्या	कलङ्कस्याऽशरीरस्य—
,,	९	अवस्थान्तर	अवस्थान्तरं
४	२३	भक्ति	भक्ति है
,,	२४	दो प्रकार का	दो प्रकार
,,	,,	में	मैं
५	२८	दूर्जनों	दुर्जनों
६	८	प्रधान तया	प्रधानतया
७	८	वृत्ति	वृत्ति (चारित्र)
८	१५	करने को	करने की
,,	२०	सुखकरम्	सुखाकरंम्
,,	?२	और	ओर
,,	२८	प्राकार से	प्राकार
९	२	शोभित है	शोभित हैं
,,	२०	दानानि	दानानि च
१०	१३	चेत्यालय	चैत्यालय
,,	१६	पालिकाः	पालिका
११	८	मत्रं	मन्त्रं
,,	१३	उपयोग	उपभोग
१२	८	हास्य	हस्य
,,	१८	गुरूः	गुरुः
१३	१०	सम्यक्तं	सम्यक्त्वं
,,	१३	सम्यस्त्व	सम्यक्त्व
,,	२६	नर	नरः
१६	१४	होता	———
,,	१६	सस्थितं	संस्थितं
,,	,,	चल	चञ्चल
,,	१९	दृष्ट्वा	दत्वा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१९	२	निवासना	निवासिना
"	९	रुढः	रूढः
"	१७	रत्न की	अपनी
"	१८	उसीतरह	उसीतरह रत्नों की ध्वजाओं से-
२०	१	सुन्न्दर	सुन्दर
२२	७	आगमन के	आगमन
"	२२	भट्ट-	भट्टैः
२४	१८	गर्जित	गर्जन
२५	१६	वाली	वाली तथा नीचे गिरने वाली
२६	१०	होते हुवे	हुवे
"	२३	मानस्तम्भों	मानस्तम्भादि
२८	१२	माननो द्धोर्द्ध	मानेनोर्द्धोर्द्ध
"	१४	वे सब	वे सब ऊपर २
"	१७	तदार्द्धोर्द्ध	तदर्द्धोर्द्ध
३०	३	अम्नाथा	त्र्यम्नाथा
३२	१४	सप्रति	सप्तति
३३	१२	परिजात	पारिजात
"	२८	बन रहे	बने हुवे
३४	४	गान	गाने
"	११	भावार्थ	भावार्थ—निर्मलस्फटिक
"	२४	मा णिक्य	माणिक्य
			मणिमय प्राकार के अन्त में
३५	१६	भृङ्गारा	भृङ्गारा
"	२१	"	"
३६	४	गुण	गुणश्रेणी
"	१७	क्रमान्यूना	क्रमान्न्यूना
"	२७	और	ओर
३७	२	रत्नों से	रत्नों से तथा घण्टादि से
"	११	के	को
४१	२	द्रुमो	द्रुमो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४१	९	चतुर्तिश	चतुर्विश
,,	२२	दस	दश
४२	५	जिनगृहों	जिन
,,	१४	प्रसादा	प्रासादा
४३	१	प्रकार	प्राकार
,,	५	मूर्द्ध	मूर्द्ध
,,	९	चतुह्रदा	चतुर्ह्रदा
,,	१९	वेजयन्ती	वैजयन्ती
४४	१९	तद्विगुणा	तद्द्विगुणा
४५	१५	मपाच्यां	मवाच्यां
४६	८	कुंभाण्द	कुम्भाण्द
४७	१३	मुहु	मुंहु
,,	१५	मुंहु	,,
४८	११	भवेन	भावेन
५०	१८	भगन	भवन
,,	२२	उस	उस नाट्यशाली की
५१	१३	पृथक	पृथक्
,,	१६	श्रीदय	श्रीद (धनपति)
५२	१५	दन्त्योः	दन्त्ययोः
५३	१	द्वयून	द्व्यून
५३	५	चतुर्विशति	चतुर्विशति ?
,,	१४	कहनेका है	है
५४	४	सीढ़ियें ।	सीढ़ियें
,,	२१	के जलको, वनों	में से जल तथा वन
५६	१३	पाठ	पीठ
,,	१५	की वसुन्धराकी पृथ्वी	वसुन्धरा की वीथी
,,	१८	मारुढ	मारूढ
,,	२२	को	की
५७	१४	वृक्षों के	वृक्ष
५८	१४	कोट	कोटि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
५९	११	दुदुभिम्ते	दुंदुभिस्ते
,,	२२	तुम्हारा सुवर्ण की कान्ति के समान	तथा सुवर्ण की कान्ति के समान तुम्हारा यह
६०	३	मीदृग	मीदृग्
,,	२६	में	मे
६१	१४	तरङ्गै	तरङ्गैः
६२	१३	और	ओर
६९	२०	सचित्र	सचित्त
७०	५	प्रकारान्त	प्रकारान्तर
७१	५	मिथ्यात्त्व	मिथ्यात्वं
७३	१५	नाति	जाति
,,	१७	सम्यग्दष्टि	सम्यग्दृष्टि
,,	२०	षष्णां	षण्णां
७६	१६	सज्ञक	संज्ञकः
८१	२३	निर्वेदो	निर्वेदोऽ
८२	५	सम्यग्दृष्टि	व्रताभिलाषा में प्रयत्नशील सम्यग्दृष्टि
,,	१०	जान	जानेजा
८३	२	जिस जीव	जिन जीवों
८४	१९	पदं काक्षी	पदकाक्षी
८५	९	करने की	करने को निष्ठा कहते हैं और जो साधक होने की उत्कण्ठा से
८९	१५	नरके	नरकं
९१	८	त्रिधा	त्त्रिधा
९२	८	खावें	खावेंगे
९३	१	पित्ता	पिता
९५	८	चाक्षि	चाक्षिण
९६	६	निर्वृतितः	निर्वृत्तितः
,,	२३	सौख्य	सौख्य
९७	२	यूत्वे	त्यूवे
९८	२०	तपोवन	तपोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
९९	४	वया	त्वया
,,	८	मोत्रण	मात्रेण
,,	११	वटकेवृक्ष	वटवृक्ष
,,	१२	देखा	देखी
१०१	१	और	और (बाकी)
,,	२५	व्रत्तम्	व्रतम्
१०३	१२	इस	उस
,,	१४	रुपेण	रूपेण
१०४	१५	बालक	हस्ति बालक
,,	१८	भीत्त्या	भीत्या
१०६	३	सुषेण	मित्र—
१०७	५	तज्ञीः	तद्वीः
,,	७	सुषेण	मित्र
१०८	७	त्व	त्वं
१०८	२६	सुनि	सुनी
१०९	८	निराश्रव	निरास्रव
,,	९	हे नरेश्वर !	हे नरेश्वर ! तेरे प्रसाद से
,,	२१	इसकारण	इसकारण भोजनार्थ मेरे
११०	१	भावाथ	भावार्थ
,,	६	राजा से	राजा को
,,	,,	कराकर	करके
११३	१८	इन्द्ध	इन्द्र
११५	१७	हुआ है	होगा
१२०	११	परम्परा	के उपदेश
१२४	१५	छोडनी	छोडना
१३१	१२-१३	घृत्तिका	घृत्तिको
१३२	१९	विच्छेदन	विच्छेदनं
१३६	२९	योली-यदि	योली
१४६	११	वर्जर्न	वर्जन
१४७	९	उद्देश	उद्देश्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१४७	१५	द्वेषका	द्वेषको
१४९	१	नह्रा	नग्न
१५५	१५	वाणिज्य	वाणिज्यं
१५६	९	इसलिये उन	उन
१५८	१८	दिद्वद्वर्य्ये	विद्वद्वर्य्ये
१६०	२३	जावै	जावैं
१६४	१६	बन्दना	वन्दना (सामायक)
"	२६	"	"
१६५	१५	कहा	कही
"	२५	"	"
१६६	२३	आत्मा के मोक्ष का	आत्मा को मोक्ष में
१६९	११	परहो	परही
१७२	२२	सस्तराः	संस्तराः
"	२७	संत्सर्ग	संस्तर
१८०	५	कार्यमल	कायमल
"	२४	स्वर्ग	मोक्ष
१८१	१२।१३	थोड़ा भी	थोड़ा भी व्यय (दान)
१८२	२१	विमागो	विभागो
१८४	१	रुप	रूप
"	६	अतिभि	अतिथि
१८८	२०।२१	सप्तक रुप	(अभ्यास) रूप
"	२२	सप्तक रुप	(अभ्यास) रूप
१८९	१	प्रतिमा	(सोला प्रहर पर्यन्त)
१९२	४	वशिनो	वशिना
१९९	२३	क्रियाओं के	क्रियाओं को
२००	१३	चाहिये	चाहिये। वस्त्रादिकी पिच्छी रखना चाहिये
"	२२	प्रधमः	प्रथमः
"	२३	सितकोयीन	सितकोपीन
२०२	२३	कुयाद्विशेषतः	कुर्याद्विशेषत-
२०५	२७।२८	अधिक २	अधिक २ रागादिकों का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२०६	९	रालाच्ये	रालोच्य
२०७	१७	लच्छुर्द्धि	तच्छुद्धि
२०८	२२	देखकर	देखकर तथा
२११	७	रुपेण	रूपेण
२१३	१९	फल	पूजाफल
२१७	२०	करने का	करने को
२१९	१९	सकलोकरण	सकलीकरण
२२०	३	चेत्यालय	चैत्यालय
"	४	भक्ति	युक्ति
२२५	८	शीवाम्बुराशौ	शिवाम्बुराशौ
२२७	१६	साकाररस्तुनि	साकारवस्तुनि
२३१	१२	जैनेन्द्रेशासने	जैनेन्द्रशासने
२३६	२१	सुरात्तम	सुरोत्तम
२३७	१	काऽहं	कोऽहं
२४५	१४	द्वयवर्जितः	द्वयविवर्जितः
२४६	१६	अघार	आधार
२४९	५	कानिरन्तर	निरन्तर
२५०	१८	कैरणस्त्रिभिः	करणैस्त्रिभिः
२५२	१८	वाञ्छाता	वाञ्छता
२५५	१४	प्रजायेतं	प्रजायेत
२५७	११	रेकाग्न्यं	रेकाग्र्यं
"	१२	पुरुषमी	पुरुष
२५८	१५	क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र	बाह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य
२५९	४	खड्गेन	खङ्गेन
"	"	षड्गाग	षड्भाग
२६१	१७	स्पृजाति	स्पृश्यजाति
२६२	१९	दैवं	देवं
२६३	६	सोञ्जगद्गुरु	सोज्जगद्गुरुः
"	२३	एकदेश व्रतादि	देश तथा अवयव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२६७	२१	अर्थात्—	अर्थात्-पतिको
२७०	१९	परमर्षिजगद्वेत्ति	परमार्षिर्जगद्वेत्ति
२७४	२३	सम्यदृष्टि	सम्यग्दृष्टि
२७६	२	क्रोधद्युद्रेकतः	क्रोधाद्युद्रेकतः
२७७	१७	अहार	आहार
,,	२३	विराद्धेश्च	विराद्धश्चे
२७९	२६	उस	उसे
२८०	९	सम्यग्दर्शनादि	आराधना औं
२८४	७	साम्यन्ति	क्षाम्यन्ति
२९१	१२	गणतिगाम्	गणातिगाम्
२९२	१	रुजाद्येपक्षया	रुजाद्यपेक्षया
२९७	९९ वें मां श्लोक रह गया है		

हित्वा बोधिं समाधिं च राज्यभोग्यादिसम्पदाम् ।
मध्ये नो दुर्लभं किंचित्पुरा बंभ्रमतो मम ९९ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२९८	१९	स्वरुप	स्वरूप
,,	२४	रुप	रूप
२९९	१७	स्वरुप	स्वरूप
,,	२१	,,	,,
३०३	२४	तत्स्मृत	तत्स्मृतं
,,	२७	रुप	रूप
,,	२८	गौणरुप	गौणरूप
३०९	१६	चुरास्तां	चुरांस्तान्
३१०	१२	जगत्त्रये	जगत्त्रये
३१३	१६	विन्यसः	विन्यासः
,,	,,	स्वस्वरुपे	स्वस्वरूपे
३१४	२४	सावत्	तावत्
३१५	२०	लोहश्रृङ्खला	लोहश्रृङ्खलाः
३१७	२	मुश्चाङ्ग	मुञ्चाङ्ग
३१९	१७	की	का
३२२	१५	रुप	रूप
३२३	८	लोकात्तमाः	लोकोत्तमा.
३२७	६	दीववत्	दीपवत्
,,	१७	अग्रोतकुल	अग्रोतकुल (अग्रवाल वंश)

कितने श्लोकों का अर्थ बुद्धि भ्रम से कुछ अशुद्ध हो गया है उनका ठीक अर्थ नीचे लिखे अनुसार करना चाहिये।

८९ वें पृष्ठ में २४ वें श्लोक का अर्थ यों समझिये—

मदिरा पीने वाला मनुष्य क्रोधी होकर सज्जन पुरुषों को, अपने पुत्र पुत्रादिकों तथा बन्धु लोगों को दुश्मन की तरह मारता है और घर के बर्तनों को लकड़ी से फोड़ने लगता है।

११२ वें पृष्ठ में १२२ वें श्लोक का अर्थ यों है—

बहुत फल के देनेवाले तप को करके जो सुषेण मुनि ने निदान किया समझो कि उस दुर्बुद्धि ने तुष के टुकड़े को लेकर रत्न बेंच दिया।

१५० वें पृष्ठ में ७४ वें श्लोक का अर्थ यों है—

धन धान्यादि बाह्य वस्तुओं को देश काल आत्मा तथा जाति की आदि की अपेक्षा से आजन्म पर्यन्त अपनी इच्छा के अनुसार प्रमाण करना चाहिये। और फिर उस प्रमाण को भी समय २ पर घटाते रहना चाहिये।

१६६ वें पृष्ठ में ५२ वें श्लोक का अर्थ यों है—

सामायिक में स्तुति, नमस्कार, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, समता ये छह आवश्यक होते हैं।

२५८ वें पृष्ठ में २२७ वें श्लोक का अर्थ यों है—

जो क्षत्रिय तथा ब्राह्मणादि अपने २ कर्म में लगे रहते हैं उन्हें जातिक्षत्रिय तथा जातिब्राह्मणादि कहते हैं और जो आजीविकाके अर्थ मन्त्री आदि पद में आरूढ हैं वे तीर्थक्षत्रिय तथा तीर्थब्राह्मणादि कहे जाते हैं।

शुद्धाशुद्धि पत्र की शुद्धाशुद्धि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	२१-२२	माणिक्य	मणिमय प्राकार के अन्त में
		मणिमय प्राकार के अन्त में	माणिक्य
३	१७	नाट्यशाली	नाट्यशाला
,,	२१	चतुर्विंशाति ?	चतुर्विंशति

प्रार्थना

जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वानों ! इस समय मेरी विल्कुल वालबुद्धि है। इसी से जैनधर्म के रहस्य से मैं विल्कुल अपरिचित हूँ और यह भाषानुवाद भी मेरा प्रारंभिक कार्य है। इसलिये उपर्युक्त श्लोको के अनुसार और भी कितनी जगह उल्टा अर्थ हुआ होगा। इसलिये मुझे वालक समझ उपहास का पात्र न वनावें।

किन्तु—

अनुगृह्णन्ति सज्जनाः

इस उक्ति के अनुसार क्षमाप्रदान कर भूल की सूचना देंगे जिस से आगामी खयाल रहे। यही विनम्र होकर प्रार्थना करता हूँ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः